महाकवि पुष्पदन्त

[१०वीं शती का एक अपभ्रंश-कवि]

डॉ० राजनारायण पाण्डेय,

चिन्मय प्रकाशन

चौड़ा रास्ता, जयपुर-३

समर्पण
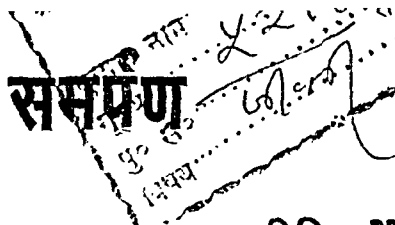
"माणभंगु वर मरणु ण जीविउ"

का प्रेरणादायक घोष

करने वाले

जन-मन-तिमिरोत्सारक,

सर्वजीव-निष्कारण मित्र,

कवि-कुल-तिलक, अभिमान-मेरु

महाकवि पुष्पदन्त

को—

जिनकी काव्य-प्रतिभा ने अपभ्रंश

साहित्य को अमरत्व

प्रदान किया।

भूमिका

छान्दस् युग से लेकर वर्त्तमान समय तक भारतीय आर्य भाषा परम्परा के अन्तर्गत प्राचीन तथा आधुनिक भाषाओं को मिलाने वाली कड़ी के रूप में अपभ्रंश का बड़ा महत्त्व है। वस्तुतः ६ ठी शताब्दी से १२-१३ वीं शताब्दी तक, गुजरात से बंगाल तक तथा कश्मीर से आन्ध्र तक-सम्पूर्ण भू-भाग की साहित्यिक भाषा अपभ्रंश ही रही है। इस काल में जैन तथा बौद्ध—दोनों धर्मों के अनुयायी कवियों ने काव्य-रचना की है। सामान्य रूप से पूर्व में बौद्ध सिद्धों की तथा दक्षिणी-पश्चिमी प्रदेशों में जैन कवियों की रचनाएँ उपलब्ध होती हैं। सिद्धों का साहित्य इधर-उधर बिखरा हुआ है, पर जैनों की रचनाएँ उनके मठों—भण्डारों में आज तक—सुरक्षित हैं। इनमें दोहाकोश-चर्यापद तथा स्वयं-भू, पुष्पदन्त, धनपाल आदि की कतिपय काव्य-कृतियाँ प्रकाशित भी हो चुकी हैं; फिर भी अधिकांशअपभ्रंश साहित्य अभी तक अप्रकाशित ही है।

अपभ्रंश के अध्ययन का सूत्रपात सर्वप्रथम जर्मनी के कुछ विद्वानों ने किया था। इनमें रिचर्ड पिशेल तथा डॉ० हरमेन याकोवी उल्लेखनीय हैं। पिशेल ने अपने प्राकृत व्याकरण के परिशिष्ट के रूप में अपभ्रंश काव्य का एक संग्रह १९०२ ई० में प्रकाशित कराया था। डॉ० याकोवी ने ११-१२वीं शताब्दी के कवि धनपाल रचित 'भविसयत्त कहा' १९१८ ई० में प्रकाशित किया। इन ग्रन्थों के प्रकाशन से प्रेरणा लेकर श्री चमनलाल डाह्याभाई दलाल तथा डॉ० पाण्डुरंग गुणे ने १९२३ ई० में कुछ अन्य पाण्डुलिपियों के आधार पर 'भविसयत्त कहा' का एक भारतीय संस्करण प्रकाशित कराया।

इसके पश्चात् अन्य भारतीय विद्वान् भी अपभ्रंश के अध्ययन की ओर प्रवृत्त हुए। इनमें डॉ० परशुराम लक्ष्मण वैद्य, मुनि जिनविजय जी, डॉ० हरिवल्लभ चुन्नीलाल भायाणी, डॉ० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये, डॉ० जी० वी० तगारे, डॉ० हीरालाल जैन आदि प्रमुख हैं। हिन्दी में अपभ्रंश भाषा तथा साहित्य पर लिखने वालों में श्री नाथूराम प्रेमी, श्री राहुल सांस्कृत्यायन, डॉ० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी एवं डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी उल्लेखनीय हैं।

यह निर्विवाद है कि हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का प्रचुर योग-दान रहा है। हिन्दी में संस्कृत की जो निधि लक्षित होती है, उसका अधिकांश अपभ्रंश के ही माध्यम से प्राप्त हुआ है। अपभ्रंश की संधि-कड़वक शैली पद्मावत तथा रामचरित-मानस में अपनाई गयी तथा उसका पद्धड़िया छन्द चौपाई के रूप में व्यवहृत हुआ। दूहा अथवा दोहा तो अपभ्रंश तथा हिन्दी में समान रूप से लोक-प्रिय बना। संस्कृत के नपुंसक लिंग का लोप अपभ्रंश-काल में ही होने लगा था, हिन्दी तक आते-आते

उसका अस्तित्व ही समाप्त हो गया। इसके विपरीत प्रादेशिक भाषाओं में वह आज तक वर्त्तमान है। इस दृष्टि से अपभ्रंश तथा हिन्दी का अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध प्रमाणित होता है। हिन्दी के आदिकालीन काव्यों—पृथ्वीराज रासो तथा कीर्तिलता आदि पर अपभ्रंश का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है।

भाषा आदि की कठिनाइयों के कारण हिन्दी के विद्वानों की अभिरुचि अपभ्रंश साहित्य के अध्ययन की ओर अपेक्षाकृत बहुत ही कम रही है, परन्तु हिन्दी के राष्ट्रभाषा के रूप में प्रतिष्ठित होने के साथ ही इसकी अनिवार्यता निश्चय ही बढ़ गयी है। इस दृष्टि से अपने शोध-प्रबन्ध के लिये अपभ्रंश के मूर्धन्य कवि पुष्पदन्त का विषय लेकर शोधकर्त्ता ने सराहनीय कार्य किया है।

इस प्रबन्ध में संकलित सामग्री को विभिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत कुशलता के साथ सुनियोजित किया गया है। इसके साथ ही कई महत्त्वपूर्ण तथ्य भी प्रकाश में आए हैं। जैन अपभ्रंश साहित्य में कवित्रय—चतुर्मुख, स्वयं-भू तथा पुष्पदंत को सर्वत्र सम्मान दिया गया है। शोधकर्त्ता ने तर्क-सम्मत रूप से सरहपा की अपेक्षा चतुर्मुख को अपभ्रंश का प्रथम कवि मानकर, उन्हें अपभ्रंश का वाल्मीकि कहा है। इस सम्बन्ध में अभी और अधिक अनुसंधान की गुंजाइश बनी हुई है। सम्भव है, कालान्तर में चतुर्मुख की वे सुप्रसिद्ध रचनाएँ उपलब्ध हो जाएँ, जिनके कारण समस्त अपभ्रंश कवि वर्ग ने उनका आदरपूर्वक स्मरण किया है।

प्रबन्ध के पांचवें अध्याय में पुष्पदन्त के काव्य पर पौराणिक प्रभाव का अत्यन्त परिश्रम के साथ विवेचन किया गया है। भले ही जैन धर्म का प्रादुर्भाव ब्राह्मण-विरोधी आन्दोलन के रूप में हुआ हो, परन्तु उनके कवियों ने रामायण-महाभारत आदि के प्रभाव को मुक्त रूप से ग्रहण किया है।

नवें अध्याय में कवि के कला-पक्ष का विवेचन करते हुए अपभ्रंश छन्दों का महत्त्वपूर्ण विवरण प्रस्तुत किया गया है। इसके अतिरिक्त अन्य शीर्षकों के अन्तर्गत कवि की समसामयिक परिस्थितियाँ, उनका जीवन-वृत्त, भाव-पक्ष, वस्तु-वर्णन आदि विषयों का खोजपूर्ण एवं सुस्पष्ट विवेचन प्राप्त होता है।

हमें आशा है कि यह शोध-प्रबन्ध अपभ्रंश के सम्यक् अध्ययन में निश्चय ही सहायक होगा। मैं इसके लिये डॉ० राजनारायण पाण्डेय का साधुवाद करता हूँ।

—नगेन्द्र

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली—७
दिनांक ८ मई, १९६८ ई०

प्राक्कथन

हिन्दी जगत् को महाकवि पुष्पदन्त के जीवन तथा काव्य-कला का सर्वप्रथम परिचय १९२३ ई० में 'जैन साहित्य संशोधक' पत्रिका में प्रकाशित स्व० नाथूराम प्रेमी के एक लेख द्वारा हुआ था। इसके पश्चात् प्रेमी जी तथा प्रो० (अव डॉ०) हीरालाल जैन ने कारंजा (वरार) के जैन भण्डारों की खोज के परिणामस्वरूप अपभ्रंश के अन्य कवियों के साथ पुष्पदन्त की रचनाओं का भी परिचय प्राप्त किया। इनका विवरण १९२६ ई० में रायबहादुर हीरालाल द्वारा सम्पादित मध्य प्रदेश तथा वरार में खोज द्वारा प्राप्त पाण्डुलिपियों की सूची में प्रकाशित हुआ। इन्हीं विद्वानों से प्रेरणा लेकर डॉ० परशुराम लक्ष्मण वैद्य ने कारंजा के भण्डारों तथा भण्डारकर रिसर्च इंस्टीट्यूट से पुष्पदन्त के ग्रंथों की हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त कर १९३१ ई० में जसहर चरिउ (यशोधर चरित्र) तथा १९३७-१९४१ ई० के बीच कवि के विशाल ग्रन्थ महापुराण को अत्यन्त परिश्रम के साथ सम्पादित करके प्रकाशित किया। कवि के तृतीय ग्रन्थ णायकुमार चरिउ (नागकुमार चरित्र) का प्रकाशन १९३३ ई० में डॉ० हीरालाल जैन द्वारा हुआ। आगे चलकर अपभ्रंश के अन्य महाकवि स्वयं-भू के पउम चरिउ का प्रकाशन मुनि जिनविजय जी तथा डॉ० हरिवल्लभ चुन्नीलाल भायाणी के सत्प्रयत्नों द्वारा हुआ। १९३६ ई० में एल० ऑल्सडार्फ ने पुष्पदन्त के महापुराण की ८१ से ९२ तक की संधियों को रोमन अक्षरों में हरिवंशपुराण के नाम से हैम्बर्ग (जर्मनी) से प्रकाशित कराया।

अपभ्रंश ग्रन्थों के साथ ही कुछ विद्वानों ने भारतीय आर्य भाषाओं के अन्तर्गत हिन्दी के विकास का अध्ययन करते हुए, उस पर पड़े अपभ्रंश के प्रभाव की ओर भी संकेत किया है। इनमें पण्डित चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, डॉ० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, श्री राहुल सांकृत्यायन, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा डॉ० नामवरसिंह उल्लेखनीय हैं।

अध्ययन की प्रेरणा

प्रस्तुत शोध-प्रवन्ध आगरा विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ है। इसकी प्रेरणा सर्वप्रथम मुझे पूज्यवर दादा—कुंवर डॉ० चन्द्रप्रकाश सिंह (अधिष्ठाता, कला संकाय, जोधपुर विश्वविद्यालय) से प्राप्त हुई थी। यह वात अक्तूबर, १९५७ ई० की है। उस समय कुंवर जी ने महाकवि के असाधारण व्यक्तित्व तथा उनके विशाल काव्य का जो परिचय दिया था, उससे मैं अत्यधिक प्रभावित

हुआ। पश्चात् आदरणीय गुरुवर श्री अयोध्यानाथ शर्मा द्वारा उत्साहित होकर मैंने इस विषय पर कार्य करने का एक प्रकार से दृढ़ संकल्प कर लिया। यद्यपि उस समय अपभ्रंश से विशेष रूप से परिचित न होने के कारण भाषा-समस्या एक व्यवधान बनकर मेरे सम्मुख अवश्य उपस्थित हुई, परन्तु प्रोत्साहन तथा अध्यवसाय द्वारा मार्ग प्रशस्त होने में विशेष कठिनाई नहीं हुई।

प्रस्तुत अध्ययन का महत्त्व

सिद्धों के दोहा-कोष तथा चर्यापदों के अतिरिक्त हिन्दी में अपभ्रंश की मूल रचनाओं का प्रायः सर्वथा अभाव है। स्वयंभू, पुष्पदन्त, धनपाल, अब्दुल रहमान आदि कवियों की जो भी रचनाएँ सम्पादित हुई हैं, वे सबकी सब अंग्रेजी भूमिकाओं-टिप्पणियों के साथ अहिन्दी क्षेत्रों की हैं। इधर १०-१५ वर्षों में हिन्दी के कुछ अध्येताओं ने अपने शोध-प्रबंधों में अपभ्रंश भाषा एवं साहित्य का ऐतिहासिक विवेचन अवश्य किया है। इनमें डॉ० नामवर सिंह का 'हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग' तथा डॉ० हरिवंश कोछड़ का 'अपभ्रंश साहित्य' विशेष द्रष्टव्य हैं; परन्तु हिन्दी में अद्यावधि अपभ्रंश विषयक जो भी कार्य हुआ है, वह उसके विपुल साहित्य की दृष्टि से नगण्य ही कहा जाएगा। अतः हिन्दी साहित्य की अभिवृद्धि करने तथा हिन्दी-संसार को कबीर, सूर, तुलसी आदि कवियों की भांति स्वयंभू, पुष्पदन्त, अब्दुल रहमान जैसे कवियों से परिचित कराने के लिये उनकी मूल रचनाओं तथा उनके जीवन एवं काव्य-कला सम्बन्धी समीक्षात्मक ग्रन्थों का प्रणयन आवश्यक है। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध इस अभाव की आंशिक पूर्ति करने का प्रयास मात्र है और यही उसका महत्त्व भी है।

प्रबन्ध की रूपरेखा

समस्त शोध-सामग्री विभिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत १० अध्याय में विभाजित की गई है। इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

विषय-प्रवेश के रूप में प्रथम अध्याय में अपभ्रंश परम्परा का विवेचन है। इसमें अपभ्रंश विषयक प्रारम्भिक उल्लेखों से लेकर उसकी विभिन्न संज्ञाएँ, भाषा की सामान्य विशेषताएँ एवं अपभ्रंश साहित्य के क्षेत्र तथा उसके विकास की रूपरेखा प्रस्तुत की गई हैं।

दूसरे अध्याय में कवि की समसामयिक परिस्थितियों का अध्ययन किया गया है। तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति के वर्णन में विशेष रूप से १०वीं शताब्दी के भारत की दशा एवं राष्ट्रकूट तथा परमार राजाओं के प्रभाव का दिग्दर्शन कराने की चेष्टा की गयी है। सामाजिक तथा सांस्कृतिक परिस्थिति में उस समय के रीति-रिवाजों, वेश-भूषा, सामान्य विश्वास, नारी का स्थान आदि का विवेचन है। इसी

प्रकार आर्थिक, धार्मिक तथा साहित्यिक परिस्थितियों को भी स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। कवि के ग्रन्थों से उपलब्ध तथ्य भी यथास्थान सम्मिलित कर दिए गए हैं।

तीसरे अध्याय का सम्बन्ध कवि के जीवन-वृत्त से है। इसमें अन्तर्साक्ष्य के आधार पर कवि के विभिन्न नाम, माता-पिता, जीवन के अभाव आदि का परिचय प्रस्तुत किया है। चौथे अध्याय में कवि की रचनाओं का सामान्य परिचय देते हुए, उनकी रचना-शैली तथा वर्ण्य-विषय का संक्षिप्त सार प्रस्तुत किया गया है।

कवि की रचनाओं पर पुराणों का अत्यधिक प्रभाव है। प्रबन्ध के पांचवें अध्याय में उस प्रभाव के विभिन्न रूपों का परीक्षण किया गया है।

प्रबन्ध के छठे अध्याय का उद्देश्य जैन धर्म तथा कवि के काव्य में उसके स्वरूप का परिचय देना है। इसमें जैन धर्म की प्राचीनता, उसका विकास एवं भारत में उसके प्रचार का विवरण है। कवि के काव्य में प्राप्त जैन दर्शन तथा उसके द्वारा किए गए अन्य मतों के खण्डन का विवेचन भी इसी में है।

सातवाँ अध्याय कवि के वस्तु-वर्णन का परिचय कराता है। इसमें प्रकृति, युद्ध, देश-नगर, विलाप आदि विभिन्न वर्णनों को उद्धरण देते हुए स्पष्ट किया गया है।

आठवाँ अध्याय कवि की भाव-व्यंजना के सम्बन्ध में है। इसमें शान्त के रस-राजत्व के साथ कवि द्वारा प्रस्तुत अन्य रसों का विश्लेषण है। नवें अध्याय में कवि के अलंकार-विधान, लोकोक्तियाँ, मुहावरे, उक्ति-वैचित्र्य, छन्द-योजना तथा भाषा सम्बन्धी विशेषताओं का विवेचन है।

प्रबन्ध के दसवें तथा अन्तिम अध्याय में पुष्पदंत के साथ अपभ्रंश के कुछ प्रमुख जैन कवियों का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। इनमें कवि के पूर्व तथा परवर्ती दोनों ही प्रकार के कवि हैं। परवर्ती कवियों पर पुष्पदन्त के प्रभाव को, परस्पर साम्य रखने वाले काव्यांशों को प्रस्तुत करते हुए स्पष्ट किया गया है। कवि के प्रधान ग्रन्थ महापुराण में ६३ महापुरुषों का चरित्रांकन है। इसके अतिरिक्त प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में भी यत्र-तत्र उनके उल्लेख आए हैं, अतः सुविधा की दृष्टि से परिशिष्ट में उनकी तालिका दे दी गई है।

कृतज्ञता-ज्ञापन

शोध-प्रबन्ध की विषय-सामग्री का संकलन करने में महाराज सयाजी विश्व-विद्यालय, बड़ौदा के प्राच्य विद्या-विभाग से मुझे सर्वाधिक सहायता प्राप्त हुई, जिसके लिए मैं उसके निदेशक डॉ० बी० जे० सांडेसरा का अत्यन्त आभारी हूँ। लखनऊ तथा

सागर विश्वविद्यालयों के ग्रन्थागारों से भी मैंने समय-समय पर लाभ उठाया है। जैन धर्म सम्बन्धी अनेक बातों का परिचय प्राप्त करने के लिए मुझे अजमेर तथा आबू के मंदिरों में जाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। वहाँ के मुनियों-विद्वानों ने कृपापूर्वक विविध तथ्यों से अवगत कराया। अहमदाबाद के प्रज्ञाचक्षु श्री सुखलाल सिंघवी तथा बड़ौदा के श्री लालचन्द भगवानदास गांधी के सत्परामर्शों से भी मैं लाभान्वित हुआ हूँ। इसके अतिरिक्त प्रबन्ध के प्रणयन में मुझे कतिपय अन्य अधिकारी विद्वानों से प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से अनेक प्रकार की सहायता एवं सम्मति-सुझाव प्राप्त हुए हैं। इनमें श्री अयोध्यानाथ शर्मा, श्री नाथूराम प्रेमी, श्री राहुल सांकृत्यायन, डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, डॉ० ए० एम० घाटगे, श्री अगरचन्द नाहटा तथा डॉ० हरिवंश कोछड़ प्रमुख हैं। इन सभी महानुभावों के प्रति हार्दिक आभार प्रकट करना मैं अपना कर्त्तव्य समझता हूँ। साथ ही इन्दुजी के प्रति भी मैं उपकृत हूँ, जिनके सतत् सहयोग से लेखन-कार्य सम्पन्न हो सका। संकलित सामग्री को व्यवस्थित करने तथा टिप्पणियां-अनुक्रमणिका आदि तैयार करने में श्री राकेश, एम० कॉम०; सुश्री शशि, एम० ए०; कु० मधुलिका, चि० प्रकाश तथा चि० विनोद ने मुझे सराहनीय सहयोग दिया है।

अन्त में मैं अपने प्रेरणा-स्रोत आदरणीय दादा-कुंवर डॉ० चन्द्र प्रकाशसिंह जी का पुनः उल्लेख करना आवश्यक समझता हूँ, जिनके पाण्डित्यपूर्ण संदर्शन तथा सौहार्दपूर्ण सम्मति-सुझावों द्वारा यह प्रबन्ध-लेखन सम्भव हो सका। इस सम्बन्ध में लखीमपुर, बड़ौदा तथा उनके ग्राम पैंसिया (जिला सीतापुर) आदि स्थानों में महीनों मुझे उनके निकट वास करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इस काल में अपनी अत्यधिक व्यस्तता की अपेक्षा वे सदा स्नेहपूर्वक मेरी पाण्डुलिपियों को देखते अथवा सुनते एवं आवश्यक निर्देशादि देते रहते। उनके सान्निध्य में मुझे जिस पारिवारिक स्नेह का परिचय मिला, उसे विस्मरण नहीं किया जा सकता। साथ ही मैं श्रद्धेय डॉ० नगेन्द्र जी के प्रति भी परम कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने अनुग्रहपूर्वक इस ग्रंथ की भूमिका लिखने की कृपा की है। ग्रंथ के मुद्रण तथा प्रकाशन के लिए मैं आगरा अखबार प्रेस के मुद्रक श्री ख्वाजा लियाकत हुसैन एवं चिन्मय प्रकाशन, जयपुर के संचालक श्री ताराचन्द वर्मा को धन्यवाद देता हूँ। अपभ्रंश भाषा की कठिनाई के कारण प्रूफ-सम्बन्धी कतिपय भूलों को, आशा है, विज्ञ पाठक क्षमा करेंगे।

कटक : उत्कल प्रदेश
महाशिवरात्रि,
संवत् २०२४ वि०

—राजनारायण पाण्डेय

विषय-सूची

अध्याय : ४

अध्याय : ५

अध्याय : ६

संकेत-लिपि

★

अप०	—	अपभ्रंश
मपु०	—	महापुराण
णाय०	—	णायकुमार चरिउ
जस०	—	जसहर चरिउ

१ | महाकवि पुष्पदन्त

अपभ्रंश-परंपरा की पृष्ठभूमि—

संस्कृत—भारतीय साहित्य का आदि रूप हमें वैदिक साहित्य (२००० वि० पू० से १००० वि० पू०) में प्राप्त होता है, जिसके अन्तर्गत वेदों की संहिताएँ, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् आदि आते हैं। इस साहित्य में तत्कालीन जन-भाषा का ही रूप निहित है। कालान्तर में उसी का प्रौढ़ तथा कला-समन्वित रूप पाणिनि (वि० पू० ७ वीं शताब्दी) द्वारा परिष्कृत हो साहित्यिक संस्कृत के रूप में परिनिष्ठित हुआ। आगे वही रामायण, महाभारत सरीखे प्रबंध-काव्यों में प्रस्फुटित होता हुआ अश्वघोष, कालिदास, भारवि, माघ, बाण आदि कवियों का रचनाओं में चरम उत्कर्ष को प्राप्त हुआ।

प्राकृत—वैयाकरणों द्वारा निरूपित सिद्धान्तों की कठोर सीमाओं में बंध कर साहित्यिक संस्कृत जन-भाषाओं से पृथक् हो गयी। उधर सतत प्रवहमान जन-भाषा सामान्य रूप से विकसित होती हुई प्राकृत भाषाओं के रूप में प्रकट हुई। यह समय विक्रम से लगभग ६०० वर्ष पूर्व का था इसी समय प्राचीन वेद-ब्राह्मणों की मान्यताओं की प्रतिक्रिया-स्वरूप वर्धमान महावीर तथा गौतम बुद्ध ने क्रमशः जैन तथा बौद्ध धर्म के रूप में अपने-अपने सिद्धान्त प्रतिपादित किये। ये दोनों ही महापुरुष तत्कालीन जन-जागरण के अग्रदूतों के रूप में अवतरित हुए। उन्होंने जन-भाषा प्राकृत में उपदेश दिये आगे चलकर अशोक की धर्मलिपियाँ तथा शिलालेख भी उसी में उत्कीर्ण कराये गये। देश-भाषा के रूप में प्राकृत का यह विकास विक्रम की प्रथम शताब्दी तक होता रहा। परन्तु उसके पश्चात् प्राकृत भी साहित्यिक रूप धारण करने लगी तथा आचार्यों ने उसे सैद्धान्तिक रूढ़ियों में बाँधना प्रारम्भ कर दिया।

वररुचि के व्याकरण-ग्रंथ प्राकृत-प्रकाश में प्राकृत के चार भेद महाराष्ट्री, मागधी, शौरसेनी तथा पैशाची बतलाये गये हैं। हेमचन्द्र ने इनमें चूलिका पैशाची तथा अपभ्रंश और सम्मिलित कर दिये।[1] आगे चलकर ये षट्भाषाएँ बड़ी प्रसिद्ध हुईं।[2]

---

(१) कुमारपाल चरित; हेमचन्द्र, प्रकाशक-भंडारकर ओरियंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट पूना (१९३६) पाद टिप्पण पृ० ६३५

(२) मंख के श्री कंठ चरित में षट्भाषाओं का इस प्रकार उल्लेख किया गया है—

प्राकृत संस्कृत मागध पिशाच भाषाश्च शौरसेनीच
षष्ठो अत्र भूरिभेदो देश विशेषादपभ्रंशः। २।१२

यद्यपि समस्त बौद्ध सैद्धान्तिक साहित्य पालि में ही लिखा गया है, किन्तु किसी प्रदेश विशेष से उसका सम्बन्ध निश्चितरूप से ज्ञात न होने के कारण, संभवतः प्राकृत-भाषा-भेद-निरूपण में उसे स्थान न मिल सका।

जिस प्रकार बौद्धों ने अपने सिद्धान्त ग्रंथों के लिये पालि को अपनाया, उसी प्रकार जैनों ने अर्ध-मागधी प्राकृत में अपने सिद्धान्तग्रन्थों की रचना की। अर्धमागधी के प्रति जैनों का विशेष अनुराग होने का प्रधान कारण यह था कि उनके विश्वास के अनुसार भगवान महावीर ने अपने उपदेश इसी भाषा में दिये थे।[1] जैनों के द्वादशांग, द्वादशोपांग, दश पइण्णा, छः छेदसुत्त, चार मूलसुत्त आदि शास्त्रीय ग्रंथ अर्धमागधी के ही हैं। परन्तु जैन सिद्धान्तेतर साहित्य मुख्यतः महाराष्ट्री तथा शौरसेनी प्राकृत में ही लिखा गया है। कुछ विद्वान इन दोनों को पृथक् भाषाएं न मान कर एक ही भाषा की दो शैलियाँ मानते हैं।[2] हरिभद्र की समराइच्च कहा (८ वीं शताब्दी वि०) के पद्य-भाग में महाराष्ट्री तथा गद्य-भाग में शौरसेनी का प्रयोग हुआ है। परन्तु यह निश्चित है कि प्राकृतों में महाराष्ट्री को अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है।[3] विमलसूरि का पउम चरिय (वि० सं० ६०), हाल शातवाहन (वि० प्रथम शताब्दी) की सप्तशती, प्रवरसेन (वि० ५ शताब्दी) का सेतुबंध, वाक्पतिराज का गउडवहो, हेमचन्द्र का कुमारपाल चरित (वि० १० शताब्दी) तथा राज शेखर (वि० १० शताब्दी) की कर्पूर मंजरी महाराष्ट्री प्राकृत की प्रमुख रचनाएं हैं। गुणाढ्य की बृहत्कथा पैशाची प्राकृत में रची बतलाई जाती है।

प्राकृत में जैन तथा बौद्ध धर्मों के आश्रय से जहाँ हमें विशाल धार्मिक साहित्य प्राप्त होता है, वहाँ उसमें शुद्ध साहित्यिक रचनाएँ भी प्रचुर संख्या में उपलब्ध हैं। वास्तव में इन्हीं साहित्यिक रचनाओं के आधार पर प्राकृत को समृद्धशाली समझा गया है। इनमें प्रबंध-काव्य, नाटक, कथा-साहित्य, मुक्तक काव्य आदि सभी कुछ है। इन्हीं रचनाओं की विभिन्न परंपराओं ने भावी अपभ्रंश साहित्य को अत्यधिक प्रभावित किया। उदाहरणार्थ प्राकृत के राम-काव्य पउम चरिय (विमल सूरि) की कथा-वस्तु को अपभ्रंश में स्वयंभू के पउम चरिउ में ग्रहण किया गया है। प्रवरसेन के सेतुबंध महाकाव्य की अलंकृत शैली का प्रभाव भी स्वयंभू, पुष्पदंत, धनपाल आदि अनेक अपभ्रंश कवियों में देखा जा सकता है। इसी प्रकार कथा-साहित्य में गुणाढ्य

(१) भगवंच णं अद्धमागही ये भासाये धम्मं
आइक्खयं सा वियणं अद्धमागही भासा। हिन्दी साहित्य का बृहत् इति० भाग १
पृ० २८६ पर उद्धृत

(२) वही, पृ० २९३

(३) महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्रकृतं विदुः। काव्यादर्श, दण्डी, १३४

की वृहत्कथा, जो दुर्भाग्य से अनुपलब्ध है, अपभ्रंश के भविसयत्त कहा, सिरिपंचमी कहा आदि काव्यों का प्रेरणा-स्रोत मानी जाती है।[1]

कवियों तथा विद्वानों को आदर की पात्री होने के कारण प्राकृत में विपुल साहित्य रचा गया। वैयाकरणों ने संस्कृत की भाँति उसे भी व्याकरण के कठिन नियमों में वद्ध करना प्रारंभ कर दिया। ईसा की छठवीं शताब्दी तक आते-आते वह जन-सामान्य की भाषा से पृथक् होकर शुद्ध साहित्यिक भाषा वन वैठी। प्राकृत की इस पद-प्रतिष्ठा के कारण ही जन-भाषाओं में से अपभ्रंश को सम्मुख आने का अवसर प्राप्त हो गया।

अपभ्रंश—

प्रारम्भिक निर्देश—अपभ्रंश का शाब्दिक अर्थ, विकृत, च्युत अथवा भ्रष्ट है। प्राकृत-काल में संस्कृत शब्दों के जो रूप जन-विभाषाओं में तद्भव होकर प्रचलित थे, विद्वानों की दृष्टि में सामान्यतः वे अशुद्ध या भ्रष्ट माने जाते थे। इन्हीं अपाणिनीय शब्दों को अपभ्रंश संज्ञा दे कर विद्वानों ने उन शब्दों के प्रति अपने हीन दृष्टिकोण का परिचय दिया।[2]

अपभ्रंश का प्राचीनतम निर्देश भर्तृहरि (५वीं शताब्दी ई०) ने संग्रहकार व्याडि के मत का उल्लेख करते हुए, अपने वाक्य पदीयम् में किया है।[3] संग्रहकार व्याडि का समय पतंजलि (२ शताब्दी ई० पू०) से भी पूर्व का है, क्योंकि महाभाष्य में उनका उल्लेख प्राप्त होता है।[4]

भर्तृहरि के इस प्रमाण के आधार पर अपभ्रंश की प्राचीनता का निश्चय अधिक संगत नहीं प्रतीत होता, क्योंकि स्वयं संग्रहकार का कोई प्रामाणिक ग्रंथ अभी तक उपलब्ध नहीं हैं। परन्तु इतना तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि ई० पू० की दूसरी शताब्दी से भी पूर्व अपभ्रंश शब्द का प्रयोग अवश्य होता था। इसका प्रमाण पतंजलि का महाभाष्य है, जिसमें सर्व-प्रथम स्पष्ट रूप से अपभ्रंश शब्द अपाणिनीय शब्द-रूपों के लिये प्रयुक्त हुआ है। महाभाष्यकार ने सोदाहरण समझाया है कि गौः जैसे तत्सम शब्द साधु शब्द हैं। इसके गावी, गोणी, गोता,

---

(१) हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, भाग १, पृ० ३०९

(२) हिन्दी काव्य-धारा, राहुल, भूमिका पृ० ५ तथा हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, रामकुमार वर्मा, पृ० ६३।

(३) वाक्यपदीयम्, वार्तिक, काण्ड १, कारिका १४८।

(४) महाभाष्य, किलहार्न, भाग ३ पृ० ३५९।

गोपोतलिका आदि जन-सामान्य में प्रचलित रूप अपशब्द या असाधु शब्द है।[1]

पतंजलि की इस उक्ति में तत्कालीन विद्वत्समाज का इन शब्दों के प्रति दृष्टि-कोण स्पष्ट परिलक्षित होता है। परवर्ती आचार्यों ने भी स्वमत-स्थापन में इन्हीं उदाहरणों का प्रयोग किया है।[2] गो के लिये बंगला में गावी तथा सिन्धी में गोणी शब्द अभी तक प्रचलित हैं।

भरत मुनि (ई० १-२ शताब्दी) के समय में व्यवहृत लोक-भाषाओं में अपभ्रंश शब्द प्रचुर मात्रा में प्रचलित हो गये थे। उन्होंने तत्कालीन शब्दों का वर्गीकरण करते हुए उन्हें तीन वर्गों में विभाजित किया है, यथा तत्सम, तद्भव तथा देशी।[3] ये तद्-भव अथवा विभ्रष्ट शब्द ही अपभ्रंश शब्द हैं। भर्तृहरि ने संस्कार-हीन शब्दों को[4] तथा दण्डी (७ वीं शताब्दी ई०) ने शास्त्र में संस्कृत से इतर शब्दों को अपभ्रंश कहा है।[5]

उक्त विवेचन का सारांश यह है कि २ शताब्दी ई० पू० के समय, तद्भव शब्दों के रूप मे, तत्कालीन भाषाओं में जो प्रगतिशील तत्व प्रकट होने प्रारम्भ हुए, विद्वानों की अभिरुचि के अनुकूल न होने के कारण वे अपभ्रंश संज्ञा से संबोधित किये गये। इस प्रकार आरम्भ में शब्दों के लिये ही अपभ्रंश का व्यवहार हुआ, भाषा में उसका प्रयोग बाद की बात है।

भाषा के रूप मे विकास—

ईसा की प्रथम शताब्दी से लेकर लगभग चौथी-पाँचवीं शताब्दी तक के काल में अपभ्रंश की विभिन्न विशेषताएँ तत्कालीन लोक-भाषाओं के साथ-साथ चलती रहीं। इस समय तक विद्वान् वर्ग प्रायः संस्कृतेतर भाषा के लिये प्राकृत तथा संस्कृतेतर शब्दों के लिये अपभ्रंश का ही निर्देश करते थे। अपभ्रंश नाम की किसी पृथक् भाषा का अस्तित्व अभी तक नहीं था परन्तु नाट्यशास्त्र से विदित होता है कि साहित्यिक अपभ्रंश की

---

(१) भूयांसोऽपशब्दाः अल्पीयासः शब्दा इति। एकस्यैव शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः तद्यथा गौरित्यस्य शब्दस्य गावी गोणी गोता गोपोतलिका इत्येवमादयो-ऽपभ्रंशाः। महाभाष्य, १।१।१

(२) प्राकृत लक्षणम् (चंड) २। १६—गौर गावी। सिद्धहेमशब्दानुशासन, ८।२।१७४, पृ० ४६७

(३) नाट्यशास्त्रम्, १०।३

(४) वाक्यपदीयम्, काण्ड १, कारिका १४८

(५) शास्त्रे तु संस्कृतादन्यदपभ्रंशतयोदितम्। काव्यादर्श १।३६

उकार बहुलत्व की विशेषता पश्चिमोत्तर प्रदेश की भाषाओं में अवश्य विद्यमान थी।[1] भरत मुनि ने छंदों के उदाहरणों के लिये जो काव्यांश उद्धृत किये हैं, उनमें भी उकार के अतिरिक्त संज्ञा, सर्वनाम, उल्ल स्वार्थिक प्रत्यय, तुकान्त आदि अपभ्रंश भाषा की अन्य विशेषताएँ प्राप्त होती है।[2] डॉ० पी० एल० वैद्य ने भी धम्मपद (ई० पू० १ शताब्दी से १ शताब्दी ई०), ललित विस्तर (४-५ शताब्दी ई०) आदि बौद्ध ग्रंथों में उपलब्ध उकारान्त नाम और आख्यात शब्दों की ओर ध्यान आकर्षित किया है।[3]

आभीर तथा गुर्जर जातियों का योग—

अपभ्रंश भाषा के उत्कर्ष में आभीर-गुर्जर जातियों ने महत्वपूर्ण योग दिया है। महाभारत[4] से प्रमाणित होता है कि ई० पू० दूसरी शताब्दी में पश्चिमोत्तर भारत के प्रदेशों में यायावर और घुमक्कड़ आभीर जाति फैली हुई थी।[5] इसके अतिरिक्त काठियावाड़ में प्राप्त सन् १८१ ई० के महाक्षत्रप रुद्र दमन के अभिलेख, नासिक के सन् ३०० ई० के अभिलेख सन् ३६० ई० के समुद्रगुप्त के प्रयाग के लौह-स्तम्भ के लेख तथा जार्ज इलियट, एन्थोवेन आदि विद्वानों के प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध किया गया है कि ई० पू० की कुछ शताब्दियों से लेकर ८-६ शताब्दी तक के समय में काठियावाड़, राजस्थान, गुजरात, खानदेश आदि प्रदेशों में दूर-दूर तक आभीरों का आधिपत्य रहा है।[6] भरत मुनि ने आभीरों द्वारा बोली जाने वाली जिस भाषा का संकेत किया है[7], वह अपभ्रंश ही है। आगे चलकर दण्डी ने भी काव्य में आभीरों आदि की भाषा को अपभ्रंश कहा है।[8]

अपभ्रंश के प्रसार में गुर्जर जाति को भी महत्व दिया जाता है। इतिहासकार लिखते हैं कि ईसा की छठी शताब्दी में गुजरात तथा भड़ौंच के प्रदेशों पर

---

(१) हिमवत् सिन्धु सौवीरान् ये अन्य देशान् समाश्रिताः
उकार बहुलां तेषु नित्यं भाषां प्रयोजयेत। नाट्यशास्त्र, १७। ६२

(२) मोरुल्लउ नच्चन्तउ, महागमें संमत्तउ
हेउ हतुंरोइ जोण्हउ, णिच्च, णिप्पहे एहुचंदहु।—नाट्यशास्त्र, अ० ३२—

(३) हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, भूमिका पृ० ८-६

(४) डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार इसका वर्तमान रूप ईसा की पांचवी शताब्दी में पूर्ण हो चुका था। (हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० १६८)

(५) वही, पृ० २४

(६) विवरण के लिए देखिये—हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ० २७-२८

(७) आभीरोक्ति शावरी स्यात् द्राविडो द्रविडादिषु। नाट्यशास्त्र, १७-५५

(८) आभीरादि गिरः काव्येष्वपभ्रंश इति स्मृता। काव्यादर्श, १-३६

गुर्जरों का अधिकार हो गया था।[1] अपनी शक्ति तथा संगठन के बल पर गुर्जरों ने धीरे-धीरे समस्त पश्चिमी भारत में अपनी स्थिति अत्यन्त सुदृढ़ कर ली थी। इन्हीं के कारण उस क्षेत्र का नाम गुजरात प्रसिद्ध हुआ। इन्होंने अपभ्रंश को पर्याप्त संरक्षण दिया। अद्यावधि उपलब्ध होने वाला अधिकांश अपभ्रंश साहित्य गुजरात के पाटण, अहमदाबाद आदि स्थानों तथा उनके निकटवर्ती क्षेत्रों के ग्रंथागारों से प्राप्त हुआ है।

इस प्रकार आभीर-गुर्जर आदि जातियों के प्रश्रय एवं प्रोत्साहन के फलस्वरूप देश के विभिन्न भागों, विशेष रूप से उत्तरी तथा पश्चिमी प्रदेशों में अपभ्रंश एक लोक-प्रिय भाषा बनने में समर्थ हुई। पश्चात् दण्डी के समय तक आते-आते वह सामान्य स्तर से ऊँचे उठकर काव्य-भाषा तक बन गई। उसका क्षेत्र भी विस्तृत हो गया।

साहित्यिक रूप-धारण—

ईसा की तृतीय शताब्दी से लेकर छठी शताब्दी तक का समय अपभ्रंश के निर्माण में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस काल में एक ओर प्राकृत भाषाएँ साहित्यिक रूढ़ियों में बद्ध होकर जन-सामान्य से दूर हो रहीं थीं। दूसरी ओर अपभ्रंश अपनी लोक-विशेषताओं के साथ साहित्य-रंगमंच पर पदार्पण करने का उपक्रम करती रही। संक्षेप में यह अपभ्रंश का उदयकालीन समय था, अतः संस्कृत-प्राकृत के ग्रन्थों में यत्र-तत्र अपभ्रंश के अंशों को देखा जा सकता है। इसके अतिरिक्त उसकी कोई स्वतन्त्र रचना नहीं प्राप्त होती। कालिदास के विक्रमोर्वशीय नाटक के चतुर्थ अंक में अपभ्रंश के कुछ छन्द प्राप्त होते हैं, जिनमें राजा पुरुरवा की विक्षिप्तावस्था के उद्गार हैं। इसकी भाषा पर प्राकृत का स्पष्ट प्रभाव है।[2]

डॉ० तगारे ने अपभ्रंश की कुछ प्रवृत्तियों को विमल सूरि के पउम चरिय तथा बौद्ध गाथा-साहित्य में भी पाये जाने का संकेत किया है।[3] इसके अतिरिक्त भरतमुनि के नाट्यशास्त्र (३२ वें अध्याय) में उद्धृत कुछ काव्य-अंशों में अपभ्रंश

---

(१) श्री डी० आर० भंडारकर तथा ए० एम० टी० जैक्सन के मत, हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ० २९ पर उद्धृत।

(२) उदाहरणार्थ यह छन्द देखिए—
मइं जणिअं मिअलोअणि णिसिअरु कोइ हरेइ।
जाव ण णव तडि सामलो धाराहरु वरिसेइ।
द्रष्टव्य है कि इसी आधार पर डॉ० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या साहित्यिक अपभ्रंश का प्रारम्भ ४०० ई० से मानते हैं। इंडो आर्यन और हिन्दी, पृ० ११७।

(३) हिस्टारिकल ग्रामर आफ अपभ्रंश, भूमिका पृ० १।

को कतिपय विशेषताएँ प्राप्त होती हैं।[1] इससे स्पष्ट होता है कि विद्वानों का ध्यान प्राकृत के साथ ही अपभ्रंश की ओर भी जाने लगा था तथा उसे भा काव्य-रचना के उपयुक्त समझा जाने लगा था।

लगभग इसी समय के (६ ठो शताब्दी) वलभी-नरेश धरसेन (द्वितोय) ने एक लेख में अपने पिता गुहसेन को संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश तीनों भाषाओं में काव्य-रचना करने में प्रवीण बतलाया है।[2] इसी काल के प्राकृत वैयाकरण चण्ड[3] तथा संस्कृत आलंकारिक भामह भी[4] अपभ्रंश को काव्योपयोगी भाषा मानते हैं। महाराज हर्ष के समकालीन महाकवि बाण ने भी हर्ष चरित में अपभ्रंश का संकेत किया है।[5]

निष्कर्ष यह है कि छठी-सातवीं शताब्दी तक अपभ्रंश काव्य-रचना के लिये उपयुक्त मानी जाने लगी तथा उसमें साहित्य-निर्माण भी होने लगा। परन्तु उल्लेखनीय बात यह है कि अभी तक उसे अशिष्टों की भाषा ही समझा जाता रहा। दण्डी के आभीरादिगिर: से अपभ्रंश के विषय में तत्कालीन विद्वत्समुदाय के मनोभावों का परिचय मिलता है। इसके अतिरिक्त उन्होंने वाङ्मय के चार भाग—संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा मिश्र करने के उपरान्त, शास्त्रीय ग्रन्थों में असंस्कृत भावों को अपभ्रंश संज्ञा दी है।[6]

दण्डी के पश्चात् अपभ्रंश की लोकप्रियता के प्रचुर प्रमाण मिलते हैं। रुद्रट ने षट् भाषाओं में अपभ्रंश की गणना भी की है।[7] कुवलयमालाकार उद्योतन सूरि (७७८ ई०) ने अपभ्रंश को काव्य की वह शैली मानी है, जिसमें प्राकृत और संस्कृत दोनों की शैलियों का मिश्रण हो, जिसमें संस्कृत-प्राकृत पदों की तरंगों का रिंगण हो एवं जो प्रणय-कोप से युक्त कामिनी के आलाप की भाँति मनोहर हो।[8]

---

(१) हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ० १६।

(२) संस्कृत प्राकृतापभ्रंश भाषा त्रय प्रतिबद्ध प्रबंध रचना निपुणतरात: करण:।
(हिस्टारिकल इंस्क्रिप्शन आफ गुजरात, जी० वी० आचार्य, सं० ५०)

(३) प्राकृत लक्षणम्, ३।३।३७।

(४) काव्यालंकार, १।१६।२८।

(५) दोहाकोश, राहुल, पृ० ७।

(६) काव्यादर्श, १।३२।

(७) प्राकृत सस्कृत मागध पिशाच भाषाश्च शौरसेनीच।
षष्टोऽत्र भूरिभेदो देश विशेषादपभ्रंश:। काव्यालंकार २।१२।

(८) ता किं अवहंसं होइइ। तं सक्कय पाय उभय सुद्धासुद्ध पद्य समतरंगं रंगंत वग्गिरं.......पणयकुविय पिय माणि णि समुल्लाव सरिसं मणोहरं।
अपभ्रंश काव्यत्रयी, लालचन्द भगवानदास गांधी, पृ० ९७-९८।

इससे स्पष्ट होता है कि ८वीं शताब्दी तक अपभ्रंश की ध्वनियों तथा पदों का रूप स्थिर नहीं हो सका था। वह मुख्यतः शौरसेनी प्राकृत का आधार लेकर चल रही थी।

१०-१२ वीं शताब्दी का समय अपभ्रंश के चरम उत्थान का काल है। इस काल में न केवल अपभ्रंश के उत्तमोत्तम साहित्य का ही निर्माण हुआ है, वरन् उसे राजाश्रय भी प्राप्त हुआ। राजशेखर ने काव्यमीमांसा (१० वीं शताब्दी) में राज-सभाओं में संस्कृत-प्राकृत के कवियों की श्रेणी में अप० कवियों के बैठने का निर्देश किया है। इसी प्रसंग में वे कवियों के साथ समाज के विभिन्न वर्गों के मनुष्यों के बैठने की व्यवस्था भी बतलाते हैं। उनके अनुसार अपभ्रंश के कवियों के साथ चित्रकार, जौहरी आदि मध्यम वर्ग के व्यक्तियों को स्थान दिया जाता था।[1]

परन्तु सामान्य जन-समुदाय से सम्बन्धित रहते हुए भी, अपभ्रंश तत्कालीन साहित्यिक क्षेत्र में आदर की दृष्टि से देखी जाने लगी थी। अब वह आभीरों अथवा अशिष्टों की भाषा न होकर शिष्ट-समुदाय की भाषा बन गई। पूर्वी बौद्ध प्राकृत व्याकरणकार पुरुषोत्तम (११ वीं शताब्दी ई०) अपभ्रंश को शिष्टों की भाषा स्वीकार करता है।[2] जिनदत्त (१२०० ई०) की विवेक-विलासिता (८।१३१) तथा अमरचन्द्र (१२५० ई०) की काव्य-कल्पलता-वृत्ति (पृ० ८) में भी अपभ्रंश को इसी प्रकार गौरवान्वित किया गया है। इस समय तक अपभ्रंश भाषा का पूर्ण परिष्कार भी हो चुका था जिसकी उपेक्षा न कर सकने के कारण हेमचन्द्राचार्य को संस्कृत-प्राकृत का व्याकरण रचने के पश्चात् अपभ्रंश के व्याकरण की रचना करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। यह व्याकरण सिद्धहेमशब्दानुशासन के अष्टम् अध्याय में है।

अपभ्रंश का क्षेत्र—

भरतमुनि ने जिस उकार बहुला भाषा के हिमवत्, सिन्धु, सौवीर आदि पश्चिमोत्तर प्रदेशों में प्रयुक्त होने का उल्लेख किया है, विद्वानों के मत से वह अपभ्रंश से मिलती-जुलती भाषा थी।[3] यह भाषा आभीरों की स्थानीय बोली के रूप में प्रचलित थी। कालांतर में जब आभीरों का प्रभुत्व काठियावाड़, राजस्थान, मालवा तथा पश्चिम-दक्षिण के प्रदेशों तक बढ़ा, तब अपभ्रंश का क्षेत्र भी उन्हीं के साथ-साथ विस्तृत होता गया। राजशेखर का कथन है कि जिन प्रदेशों में आभीर प्रबल थे, वहाँ के निवासियों की प्रधान भाषा अपभ्रंश ही थी। जहाँ गौड़ अथवा

---

(१) काव्य मीमांसा, पृ० ५४-५५।

(२) हिस्टारिकल ग्रामर आफ अपभ्रंश, पृ० ३।

(३) हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० २३।

बंगाल के निवासी संस्कृत में तथा लाट या गुजरात के प्राकृत में विशेष रुचि रखते थे, वहाँ मरुभूमि, टक्क और भादानक के लोग अपभ्रंश का प्रयोग करते थे।[१] उसने यह भी कहा है कि सुराष्ट्र तथा त्रवण (मारवाड़) में जन-सामान्य अपभ्रंश ही बोलते थे।[२] यहाँ मरुभूमि का अभिप्राय राजस्थान से तथा टक्क का सिंधु एवं विपाशा के मध्यवर्ती क्षेत्र से है। भादानक की स्थिति विवाद-ग्रस्त है। एन० एल० डे महोदय भागलपुर से नौ मील दक्षिण में स्थित भदरिया को भादानक मानते हैं, जबकि डॉ० उदय नारायण तिवारी पश्चिमोत्तर प्रदेश में उसे टक्क के आस-पास का कोई स्थान बतलाते हैं।[३] हजारी प्रसाद जी द्विवेदी के अनुसार यह बुन्देलखंड में कोई स्थान था।[४] जो हो, पर इतना तो निश्चित है कि राजशेखर के समय में यह कोई प्रसिद्ध स्थान रहा होगा।

वस्तुतः १० वीं शताब्दी तक अपभ्रंश किसी क्षेत्र विशेष की भाषा न रह कर प्रायः समस्त भारत (सुदूर दक्षिण को छोड़कर) की साहित्यिक भाषा थी। हां, यह अवश्य है कि इतने अधिक क्षेत्र-विस्तार के कारण उसमें स्थानीय भेदों का होना स्वाभाविक ही था। तो भी उस समय पश्चिमी अपभ्रंश (शौरसेनी) को टकसाली भाषा माना जाता था। इसी बात पर बल देते हुए डॉ० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या ने पूर्व के कवियों द्वारा पश्चिमी अपभ्रंश में कविता करने की परम्परा को बहुत बाद तक चलती रहने का उल्लेख किया है।[५] पूर्व-पश्चिम की अपभ्रंश में अभेद स्थापित करते हुए श्री मोदी ने दक्षिण की अपभ्रंश को भी पश्चिमी अपभ्रंश के अनुरूप बतलाया है। इस प्रकार वे गुजरात के हेमचन्द्र, मान्यखेट (दक्षिण) के पुष्पदन्त तथा बंगाल के दोहाकोशों एवं चर्यापदों के रचयिता सरह, कण्ह आदि बौद्ध सिद्धों की अपभ्रंश को एक ही कोटि का होना सिद्ध करते हैं।[६]

अपभ्रंश को इतनी तीव्र गति से देश के विशाल भू-खंड की भाषा बनाने का सर्वाधिक श्रेय तत्कालीन राजाओं को है। अद्यावधि उपलब्ध अपभ्रंश रचनाओं के अध्ययन से प्रतीत होता है कि पश्चिमी तथा दक्षिणी भारत में दिगम्बर जैन

---

(१) काव्य मीमांसा, पृ० ५१। (२) वही, पृ० ३४।

(३) हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास, भारती भंडार प्रयाग (सं० २०१२), पृ० १२२।

(४) हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० २५।

(५) ओरिजिन एण्ड डेवलपमेंट आफ बंगाली लैंग्वेज, भूमिका पृ० ९१।

(६) हेमचन्द्र नुं अपभ्रंश, पुष्पदंतनुं अपभ्रंश अने दोहाकोशनुं अपभ्रंश एक ज अपभ्रंश छे।

अपभ्रंश पाठावली, श्री मधुसूदन चिमनलाल मोदी, भूमिका पृ० १८।

तथा पूर्व में बौद्ध-सिद्ध अपभ्रंश के प्रधान उन्नायक थे। अपभ्रंश के इस उन्नयन में जिन राजाओं ने महत्वपूर्ण योग दिया, उनमें राष्ट्रकूट अग्रणी थे। १० वीं शताब्दी में राष्ट्रकूट साम्राज्य के पतन के पश्चात्, गुजरात अपभ्रंश का केन्द्र बना। पाटण के सोलंकी राजा सिद्धराज जयसिंह तथा कुमारपाल ने अपभ्रंश को पर्याप्त प्रश्रय दिया। उधर पूर्व में पाल राजाओं ने उसे संरक्षण दिया।

अपभ्रंश के इस बहु प्रदेशीय उत्थान में मध्य देशवर्ती कान्यकुब्ज साम्राज्य ने कोई सहयोग नहीं दिया। ११-१२ वीं शताब्दी में वहाँ प्रतापी गाहड़वालों का आधिपत्य था, परन्तु वे संस्कृत के प्रेमी थे। श्री हर्ष जैसे संस्कृतज्ञ उनके दरबार की शोभा बढ़ाते थे।

कश्मीर में संस्कृत तथा कश्मीरी भाषाओं में लिखे तंवसार, लल्लावाक्यादि कुछ शैव-सिद्धान्त के ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं, जिनमें यत्र-तत्र अपभ्रंश के पद्य भी हैं।[1] इससे प्रतीत होता है कि अपभ्रंश का प्रभाव कश्मीर तक पहुँच गया था। इसके अतिरिक्त मुलतान में अब्दुल रहमान (११ वीं शताब्दी) ने, आसाइय में मुनि कनकामर (१०६५ ई०) ने, मिथिला में विद्यापति ने, धारा में देवसेन (९३३ ई०) ने एवं ग्वालियर में रइधू (१५-१६ वीं शताब्दी) ने अपभ्रंश काव्य-रचना की।

अपभ्रंश के भेद—

क्षेत्र-विस्तार के कारण अपभ्रंश की एक रूपता में अनेक रूपता होना स्वाभाविक ही है अतः विद्वानों ने उसके विविध भेदों की चर्चा की है, रुद्रट[2] तथा विष्णुधर्मोत्तर के कर्त्ता ने[3] देश-भेद के आधार पर अप० के अनेक रूपों के होने का निर्देश किया है। प्राकृतानुशासन (पुरुषोत्तम कृत, १२ वीं शताब्दी) में अप० के तीन भेदों का उल्लेख है, ये हैं—नागरक, व्राचड़ तथा उपनागरक। शारदा तनय (१३ वीं शता०) ने नागरक ग्राम्य तथा उपनागरक भेद गिनाए हैं।[4] इसी प्रकार नमिसाधु ने उपनागर, आभीर एवं ग्राम्य तथा मार्कण्डेय (१७ वीं शताब्दी) ने नागर, उपनागर तथा व्राचड़ के उल्लेख किये हैं।[5] पुरुषोत्तम तथा मार्कण्डेय के भेद प्रायः एक से हैं। मार्कण्डेय ने

---

(१) अपभ्रंश साहित्य, डा० हरिवंश कोछड़, पृ० ४४।

(२) षष्टोऽत्र भूरिभेदो देश विशेषादपभ्रंशः। काव्यालंकार, २। १२

(३) देश भाषा विशेषेण तस्यान्तो नैव विद्यते। विष्णुधर्मोत्तर, ३।३

(४) भाव प्रकाशन, प्रकाशक-ओरियंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट, बड़ौदा, १९३० पृ० ३१०

(५) काव्यालंकार टीका, २।१२ तथा प्राकृत सर्वस्व, ७

अपभ्रंश के २७ प्रभेदों को भी गिनाया है।[1] परन्तु विद्वानों ने उनमें से अनेक को मान्य नहीं समझा।[2]

अपभ्रंश के भेदों में नागर प्रमुख है। इसकी उत्पत्ति के विषय में कहा गया है कि यह पंजाब के ठक्क अथवा टक्क प्रदेश की बोली ठक्की की एक शाखा, जो गुजरात की ओर गई और अहमदाबाद के नगर बड़नगर में प्रतिष्ठित हुई, से विकसित हुई थी। नगर से ही नागर ब्राह्मणों की उत्पत्ति भी मानी जाती है। इसके परुष वर्णों को शौरसेनी के अनुसार मृदुल बनाया गया।[3] आगे चलकर नागर तथा शौरसेनी में कोई भेद न रहा।

कुछ आधुनिक विद्वानों ने भी अप० के क्षेत्रीय विभाजन किये हैं। डॉ० याकोबी ने उपलब्ध रचनाओं के स्थान को आधार मान कर, उसके उत्तरी, दक्षिणी, पूर्वी तथा पश्चिमी चार भेद किये हैं।[4] डॉ० तगारे का विभाजन भी वैसा ही हैं, परन्तु उन्होंने उत्तरी अपभ्रंश को स्वीकार नहीं किया।[5] डॉ० तगारे ने पश्चिमी अपभ्रंश में जिन १५ कवियों की रचनाओं को स्थान दिया है, उनमें कालिदास के विक्रमोर्वशीय नाटक (चतुर्थ अंक), जोइंदु (६-१० शताब्दी) के परमार्थ प्रकाश तथा योगसार, रामसिंह (१० वीं शताब्दी) का पाहुड़ दोहा, धनपाल की भविसयत्तकहा, हरिभद्र (११५९ ई०) का सनत्कुमार चरिउ, हेमचंद्र (११७१ ई०) के सिद्ध हेमशब्दानुशासन तथा कुमारपाल चरिउ के अपभ्रंश छंद प्रमुख हैं। दक्षिणी अप० में पुष्पदंत के महापुराण आदि और कनकामर मुनि (९७५-१०२५) के करकंडु चरिउ हैं। पूर्वी अप० के अंतर्गत कण्ह तथा सरह के दोहाकोश आते हैं। डॉ० तगारे ने इन अप० की व्याकरण संबंधी विशेषताओं को भी स्पष्ट किया है। परन्तु कुछ विद्वानों ने इन विशेषताओं को स्थानगत न मानकर शैलीगत मानना श्रेयस्कर समझा है।[6]

डॉ० नामवर सिंह के अनुसार अप० का दक्षिणी-पश्चिमी भेद मौलिक नहीं है। उनका कथन है कि धनपाल की भविसयत्त कहा, जिसे पश्चिमी अप० की रचना कहा गया है तथा पुष्पदंत का महापुराण, जो दक्षिणी अप० के अंतर्गत है, की रचना एक ही परिनिष्ठित अप० में हुई है। दोनों रचनाओं में जो अंतर है वह रचयिता भेद

---

(१) व्राचड़, लाट, वैदर्भ, उपनागर, नागर, वर्वर, अवन्त्य, पांचाल, टाक्क, मालव कैकय, गौड, ओढ्र, वैवपश्चात्य, पांड्य, कार्णाट, कांच, द्राविड आदि
(२) हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ० ३७
(३) नागरी प्रचारिणी पत्रिका, सं० २००८ पृ० १०३
(४) सनत्कुमार चरिउ, भूमिका
(५) हिस्टारिकल ग्रामर आफ अपभ्रंश, पृ० १६-२०
(६) देखिए-हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ० ३९

के कारण है।[1] परन्तु वे चर्यापद में पूर्वी अप० की विशेषताएँ मानते हैं। इस प्रकार डॉ० सिंह के मत से अप० के पश्चिमी और पूर्वी दो क्षेत्रीय भेद थे, जिनमे पश्चिमी अप० परिनिष्ठित थी तथा पूर्वी अप० उसकी विभाषा मात्र थी।[2]

डॉ० तगारे के वर्गीकरण को लेकर अन्य मत भी रखे गये हैं। डॉ० भोला शंकर व्यास ने इस वर्गीकरण में भाषा वैज्ञानिक सिद्धान्तों का अभाव बतलाते हुए उसे अमान्य ठहराया है। उनका निश्चित मत है कि १२ वीं शताब्दी तक साहित्य में केवल एक ही भाषा का माध्यम चुना जाता रहा है, और वह थी-शौरसेनी (या नागर) अपभ्रंश।[3] पूर्वी अप० के संबन्ध में उनका कथन है कि दोहाकोशों अथवा चर्यापदों की भाषा में ऐसी कोई विशेषता नहीं प्राप्त होती, जो उसे मागधी प्राकृत को पुत्री सिद्ध कर सके। इसके विपरीत उसमें शौरसेनी के परवर्ती लक्षण अधिक हैं।[4]

वस्तुतः रचना विशेष के स्थान को आधार मानकर भाषा का वर्गीकरण करना संगत नहीं प्रतीत होता। कारण कि रचयिता परिस्थिति-वश जब चाहें स्थान-परिवर्तन कर सकते हैं। इस प्रकार एक ही कवि अपनी कुछ रचनाएँ एक प्रदेश में तथा कुछ दूसरे प्रदेश में कर सकता है। यदि स्थान के आधार पर उसकी भाषा का वर्गीकरण किया जाये, तो उसकी विभिन्न प्रदेशों की रचनाएँ विभिन्न भाषाओं के अंतर्गत आयेंगी, जो उचित नहीं। इस दृष्टि से अप० के क्षेत्रीय भेद करना युक्ति-संगत नहीं जान पड़ता। दूसरी बात यह है कि अपभ्रंश-काल में भाषा-भेद इतना अधिक न था, जितना आधुनिक काल में है। वास्तविकता यह है कि पश्चिम की शौरसेनी अप० ही उस समय की स्टैण्डर्ड भाषा थी। कवियों में चाहे वे पूर्व के रहे हों अथवा दक्षिण के, सबमें मान उसी भाषा का था। डॉ० चाटुर्ज्या का भी यही मत है। वे कहते हैं कि अप० काल में पूर्व के कवियों ने शौरसेनी अप० का प्रयोग किया है तथा अपनी विभाषा का बहिष्कार किया है। पश्चिमी अप० में रचना करने की परंपरा बहुत बाद तक चलती रही है।[5]

निष्कर्ष यह है कि शौरसेनी अप० ही उस काल की एक मात्र साहित्यिक भाषा थी, जो स्थानीय विशेषताओं के अन्तर से गुजरात से बंगाल तक तथा कश्मीर से मान्यखेट तक काव्य में प्रयुक्त होती थी। डॉ० बाबूराम सक्सेना तो उसे केवल काव्य-

---

(१) हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ० ४०
(२) वही, पृ० ४२
(३) हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, प्रथम भाग, पृ० ३१८
(४) वही, पृ ३१७
(५) ओरिजिन एण्ड डेवलपमेंट आफ बंगाली लैंग्वेज, पृ०९१

भाषा ही नहीं वरन् तत्कालीन जन-सामान्य के अन्तर्प्रान्तीय व्यवहार का माध्यम भी मानते हैं ।[1] उसका प्रारंभिक रूप विक्रमोर्वशीय में तथा परिनिष्ठित रूप हेमचन्द्र के दोहों में प्राप्त होता है ।

अपभ्रंश की संज्ञाएं—

सामान्य जन-समुदाय की विभाषाओं से विकसित होने वाली भाषा, साधारणतया देश-भाषा ही समझी जाती है । यही देश-भाषा अपनी समसामयिक साहित्यिक भाषा से प्रेरणा प्राप्त कर अनुकूल परिस्थितियों अथवा निज की प्रवृत्तियों के आग्रह से निरंतर विकास करती रहती है । इसी क्रम से कालांतर में नवीन भाषाओं का सृजन होता है । छांदस् से संस्कृत, संस्कृत से प्राकृत तथा प्राकृत से अपभ्रंश भाषा का उदय इसी प्रकार हुआ है । परन्तु सभी नवीन भाषाएं अपने समय की साहित्यिक भाषाओं की अपेक्षा लोक-मानस के अधिक निकट होने के कारण दीर्घकाल तक देशी नाम से ही संबोधित की जाती हैं । संस्कृत तथा प्राकृत को पहले देशी ही कहा जाता था ।[2] आगे चलकर अपभ्रंश को भी वही संज्ञा प्राप्त हुई । प्रायः सभी अप० कवियों ने अपनी भाषा को देशी ही कहा हैं ।

स्वयंभू ने पउम चरिउ की भाषा को देशी बतलाया है ।[3] पुष्पदंत अपने लघुत्व-प्रदर्शन में जहाँ देशी के अज्ञान का संकेत करते हैं, वहाँ उनका अभिप्राय अपभ्रंश भाषा से ही है—

णउ होमि वियक्खणु ण मुणमि लक्खणु छंदु देसि ण वियाणमि । मपु० १.८

सकल विधि निधान काव्य के रचयिता नयनंदी (११ वीं शताब्दी) ने भी आत्मनिवेदन में देशी का उल्लेख किया है—

अलकार सल्लक्खण देसि छंदं ण लक्खेमि सत्थांतरं अत्यमदं ।[4]

इनके अतिरिक्त अपभ्रंश के पद्मदेव (१० वीं शताब्दी), विद्यापति, लक्ष्मण देव, पादलिप्त आदि कवियों ने भी अपनी भाषा को देशी ही कहा है ।[5]

(१ मध्यदेश का भाषा विकास-लेख । नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५० अंक १-२

(२) हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ० ७-८

(३) देसी भाषा उभय तडुज्जल । पउम चरिउ, १.२.४

(४) अपभ्रंश साहित्य, पृ० १७६ से उद्धृत

(५) क—वायरणु देसि सद्दत्थ गाढ । पासणाह चरिउ (पद्म देव)

ख—देसिल बअना सब जन मिट्ठा । कीर्तिलता, पृ० ६

ग—णउ सक्कउ पायउ देस भास । णेमिणाह चरिउ (लखण देव), १.४

घ—पालित्तएण रइया वित्थरओ तह व देसि वयणेहि । पाहुड़ दोहा, भूमिका पृ० ४१-४२

(पादलिप्त-तरंग वती कथा)

—हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास से उद्धृत, पृ० ३१५

इससे स्पष्ट है कि अपभ्रंश के कवियों को अपनी भाषा के लिये अपभ्रंश संज्ञा की अपेक्षा देशी कहना अधिक रुचिकर लगता था। स्वयंभू तो और आगे बढ़ कर उसे गामिल्ल भास—ग्राम्य भाषा तक कह देते हैं—

छुड्डु होन्तु सुहासिय वयणाय
गामिल्ल भास परिहरणाइं।
(पउम चरिउ १।३।११)

इसी स्वर में स्वर मिलाते हुए आगे तुलसी भी अपनी ग्रामीण भाषा में लोक-मंगल-कारिणी राम-कथा की रचना करने का उल्लेख करते हैं—

भनित भदेस वस्तु भलि बरणी
राम कथा जग मंगल करणी।[1]
अन्यत्र भी—
श्याम सुरभि पयविशद अति गुणद करहिं तेहि पान।
गिरा ग्राम सिय राम यश गावहिं सुनहिं सुजान।[2]

लोक भाषा की सरलता तथा अपणीयता आदि गुणों के कारण, प्रत्येक युग के प्रतिनिधि कवियों ने उसी में काव्य करना अधिक श्रेयस्कर समझा।

अपभ्रंश काल में जहाँ लोक-भाषा के हेतु देशी शब्द का प्रयोग होता था, वहाँ हिन्दी के युग में उसे भाषा कहा गया। कबीर ने भाषा को बहता नीर कहा है—

कबिरा संस्कृत कूप जल भासा बहता नीर

तुलसी तो अनेक स्थलों पर मानस को भाषा में रचित होने की चर्चा करते हैं।[3] केशव ने रामचन्द्रिका के विषय में भी ऐसा ही उल्लेख किया है।[4]

देशी के अतिरिक्त, अपभ्रंश के लिये अन्य संज्ञाओं का प्रयोग भी मिलता है।

---

(१) राम चरित मानस (रामनरायन लाल, १९२५) पृ० १४
(२) वही, पृ० १५
(३) भासा भणित मोरि मति भोरी।
स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा भाषा निबंधमति मंजुल मातनोति।
(मानस, बालकांड ७)
(४) उपज्यो तेहि कुल मंदमति शठकवि केशवदास, रामचंद्र की चंद्रिका भाषा करी प्रकाश।
(रामचंद्रिका, प्रथम प्रकाश ५)

उद्योतन सूरि की कुवलयमाला कहा[1] तथा पुष्पदंत के महापुराण में[2] अवहंस एवं श्रीचन्द के रत्न करंड शास्त्र नामक आचार ग्रन्थ में अवभंस[3] शब्द का प्रयोग हुआ है।

हेमचन्द्राचार्य के पश्चात अपभ्रंश के लिये अवहट्ट का हो निर्देश सामान्यत: प्राप्त होता है। अवहठ, अवहट्ठ, अवहट आदि अवहट्ट के ही रूप हैं। संदेश-रासक[4] में अवहट्ट, वर्णरत्नाकर[5] में अवहठ, कीर्तिलता[6] में अवहट्ठ तथा प्राकृत-पैंगलम्[7] में अवहट शब्द प्रयुक्त हुए हैं।

अपभ्रंश भाषा की विशेषताएं—

भारतीय आर्य भाषाओं की शृंखला में अपभ्रंश का स्थान एक ओर प्राकृत तथा दूसरी ओर हिन्दी आदि आधुनिक आर्य-भाषाओं को जोड़ने वाली कड़ी के रूप में है। यह ऐसा संधि-स्थल है, जहाँ भाषा में अभूतपूर्व परिवर्तन होते हैं। उसकी व्याकरण सम्बन्धी अनेक मान्यताएँ ढीली पड़ जाती हैं। भाषा संश्लिष्ट से विश्लिष्ट हो जाती है और उसमें सरलीकरण की प्रवृत्ति प्रधान रूप से दिखाई देती हैं।

सामान्यत: अपभ्रंश की विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

स्वर तथा व्यंजन ध्वनियाँ—अप० स्वर-ध्वनियाँ प्राकृत ध्वनि-समूह के ही अनुरूप है, परन्तु उनमें परिवर्तन की प्रवृत्ति प्राकृत की अपेक्षा अधिक मिलती है। उदाहरण के लिये अप० के शब्दों में अंतिम स्वर को अनिवार्यत: ह्रस्व कर दिया जाता है, यथा लेह (लेखा), पावज्ज (प्रवज्या) आदि। इसी प्रकार उपान्त्य स्वर को बनाए रखना, प्राकृत से आये शब्दों में आदि अक्षर को सुरक्षित रखना, शब्दों के संयुक्त व्यंजन में एक को रखकर पूर्ववर्ती स्वर को दीर्घ करना आदि अप० की अन्य विशेषताएँ हैं।

---

१) ता किं अवहंस होइइ। अपभ्रंश काव्यत्रयी (लालचंद भगवानदास गांधी) भूमिका पृ० ९७

(२) सक्कउ पायउ पुणु अवहंसउ। मपु० ५।८।६

(३) दोहय उवदोहय अवभंसहि। रत्नाकरंड, अपभ्रंश साहित्य पृ० ३५१ से उद्धृत

(४) अवहट्टय-सक्कय पाइयंमि पेसाइयंमि भासाए। संदेश रासक, प्रथम प्रक्रम,६

(५) पुनू काइसन भाट संस्कृत पराकृत अवहठ पैशाची शौरसेनी मागधी छहु भासाव तत्वज्ञ।

(वर्णरत्नाकर, कल्लोज ६.पृ० ४४)

(६) कीर्तिलता, पृ० ६

(७) प्रकृतपैंगलम् (वंशीधर टीका) गाथा।

अप० में ऋ स्वर अ, इ, उ अथवा रि में परिवर्तित हो जाता है, यथा-रिक्ख (ऋप), रिसि (ऋषि) आदि ।

प्राकृत के शब्दों में एक साथ दो या अधिक स्वर-ध्वनियाँ सामान्यतः जाती हैं, जैसे-आआस (आकाश)। परन्तु अप० में दो स्वर-ध्वनियों के स्थान पर य श्रुति आ जाती है, यथा-आयास। आगे चलकर यह प्रवृत्ति सर्वत्र दिखाई देती है।

अप० में व्यंजन-ध्वनियों के परिवर्तन के नियम बहुत कुछ प्राकृत के ही अनुरूप हैं; यथा स्वर मध्यग क्, त् प् का ग्, द्, व् तथा ख् थ् फ् का घ् ध् भ् हो जाता है। उदाहरण के लिये मरगय (मकरत), समिदि (समिति), णरवइ (नरपति) आदि शब्द देखे जा सकते हैं। परन्तु अप० काव्यों में इस नियम का सर्वथा प्रयोग नहीं किया गया। शब्दों के मध्य में व्यंजन-ध्वनि लुप्त होकर केवल उसके साथ की स्वर-ध्वनि ही शेष रह जाती है, जैसे-लोइय (लौकिक)। कहीं विच्छेद के डर से उसके स्थान पर य अथवा व आ जाता है, यथा-अयाल (अकाल), वयण (वदन), रूव (रूप)। कहीं व्यंजन को कोमल भी कर दिया जाता है, जैसे-पुप्फयंत (पुष्पदंत), कडि (कटि), भडारा (भट्टारक), चिलाअ (किरात) आदि। शब्दों के मध्यवर्ती ख, घ, थ, फ, ध, भ, प्रायः ह हो जाते हैं।

अप० के शब्दों के आरंभ में म्ह, ण्ह, और ल्ह के अतिरिक्त अन्य संयुक्त ध्वनियाँ नहीं आतीं।[1] यह प्रवृति भी बहुत ही कम दिखाई देती है।

न का रूप अधिकतर ण ही मिलता है।

अप० में व्यंजन परिवर्तन के अन्य उदाहरण भी हैं। ड, न, र प्रायः ल हो जाते हैं जैसे-पीड-पील, नवनीत-लवणिय तथा सुकुमार सोमाल। इसी प्रकार वाराणसी का वाणारसी, दीर्घ का दीहर आदि विपर्यय भी हो जाते हैं।

मध्यवर्ती व्यंजन प्रायः द्वित्व हो जाते हैं। यथा-उप्परि (उप्परि) तथा एक्क (एक्क)।

प्रारंभिक य सदैव ज हो जाता है। अप० में वस्तुतः य का ध्वन्यात्मक मूल्य कुछ भी नहीं है।[2] शब्द में आए हुए म का वँ हो जाता है।

पद-रचना—अप० पद-रचना की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें हलन्त शब्द नहीं है। प्रत्येक शब्द का अन्त अ आ इ ई उ ऊ आदि किसी स्वर से ही होता है। इनमें आ तथा ऊ से अन्त होने वाली संज्ञाएँ प्रायः स्त्री लिंग होती है।

---

(१) सिद्धहेमशब्दानुशासन, ८।४ (पृ० ३६८-३६६)

(२) हिस्टारिकल ग्रामर आफ अपभ्रंश, अनुच्छेद ५२-५३

अप० में लिंग की ठीक व्यवस्था नहीं है। हेमचन्द्र ने अप० के लिंग को अतंत्र कहा है।[1] फिर उसमें संस्कृत-प्राकृत को भाँति तीन लिंग होते हैं। परन्तु नपुंसक लिंग प्रायः लुप्त होता प्रतीत होता है। आगे चलकर हिन्दी में तो वह लुप्त ही हो गया। पिशेल ने भी अन्य विभाषाओं की अपेक्षा अप० लिंग-व्यवस्था को परिवर्तनशील माना है।[2]

संस्कृत वचनों में से द्विवचन प्राकृत काल में ही लुप्त हो गया था। अप० में भी केवल एक वचन और वहुवचन शेष रह गये। दुगुने का भाव प्रायः दो की संख्या द्वारा वतलाया जाता है।

कारक—अप० में कारकों की संख्या वहुत ही कम रह गयी। संस्कृत के सभी कारक अप० तक आते-आते तीन समूहों में वंट गये—

१—प्रथमा, द्वितीया तथा संवोधन

२—तृतीया और सप्तमी

३—चतुर्थी, पंचमी और षष्ठी

इनमें भी अंतिम दो समूहों में प्रायः विपर्यय की प्रवृत्ति अधिक मिलती हैं, जिसके फलस्वरूप सामान्य तथा विकारी दो ही कारक रह जाते हैं।[3] इसके कारण शब्दों के जो रूप संस्कृत में अनेक होते थे, अप० में अति अल्प हो गये।

अप० में अनेक परसर्ग स्वतंत्र शब्दों के रूप में प्रयुक्त होते हैं, जैसे तृतीया के लिये सहुँ, तण। चतुर्थी के लिये केहि, रेसि। पंचमी के लिए होन्तउ, होन्त, थिउ। षष्ठी के लिए केरअ, केर, कर तथा सप्तमी के लिये मज्झ, महं आदि।

प्रथमा तथा द्वितीया के लिये उ का प्रयाग अप० में अत्यधिक हुआ है। परन्तु द्वितीया एक वचन के लिये प्राकृत के अ के अनुरूप पुत्तं भी मिलता है। इसी प्रकार प्रथमा तथा द्वितीया वहु वचन के लिये पुत्तं और पुत्त दोनों रूप प्राप्त होते हैं।

सर्वनाम—अप० में उत्तम पुरुष सर्वनाम के प्रथमा एक वचन में हउं का प्रयोग होता है। इसका वहु वचन रूप अम्हइं है। अन्य रूपों में द्वितीया का मइं, तृतीया और सप्तमी एक वचन में मइं, मइ, मए तथा वहु वचन में अम्हइं, है। इसी प्रकार चतुर्थी, पचमी एक वचन में महु, मज्झु तथा वहु वचन मे अम्हह, अम्हड, अम्हाण रूप मिलते हैं।

युष्मत् के प्रथमा एक वचन में तुमं, तहुं तथा वहु वचन में तुम्हें, तुम्हई रूप मिलते हैं। द्वितीया, तृतीया तथा सप्तमी में सर्वत्र पइं शब्द आया है।

---

(१) लिंगम अतंत्रम्। सिद्धहेम० ८।४।४४५

(२) हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, पृ० ३२२

(३) हिस्टारिकल ग्रामर आफ अपभ्रंश, परिच्छेद ७८

धातु-रूप—अप० धातुओं में आत्मनेपद तथा परस्मैपद दोनों एक रूप हो गये हैं।

संस्कृत के दसों गणों का भेद भी लुप्त हो गया है। भूतकाल के लकारों के स्थान पर कृदंत रूपों का ही व्यवहार होता है। अप० में अनेक नवीन के विभक्तियों का विकास भी हुआ है। वर्तमान काल के उत्तम पुरुष एक वचन में उं एवं मि के रूप, यथा-करउं, पलोयमि तथा बहु वचन में हुं एवं मो के रूप यथा-अवयरहुं, णिवसामो आदि प्राप्त होते हैं। मध्यम पुरुष एक वचन में सि तथा हि और बहु वचन में हु के रूप मिलते हैं। अन्य पुरुष के एक वचन में इ, एइ, (कहइ, करेइ,) तथा बहु वचन में न्ति एवं हिं चिह्न प्राप्त होते हैं।

भविष्य के रूप वर्तमान की भांति होते हैं, परन्तु उनके मध्य में स तथा ह का प्रयोग होता है।

अप० भाषा की उपर्युक्त विशेषताओं के आधार पर यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि उसमें प्राचीन रूढ़ियों के बन्धन से मुक्त होने का प्रयत्न किया गया है। भाषा के प्रत्येक क्षेत्र में चाहे वह संज्ञा हो अथवा धातु रूप, सरलीकरण की प्रवृत्ति अत्यन्त बलवती प्रतीत होती है।

अपभ्रंश साहित्य का संक्षिप्त परिचय—

यद्यपि काव्य-भाषा के रूप में अपभ्रंश की प्रतिष्ठा छठी शताब्दी में हो ही चुकी थी, परन्तु उसकी महत्वपूर्ण रचनाएँ ८ वीं शताब्दी से पूर्व नहीं प्राप्त होतीं। इस काल तक का जो भी अप० साहित्य उपलब्ध है, उसमें कालिदास के विक्रमोर्वशीय नाटक के अपभ्रंश पद्य उल्लेखनीय हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से यह अंश अप० का आदि-काव्य माना जा सकता है। इसके अतिरिक्त उद्योतन सूरि (७७८ ई०) की कुवलयमाला कहा में पद्य के साथ-साथ गद्य के कुछ नमूने भी प्राप्त होते हैं।

ईसा की ८ वीं शताब्दी से १२ वीं शताब्दी तक अपभ्रंश में अनेक गौरव ग्रंथ रचे गये। अतः इस काल को हम अपभ्रंश का स्वर्णयुग कह सकते हैं। इसके पश्चात् भी आधुनिक प्रान्तीय भाषाओं के विकास के साथ-साथ अप० की रचनाएँ होती रहीं। सन् १६४३ की भगवती दास रचित मृगांक लेखा चरित नामक चार संधियों की एक रचना आमेर शास्त्र भंडार में सुरक्षित है। इसे अप० की अंतिम रचना कह सकते हैं।

अप० में साहित्य की अनेक विधाओं के माध्यम से मुख्यतः धार्मिक साहित्य ही रचा गया है। उसके प्रणेताओं में जैन तथा बौद्ध प्रमुख हैं। परन्तु इस समय भी जब कि देशी भाषा का प्रभाव अत्यंत व्यापक हो रहा था, ब्राह्मण-सम्मत प्राचीन वैदिक धर्म के श्रद्धालु अनुयायियों की आस्था एकमात्र देव-वाणी संस्कृत के प्रति पूर्ववत थी। अतः उनके निकट अप० का उपेक्षित रहना स्वाभाविक ही था। यही

कारण है कि जहाँ पश्चिम में गुजरात-राजस्थान, दक्षिण में बरार-महाराष्ट्र तथा पूर्व में बंगाल आदि प्रदेशों में अप० के विपुल साहित्य का निर्माण हो रहा था, वहाँ वैदिक-धर्मावलम्बी गाहड़वाल राजाओं के कान्यकुब्ज प्रदेश में संस्कृत का ही आधिपत्य था। उनकी राज-सभा में श्रीहर्ष सरीखे विद्वान् थे। काशी के दामोदर पंडित की उक्ति-व्यक्ति प्रकरण नामक अप० रचना, जो परवर्ती गाहड़वालों के समय की है, इसका अपवाद ही मानी जायेगी।

समग्र ज्ञात अप० साहित्य पर दृष्टिपात करने पर प्रतीत होता है कि उसकी अधिकांश रचनाएँ जैन कवियों द्वारा रची गयी हैं। प्रायः सभी जैन-ग्रंथ, मठों-भंडारों से प्राप्त हुए हैं। प्रसंगवश यहाँ यह उल्लेख कर देना असंगत न होगा कि जैन मतावलम्बियों का यह सामान्य विश्वास रहा है कि उनके महापुरुषों के चरित वर्णन करने वाले अथवा व्रतादि का महत्व प्रतिपादन करने वाले ग्रंथों की प्रतियों को श्रावकों के पठनार्थ मठों-भंडारों में भेंट करना पुण्य-कार्य है। इसी विश्वास के कारण शताब्दियों तक इन भण्डारों में विपुल साहित्य सुरक्षित होता रहा। गत कुछ वर्षों में अनेक देशी-विदेशी विद्वानों के सद्प्रयत्नों तथा अथक परिश्रम के फलस्वरूप कारंजा, जैसलमेर, पाटण, अहमदाबाद आदि स्थानों के जैन-भंडारों के अनेक ग्रंथ-रत्नों का परिचय सुलभ हुआ है। इनमें से कुछ ग्रंथ सुसंपादित होकर प्रकाशित भी हुए हैं। भारतीय आर्य भाषाओं के उत्तरकालीन मध्य-युग के साहित्यिक विकास को समझने में इस साहित्य का विशेष महत्व है।

अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से अप० साहित्य का वर्गीकरण जैन अप० साहित्य तथा जैनेतर अप० साहित्य के रूप में किया जा सकता है। रचनाशैली की दृष्टि से जैन साहित्य भी प्रबन्ध तथा मुक्तक दो भागों में विभाजित हो सकता है।

जैन अपभ्रंश साहित्य —

(अ) प्रबन्ध साहित्य—अप० के प्रबन्ध ग्रंथों के रचयिता मुख्यतः जैन ही रहे हैं। कुछ इतर कवियों की रचनाएँ भी प्राप्त होती हैं, जिनमें मुलतान के मुसलमान कवि अद्दहमाण (अब्दुल रहमान, १२-१३ शताब्दी) का शृंगार-प्रधान काव्य संदेश रासक उल्लेखनीय है।

जैन प्रबन्ध-ग्रन्थों की रचना-शैली संस्कृत के रामायण-महाभारत आदि का ही अनुगमन करती है। जैनों ने अपने प्रबन्ध काव्यों को महापुराण, पुराण अथवा चरित प्रभृति संज्ञाएँ दी हैं।

महापुराण में जैन धर्म के ६३ महापुरुषों (२४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ बलदेव, ९ वासुदेव तथा ९ प्रति वासुदेव) के जीवन-चरित्रों का वर्णन किया जाता है। इसी कारण इनके नाम त्रिषष्ठि महापुरिस गुणालंकार अथवा त्रिषष्टि शलाका

पुरुष चरित, ऐसे मिलते हैं। महापुराण का गठन महाकाव्यों के ही अनुरूप होता है, परन्तु धार्मिक सिद्धान्तों के प्रतिपादन, अजैन मतों के खंडन तथा सदाचार के उपदेशों के अत्यधिक विस्तार के आवरण में उनका काव्य-तत्व पूर्ण रूप से उभर नहीं पाता, परन्तु धर्म की कठोर सीमाओं में रहते हुए भी प्रतिभावान कवियो ने-जहाँ भी उन्हें सुयोग प्राप्त हुआ है—कथानक को विराम देकर, वर्णन में काव्यात्मक सरसता लाने की पूर्ण चेष्टा की है। ऐसे कवियों में स्वयंभू तथा पुष्पदंत अग्रगण्य है।

अप० के प्रबंध ग्रंथ-कर्त्ताओं में सर्व-प्रथम स्वयंभू का नाम लिया जाता है। परन्तु स्वयंभू ने अपने स्वयंभू-छन्द ग्रंथ में प्राकृत-अपभ्रंश के कुछ कवियों के नाम तथा उदाहरण स्वरूप उनके काव्यों के अंश भी दिये हैं। इनमें अप० के कवियों के नाम इस प्रकार हैं—चउमुह, धुत्त, धनदेव, छइल्ल, अज्जदेव, गोइन्द, सुद्धसील, जिणआस तथा विअड्ढ। [1] इनमें चतुर्मुख तथा ,गोइन्द (गोविन्द) के उल्लेख कई स्थानों में प्राप्त होते हैं, अन्य के नहीं। गोविन्द का उल्लेख नयनंदी (११ वीं शताब्दी) तथा देवसेन गणि (१४ वीं शताब्दी) ने अपने ग्रंथों में किया है। [2]

ईशान नामक एक अन्य कवि बडे प्रसिद्ध हुए हैं। स्वयंभू ने इनका उल्लेख नहीं किया, परन्तु यह निश्चित है कि वे स्वयंभू से पूर्व के हैं। महाकवि बाण ने हर्ष चरित में इनका उल्लेख करते हुए उन्हें अपना परम मित्र माना है—ईशानः परम मित्रम्। हाल शातवाहन की गाथा सप्तशती में भाषा-कवि (अपभ्रंश) ईशान का नाम आया है। [3]

स्वयंभू के पउम चरिउ के प्रारम्भ में ईशान शयन विरचित जिनेन्द्र-रुद्राष्टक के सात छंद मिलते हैं। यदि ये वही ईशान कवि हैं, तो इनके जैन होने में कोई संदेह नहीं रह जाता। पुष्पदंत ने बाण के साथ इनका स्पष्ट उल्लेख किया है—

चउमुहु सयंभु सिरिहरिसु दोणु।
णालोइउ कइ ईसाणु बाणु। मपु० १।९।५

राहुल जी इसी आधार पर ईशान को अपभ्रंश का कवि मानते हैं। [4] जिनदत्त चरिउ के कर्त्ता पंडित लाखू या लक्खण (१२१८ ई०) ने भी बाण के साथ ईशान का उल्लेख किया है। [5] ईशान की कोई रचना अभी तक उपलब्ध नहीं है।

---

(१) जैन साहित्य और इतिहास, पृ० २०८

(२) सकल विधि निधान काव्य (नयनंदी) तथा सुलोचना चरिउ (देवसेन गणि)-अपभ्रंश साहित्य, पृ० १७५ तथा २१६ से उद्धृत।

(३) हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, भाग १, पृ० २५४

(४) दोहाकोश, पृ० ८।

(५) देखिए—अपभ्रंश साहित्य, पृ० २२९

चतुर्मुख अपभ्रंश के प्रसिद्ध कवि थे। अप० काव्य-शैली को निश्चित रूप देने में इनका महत्व है। प्रबंध-काव्यों में पद्धड़िया (पज्झटिका) छंद की लोक-प्रियता संभवतः उन्हीं के कारण हुई थी। स्वयंभू ने आभार-प्रदर्शन करते हुए कहा है कि मुझे छड्डणिय, दुवई तथा ध्रुवक से जड़ा हुआ पद्धड़िया छंद चतुर्मुख से ही प्राप्त हुआ है—

छड्डणिय-दुवई-धुवएहिं जडिय।

चउमुहेण समप्पिय पद्धड़िय। (रिट्ठणेमि चरिउ, १।१०)

यद्यपि चतुर्मुख की कोई रचना अभी तक प्रकाश में नहीं आई, परन्तु अन्य कवियों के कथनों के आधार पर उनकी रचनाओं के संबंध में कुछ निश्चित अनुमान अवश्य किये गये हैं।

जैन कवियों में पद्म चरित (रामायण), हरिवंश पुराण (महाभारत-कथा) तथा श्री पंचमी कथा अत्यंत लोक-प्रिय रही हैं। अनेक कवियों ने इनके आश्रय से काव्य रचे हैं। जैन होने के कारण चतुर्मुख द्वारा भी इन कथाओं पर काव्य लिखने की कल्पना की गई है। स्व० नाथूराम प्रेमी ने स्पष्ट रूप से चतुर्मुख द्वारा इन काव्यों के रचे जाने का संकेत किया है। स्वयंभू छंद में चतुर्मुख के ४-२,६-८३, ८६, ११२ संख्या वाले छंदों में राम-कथा के प्रसंग आये हैं। चतुर्मुख के पउम चरिउ का अनुमान प्रेमी जी ने इसी आधार पर किया है।[1] इसके अतिरिक्त पुष्पदंत ने महापुराणान्तर्गत अपनी रामायण के प्रारंभ में चतुर्मुख तथा स्वयंभू दोनों का स्मरण किया है—

कइराउ सयंभु महायरिउ।

तथा—चउमुहहु चयारि मुहाइं जहिं। मपु० ६९।१।७-८

ग्रंथारम्भ में एक बार इनका स्मरण कर लेने के पश्चात् रामायण प्रारम्भ करने के समय पुनः इनका स्मरण करना यह प्रकट करता है कि इन दोनों कवियों ने रामकथा अवश्य लिखी थी। स्वयंभू की रामायण-पउम चरिउ की सांगानेर वाली प्रति में भी इसी प्रकार चतुर्मुख की प्रशंसा में तीन छंद दिये गये हैं।[2]

चतुर्मुख के हरिवंश पुराण का प्रमाण जैन कवि धवल (१०-११ वीं शताब्दी) के हरिवंश पुराण में उपलब्ध होता है। धवल ने ग्रंथ आरम्भ करते हुए कहा है कि मैं चतुर्मुख और व्यास के आधार पर कृष्ण-पाण्डवों की कथा कह रहा हूँ।[3] दूसरा प्रमाण स्वयंभू के पउम चरिउ के प्रारम्भ के एक छंद से प्राप्त होता है,

---

(१) जैन साहित्य और इतिहास, पृ० २०९ की पाद टिप्पणी।

(२) वही, पृ० २११

(३) हरिपंडु सुआण कहा चउमुह वासेहिं भासिया जह या।

तह विरयमिलोय पियाजेणण णासेइ दंसणं पउरें। हरिवंश पुराण १।२

(अपभ्रंश साहित्य, पृ०१०४ से उद्धृत)

जिसमें कहा गया है कि जल-क्रीड़ा वर्णन में स्वयंभू तथा गोग्रहण कथा-वर्णन में चतुर्मुख अद्वितीय हैं।[1] इससे सिद्ध होता है कि चतुर्मुख ने निश्चय ही गोग्रहण-कथा लिखने में अपनी उत्कृष्ट काव्य-कला का परिचय दिया होगा। यह कथा पाण्डवों के राजा विराट् के यहाँ रहते समय दुर्योधन द्वारा गो-हरण करने की है और हरिवंश पुराण में ही आती है।

पउम चरिउ तथा हरिवंश पुराण के साथ ही चतुर्मुख ने श्री पंचमी कथा भी लिखी थी। इसका पता त्रिभुवन स्वयंभू (स्वयंभू के पुत्र) के एक प्रशस्ति-पद्य से लगता है, जिसमे उसने चतुर्मुख अथवा स्वयंभू के पंचमी चरित की काव्य-शैली का अनुकरण न करके स्वतंत्र रूप से पंचमी चरिउ रचने की घोषणा की है।[2]

इस विवेचन का निष्कर्ष यह है कि चतुर्मुख एक प्रतिभावान जैन कवि थे, जिन्होने अपने ग्रंथों द्वारा अप० के भावी प्रबंध-साहित्य को एक निश्चित दिशा प्रदान की। प्रबंध काव्यों की संधि-कड़वक शैली उन्हीं की देन मानी जाती है।[3] इनके द्वारा स्वच्छन्द पद्धड़ियाछंद प्रबंध काव्यों का एक मात्र प्रधान छंद स्वीकार किया गया है। इनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा के कारण ही स्वयंभू-पुष्प० जैसे सर्वश्रेष्ठ कवियों ने इन्हें अपना आदर्श माना है। अनेक परवर्ती कवियों ने अपने ग्रंथारम्भ में चतुर्मुख-स्वयंभू-पुष्पदंत की इस कवि-त्रयी का आदरपूर्वक स्मरण किया है।[4] उन्होंने इस नामांकन-क्रम में प्रायः चतुर्मुख को प्रथम स्थान दिया है। अप० के जैन प्रबंध साहित्य के अंतर्गत रामायण (पउम चरिउ) के प्रथम कर्त्ता होने का श्रेय चतुर्मुख को ही है, अतः इन्हें जैन-वाल्मीकि कहा जा सकता है।

खेद है कि ऐसे महाकवि का कोई ग्रंथ अद्यावधि उपलब्ध नहीं हो सका, परन्तु भविष्य मे जैन-भंडारों के शोध-प्रयास मे किसी अनुसंधित्सु को इनके ग्रंथ हाथ लग जाना असम्भव नहीं।

स्वयंभू अपभ्रंश के मूर्धन्य कवि थे। अपने जीवन-काल में ही उन्होने पर्याप्त कीर्ति तथा ऐश्वर्य अर्जित कर लिया था। उनके निकट सम्पन्न एवं सुखी परिवार का

(१) जलकीलाए सयभू चउमुह एवच गोग्गह कहाए
भद्दं च मच्छवेहे अज्ज वि कइणो ण पावंति। पउम चरिउ १।४

(२) पउम चरिउ, भूमिका पृ० १४४ प्रशस्ति पद्य सं० ४५

(३) जर्नल आफ ओरियंटल इंस्टीट्यूट, बड़ौदा भाग ८ (१)

(४) हरिषेण (धम्म परिक्खा, १।१) धवल (हरिवंश पुराण, १।३), नयनंदी (सकल विधि निधान काव्य १।५), वीर (जम्बू स्वामी चरिउ) श्रीचंद (रयण करंड, १।२), लखु (जिणदत्त चरिउ, १।६), देवसेन (सुलोयणा चरिउ, १।३) तथा धनपाल (बाहुबलि चरिउ, १।८)-देखिए-अपभ्रंश साहित्य

आनंद, शिष्यों का आदर, समसामयिक जैन विद्वानों का संरक्षण आदि सभी कुछ था। पुष्पदंत की यह उक्ति कि वे सहस्रों मित्रों तथा संबंधियों से घिरे रहते थे [1], स्वयंभू की लोक-प्रियता की ओर ही संकेत करती है। उनके जीवन में सांसारिक अभावों का कटुता न थी, इसीलिये उनके काव्य में विलास, उत्साह तथा आनंद के सुखमय दृश्यों की झलक मिलती है। डॉ० भायाणी ने इसी आधार पर उनकी तुलना कालिदास से की है।[2]

स्वयंभू यापनीय मत के जैन थे। इनका समय ६७७ ई० से ९६० ई० के बीच किसी समय रहा होगा।[3] इन्होंने धनंजय तथा धवलइ के आश्रय में रहते हुए, क्रमशः पउम चरिउ एवं रिट्ठणेमि चरिउ (हरिवंश पुराण) नामक प्रबन्ध काव्यों की रचना की थी। अप० के अब तक के प्राप्त साहित्य में ये राम तथा कृष्ण काव्य संबंधी प्रथम रचनाएं हैं।

पउम चरिउ के आरंभ में आत्म-निवेदन करते हुए स्वयंभू ने बुध-जनों से विनय की है कि मेरे समान कुकवि दूसरा नहीं है, न मैं व्याकरण जानता हूँ, न वृत्ति-सूत्र की व्याख्या ही कर सकता हूँ। न मैंने पंच महाकाव्यों (कुमार संभव, मेघदूत, रघुवंश, किरातार्जुनीय, माघ) को सुना है, आदि।[4]

पउम चरिउ मे जैन धर्मानुकूल राम-कथा का वर्णन है। जैन रामायण की इस परंपरा का आदि रूप हमें विमल सूरि के पउम चरिय (प्राकृत) में प्राप्त होता है। इसके पश्चात् यह परंपरा रविषेण (६७७ ई०) से होती हुई स्वयंभू में विकसित हुई है। रविषेण का पद्म चरित्र विमल के ग्रंथ का छायानुवाद ही है।[5] आगे चलकर हेमचन्द्र ने अपने त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र में इसी परंपरा का निर्वाह किया है।

पउम चरिउ में राम और सीता को मानवीय गुण-दोषों से पूर्ण चित्रित किया गया है। ग्रंथ में राम-वन-गमन तथा लक्ष्मण-मूर्च्छा के प्रसंग अत्यंत मार्मिक हैं। जल-क्रीड़ा वर्णन के अतिरिक्त स्वयंभू ने विलाप-वर्णन भी हृदय की संपूर्ण भावुकता के साथ किये हैं। उनके भरत तथा विभीषण के विलाप करुण रस के श्रेष्ठ उदाहरण हैं।

स्वयभू के द्वितीय ग्रंथ रिट्ठणेमि चरिउ (हरिवंश पुराण) में २२ वें तीर्थंकर नेमि का चरित्र तथा कृष्ण एवं महाभारत से संबद्ध कथाएँ हैं।

---

(१) कइराउ सयंभु महायरिउ, सा सयण सहासहिं परियरिउ। मपु० ६९ १।७

(२) पउम चरिउ, भूमिका पृ० १३

(३) वही, पृ० ९

(४) वही १।३।७

(५) जैन साहित्य और इतिहास, पृ०८९ तथा पउम चरिउ, भूमिका पृ० ४७

त्रिभुवन स्वयंभू इनके पुत्र थे। उन्होंने अपने पिता के इन ग्रंथों में कुछ न्यूनता देखकर स्वरचित अंश सम्मलित कर दिये। यद्यपि त्रिभुवन भी बड़े विद्वान् थे, परन्तु स्वयंभू के समान भाव तथा भाषा का सहज सौंदर्य उनमें नहीं है।

स्वयंभू के काव्य द्वारा अप० साहित्य को स्थायो शक्ति प्राप्त होने के साथ ही, उसके प्रति लोक-रुचि की वृद्धि भी हुई। चतुर्मुख ने संभवतः जिस मार्ग की रूप रेखा प्रस्तुत की थी, स्वयंभू ने निश्चय ही उसे प्रशस्त किया, जिसके फलस्वरूप भावी अपभ्रंश के कवियों को उस पर गमन करने में कोई कठिनाई नहीं हुई। अप० के परवर्ती कवि निःसंदेह उनके ऋणी रहेंगे।

स्वयंभू के पश्चात् अपभ्रंश के साहित्याकाश में एक ऐसे प्रकाश-पुंज का उदय हुआ, जिसकी प्रभा से दिक्-दिगन्त आलोकित हो उठा। वे थे—महाकवि पुष्पदंत। उनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा तथा उत्कृष्ट काव्य-कला की एक स्वर से सराहना की गई है और उन्हें अपभ्रंश का प्रथम श्रेणी का कवि माना गया है।[1]

पुष्पदंत ने महापुराण के अतिरिक्त णायकुमार चरिउ तथा जसहर चरिउ नामक प्रबन्ध काव्य रचे। उनके पश्चात् अनेक प्रबंध काव्य लिखे गये। धनपाल (११ वीं शताब्दी) कृत भविसयत्त कहा[2] ग्रंथ में श्रुत पंचमी व्रत का माहात्म्य वर्णित है। इसका कथानक लौकिक है। कथा के तीन खंडों में क्रमशः शृंगार, वीर तथा शान्त रसों की प्रधानता है। ग्रंथ का प्रारम्भिक अंश स्वयंभू के पउम चरिउ से बहुत कुछ प्रभावित है।[3]

कृष्ण कथा पर आधारित तीन हरिवंश पुराण और प्राप्त होते हैं। इनके रचयिता हैं—धवल, यशः कीर्ति (१५ वीं शताब्दी) तथा श्रुतकीर्ति (१४९६ ई०) इनमें धवल का ग्रंथ सबसे विशाल है। उसमें १२२ संधियाँ तथा १८ सहस्र पद हैं। इसका कथानक स्वयंभू के अनुरूप है। शेष साधारण रचनाएँ हैं।[4] यशः कीर्ति की एक अन्य रचना पाण्डव पुराण भी है। इसमें पाण्डवों की कथा है।

अपभ्रंश चरित ग्रंथों में कनकामर का करकंडु चरिउ, नयनंदी का सुदंसण चरिउ, धाहिल का पउम सिरी चरिउ (११३४ ई० से पूर्व) तथा हरिभद्र (१११६ ई०) का सनत्कुमार चरिउ उल्लेखनीय हैं। भगवती दास (१६४३ ई०) का मृगांक

---

(१) (अ) हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० १११

(ब) हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ० २१६ (स) अपभ्रंश साहित्य पृ० ३४

(२) गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज, संपादक दलाल तथा गुणे (१९२३)

(३) डॉ० भायाणी ने भवि० तथा पउम चरिउ के अनेक पदों की तुलना करके यह प्रभाव सिद्ध किया है। देखिए—पउम चरिउ, भूमिका पृ० ३६-३७

(४) विशेष परिचय के लिये देखिए—अपभ्रंश साहित्य पृ० १०२, १२२ तथा १२७

लेखा चरित्र संभवत: अपभ्रंश की सबसे अंतिम रचना है। भाषा की दृष्टि से इसमें प्राकृत, अपभ्रंश तथा हिन्दी-तीनों के रूप स्पष्ट दिखाई देते हैं।[1]

संस्कृत के दशकुमार चरित जैसे ग्रंथों की कथा-शैली के अनुरूप जैन-साहित्य में भी कथा-काव्यों का प्रणयन हुआ है। अप० को यह परंपरा प्राकृत से हो प्राप्त हुई। धर्म-प्रचार ही इन ग्रंथों का मुख्य उद्देश्य था। कवियों ने लौकिक कथाओं पर जैन धर्म की कलई चढ़ा कर उन्हें उपदेशात्मक बनाने का यत्न किया है। इन ग्रंथों में हरिषेण की धम्म परिक्खा तथा श्रीचंद्र का कथा कोश उल्लेखनीय हैं। धम्म परिक्खा ११ संधियों की रचना है। कवि ने ब्राह्मण धर्म पर कठोर व्यंग्य किये हैं तथा उनके पुराणों की निंदा करते हुए जैन धर्म के प्रति विश्वास उत्पन्न कराने की चेष्टा की है। कथा कोश ५३ लघु कथाओं का संग्रह है। सभी कथाएँ उपदेशात्मक हैं।

जैन मुक्तक साहित्य—

जैन मुक्तक साहित्य के मुख्य विषय तत्वज्ञान, ब्राह्मणों के विश्वासों का खंडन तथा स्वयं जैन-मत के अंतर्गत फैले हुए अन्धविश्वासों एवं आडम्बरों का विरोध करना है। इस आध्यात्मिक तथा आधिभौतिक काव्य की रचना में कवियों के विशाल-हृदय के दर्शन होते हैं। आत्म-ज्ञान के गंभीर प्रश्नों को सरल और सुबोध शैली में स्पष्ट किया गया है। दोहा इन रचनाओं का प्रधान छंद है।

इन रचनाओं में जोइंदु (१० वीं शताब्दी ई०) के परमात्म प्रकाश तथा योगसार[2] एवं रामसिंह (११ वीं शताब्दी ई०) का पाहुड़ दोहा[3] प्रमुख हैं। परमात्म प्रकाश में आत्मा-परमात्मा का स्वरूप, द्रव्य, गुण, पर्याय, सम्यग्दृष्टि के साथ मोक्ष-मार्ग, परम समाधि आदि विषयों का विवेचन है। इन विषयों को देखते हुए कुछ विद्वान् ग्रंथ पर उपनिषद् तथा गीता के परब्रह्मवाद के प्रभाव का संकेत करते हैं।[4] इसी प्रकार ग्रंथ के शिव-निरंजन आदि शब्द भी कवि पर शैव-तांत्रिक साधकों का प्रभाव सिद्ध करते हैं। योगसार का विषय भी परमात्म प्रकाश के ही अनुरूप है, परन्तु इस रचना की भाषा-शैली अपेक्षाकृत सरल तथा बोध-गम्य है।[5]

---

(१) अपभ्रंश साहित्य पृ० २४४

(२) संपादक-डॉ० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये, परमश्रुत प्रभावक मंडल बंबई द्वारा प्रकाशित, १९३७ ई०

(३) संपादक—डॉ० हीरालाल जैन, कारंजा जैन पब्लिकेशन सोसायटी द्वारा प्रकाशित

(४) हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, पृ० ३४६ (भाग १)

(५) उदाहरण-सो सिउ संकरु विण्हु सो, सो रुद्दवि सो बुद्ध।
सो जिणु ईसरु बंभु सो, सो अणंतु सो सिद्ध। योगसार, १०५

मुनि रामसिंह के पाहुड़ दोहा का मुख्य विषय आत्म-ज्ञान संबंधी है। ग्रंथ की शैली भी तांत्रिक प्रभाव से मुक्त नहीं है। अचिद्, अक्षर, रवि-शशि आदि शब्द तांत्रिकों के हैं, जैनों के नहीं। इसमें तीर्थ-यात्रा, मूर्ति-पूजा, तंत्र-मंत्र आदि के खंडन भी किये गये हैं।

इसी कोटि की एक अन्य रचना सुप्रभाचार्य (११-१३ शताब्दी) द्वारा रचित वैराग्य सार है। जैसा इसके नाम से ही प्रकट होता है, कवि ने इसमें वैराग्य का महत्व दिखलाया है। प्रारम्भ के दोहे में ही कहा गया है कि एक घर में बधाई बज रही है और दूसरे में दारुण रुदन हो रहा है, अतः वैराग्य क्यों नहीं धारण करते।[1]

नीति, सदाचार आदि की शिक्षा देने वाले ग्रंथों में देवसेन (९३३ ई०) का सावयधम्म दोहा तथा जिन वल्लभ सूरि (१२ वीं शताब्दी) का उपदेश रसायन रास उल्लेखनीय हैं।[2]

जैनेतर अपभ्रंश साहित्य—

इस साहित्य के अन्तर्गत हमें एक ओर बौद्ध सिद्धों का सहज-साधना सम्बन्धी रहस्यवादी काव्य प्राप्त होता है तथा दूसरी ओर धार्मिक आवरण से मुक्त, प्रेम तथा उत्साह की सरस भावनाओं का काव्य भी मिलता है। यह समस्त साहित्य प्रायः मुक्तक शैली में रचा गया है।

पूर्वी प्रदेशों के बौद्ध-सिद्धों की संख्या ८४ है[3] परन्तु उनमें काव्य-रचना द्वारा अपने सिद्धान्तों का प्रचार करने वाले बहुत कम थे। प्रसिद्ध सिद्ध कवियों में सरहपा (७६० ई०), शबरपा (७८० ई०), लुइपा (८३० ई०), कण्हपा (८४० ई०) के नाम उल्लेखनीय हैं।

सिद्धों का प्रादुर्भाव बौद्ध धर्म की महायान शाखा में हुआ है। तंत्र-मंत्र तथा मदिरा-मैथुन को ग्रहण करके वही वज्रयान के रूप मे विकसित हुआ। नालंदा तथा विक्रम शिला इनके प्राचीन केन्द्र रहे हैं। बंगाल के पाल राजाओं का संरक्षण प्राप्त कर इन सिद्धों ने अपने सिद्धान्तों का पूर्ण शक्ति से प्रचार किया। काया को क्लेश देना

---

(१) इक्कहिं घरे वधामणा अण्णहिं घरि धाहहि राविज्जइ।
परमत्थइ सुप्पउ भणइ किम वइराय भाउ ण किज्जइ।
(वैराग्य सार, १), अपभ्रंश साहित्य पृ० २७९ से उद्धृत।

(२) देखिए अपभ्रंश साहित्य, पृ० २८३ तथा २८८

(३) विवरण के लिये देखिए—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ७२—७३

तथा मोक्षादि के लिये बाह्य उपकरणों की सहायता लेना इन्हें रुचिकर न था। सहज भाव से चित्त सुस्थिर करके समरसता का दृष्टिकोण रखते हुए निर्वाण प्राप्त करना सिद्धों का प्रधान उद्देश्य था। मानव की स्वाभादिक आवश्यकताओं की पूर्ति साधना के लिये हितकर बताने के कारण, इनका मत सहज मार्ग कहलाता है।

सिद्धों का काव्य दोहा-कोशों तथा चर्यापदों के रूप में मिलता है। उनके काव्य की दो स्पष्ट धाराएं हैं। प्रथम के अन्तर्गत सहजयानी सिद्धान्तों का प्रचार हुआ है तथा द्वितीय में ब्राह्मणों के शास्त्र-ज्ञान, मन्दिर, तीर्थाटन आदि का उग्ररूप से खंडन किया गया है। जैन भी ब्राह्मण-विरोधी थे, परन्तु सिद्धों की भांति उग्र विरोधी नही। जैन तथा बौद्ध साहित्य मे एक सबसे बड़ा अन्तर यह है कि जैन कवि जहां प्राचीन परम्परा के पोषक हैं, वहां सिद्ध परम्परा के कठोर विरोधी हैं। जैन-काव्य संस्कृत की वर्णन-शैली, अलंकार आदि काव्यरूपों का अनुगमन करता है, परन्तु सिद्धों का काव्य हृदय की सहज अनुभूति से ही निर्मित हुआ है।

सरहपा तथा कण्हपा प्रसिद्ध सिद्ध कवि थे। इनके दोहा-कोश तथा चर्यापदों के संग्रह महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री, डॉ० शहीदुल्ला, डॉ० प्रबोधचन्द्र बागची तथा श्री राहुल सांकृत्यायन द्वारा प्रकाशित किये गये हैं।

राहुल जी के अनुसार अपभ्रंश का आदि काव्य सरह की रचनाओं के रूप में प्राप्त होता है। इसी आधार पर वे अप० के आदि कवि के रूप में सरह का नाम लेते हैं।[1] परन्तु सरह के समय के सम्बन्ध में अभी बड़ा मतभेद है। डॉ० शहीदुल्ला के अनुसार सरह का समय १० वीं शताब्दी है।[2] डॉ० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या सिद्धों का काल १००० ई० से १२०० ई० तक मानते हैं।[3]

सरह ने अत्यन्त कठोर शब्दों में शास्त्रज्ञ पंडितों, ब्राह्मण उपासकों, जैन-मुनियों, साधु-सन्यासियों आदि का खण्डन किया है। परम निर्वाण की प्राप्ति उन्होंने भोग में ही मानी है।

खाअन्त पिअंते सुहहिं रमन्ते णित्त पुण्णु चक्का वि भरंते।
अइस धम्म सिज्झइ पर लोअह णाह पाए दलीउ भअलोअह।[4]

कण्ह भी परम-सुख की प्राप्ति के लिये नारी की आवश्यकता पर बल देते हैं। उनके अनुसार समरसता केवल महामुद्रा से एकाकार हो जाने में ही संभव है—

---

१. दोहाकोश, पृ० ८
२. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, भाग १, पृ० ३५१
३. दि ओरिजिन एण्ड डेवलपमेंट आफ बंगाली लैंग्वेज, पृ० १२३
४. अपभ्रंश साहित्य, पृ० ३०२ से उद्धृत

जिम लोण विलिज्जइ पाणिएहि तिम घरिणी लइ चित्त ।
समरस जाई तक्खणे जइ पुणु ते सम चित्त । दोहा ३२[1]

योग-सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण के लिये सिद्धों ने अश्लील प्रतीकों तथा गूढ़ पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया है। मूलाधार-स्थित कुंडलिनी को जाग्रत करके ब्रह्मरन्ध्र में ले जाने की हठ-योग सम्बन्धी क्रियाएँ उन्होंने रूपकों द्वारा व्यक्त की हैं।[2] उन्होंने गुरु को भी महत्वपूर्ण स्थान दिया है।

संक्षेप में, सिद्ध-साहित्य यद्यपि काव्य-कला की दृष्टि से उच्चकोटि का नहीं है, परन्तु वह वस्तुतः यथार्थवादी काव्य है। सिद्धों ने जो कुछ भी उचित समझा, निःसंकोच सीधे-सीधे शब्दों में कहते गये हैं।

अपभ्रंश-काल के जैन तथा बौद्ध प्रभावों के अन्तर्गत रचे गये साहित्य के विवेचन के पश्चात् हमारी दृष्टि शेष उस साहित्य की ओर जाती है, जो धार्मिक प्रभावों से सर्वथा मुक्त है। यद्यपि इस साहित्य में अद्यावधि अधिक रचनाएँ उपलब्ध नहीं हैं, परन्तु युग की प्रवृत्ति को देखते हुए तथा रचनाओं की प्रौढ़ता की दृष्टि से भी, यह अनुमान होता है कि लौकिक साहित्य भी पर्याप्त मात्रा में लिखा गया होगा और अब उचित सुरक्षा के अभाव में उसका अधिकांश नष्ट हो गया।

इस कोटि की महत्वपूर्ण रचना संदेश रासक है। इसके रचयिता मुलतान के अद्दहमाण अथवा अब्दुल रहमान हैं। रचना के विषय तथा रचयिता-दोनों ही दृष्टियों से इसका विशिष्ट स्थान है। इस काल के केवल यही एक मुसलमान कवि हैं, जिनका ग्रंथ हमें प्राप्त है। इसका विषय किसी धार्मिक महापुरुष का जीवन चरित न होकर एक विरह-व्यथिता नारी का अपने प्रवासी पति को संदेश भेजना है। संदेश प्राप्त होने के पूर्व ही विरहिणी का पति गृह लौट आता है। इस प्रकार कथा का अंत हर्षोल्लास के वातावरण में होता है। रचना मेघदूत की भाँति ही एक दूत काव्य है।

लौकिक साहित्य की एक अन्य रचना विद्यापति (१३६०-१४४७ ई०) की कीर्तिलता है। इसकी रचना अवहट्ट (परवर्ती अपभ्रंश) में हुई है। कवि ने अपने आश्रयदाता कीर्तिसिंह का इसमें चरित्रांकन किया है। रचना ४ पल्लवों में विभाजित है। कहीं-कहीं गद्य का भी प्रयोग हुआ है। इसके पद-विन्यास तथा शब्द-योजना पर संस्कृत तथा प्राकृत का स्पष्ट प्रभाव है। अरबी-फारसी के शब्दों का प्रयोग इसकी एक विशेषता है।

अपभ्रंश साहित्य के उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इसका विशाल साहित्य अनेक विचार-धाराओं का प्रतिनिधित्व करता है, जिनका परिचय

---

१. हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, भाग १, पृ० ३५१ से उद्धृत
२. वही, पृ० ३५३ पर उद्धृत कण्ह का चर्यापद ३

प्राप्त करना, भारत के मध्ययुगीन सांस्कृतिक इतिहास को समझने के लिये अति आवश्यक है।

अन्त में अपभ्रंश के उस साहित्य का निर्देश कर देना भी उचित होगा जो संस्कृत-प्राकृत के ग्रंथों में यत्र-तत्र बिखरा हुआ मिलता है, परन्तु उसके रचयिताओं के कोई उल्लेख नहीं हैं। यह साहित्य मुक्तक रूप में हैं और इसके वर्ण्य-विषय हैं-रति, उत्साह, नीति वैराग्य, अन्योक्ति आदि। इस काव्य के अन्तर्गत हृदय की वास्तविक अनुभूति प्राप्त होती है। विक्रमोर्वशीय नाटक के चतुर्थ अंक का उल्लेख हम पूर्व ही कर चुके हैं। इसके अतिरिक्त निम्नलिखित ग्रन्थों में यह काव्य उपलब्ध होता है—

(१) हेमचन्द्र के शब्दानुशासन का अष्टम् अध्याय, छन्दोनुशासन के कुछ पद्य तथा कुमारपाल चरित (अन्तिम सर्ग, पद्य १४-८२)
(२) सोपप्रभ का कुमारपाल प्रतिबोध
(३) मेरुतुंगाचार्य का प्रवंध-चिंतामणि
(४) राजशेखर सूरि कृत प्रवंध-कोश
(५) प्राकृत पैंगलम्
(६) पुरातन प्रवंध संग्रह

इन ग्रन्थों में सरस काव्य के दर्शन हेमचन्द्र तथा मेरुतुंगाचार्य के प्रवंध चिंतामणि में संग्रहीत मुंज के दोहों में होते हैं। इनमें शृंगार के दोनों पक्षों के वर्णन अंकित किये गये हैं। इन पद्यों में से सुभाषितों का एक सुन्दर संकलन किया जा सकता है।

अध्याय

२

कवि की समसामयिक परिस्थितियाँ
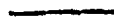
किसी भी युग का सत्साहित्य अपने समय की कतिपय प्रवृत्तियों को अपने कलेवर में समाहित करके चलता है। ये प्रवृत्तियाँ तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक आदि परिस्थितियों के अनुरूप ही जन्म लेती है। अपने कवि की समसामयिक इन परिस्थितियों का परिचय प्रस्तुत अध्ययन में सहायक होगा, अतएव इस अध्याय में हम उन्हीं का विवेचन कर रहे हैं।

राजनीतिक परिस्थिति (ईसा की ७ वीं शताब्दी से १० वीं शताब्दी तक)

ईसा की ७ वीं शताब्दी में भारत दो शक्तिशाली साम्राज्यों में विभक्त था। उत्तर भारत में हर्षवर्धन तथा दक्षिण में चालुक्य राजकुल के पुलकेशिन द्वितीय अपने अपने भूभाग के अधिपति थे। दोनों के साम्राज्यों की सीमायें नर्मदा पर आकर मिलती थीं। अनेक बार दोनों ही राजाओं की तलवारें एक दूसरे की ढालों पर झनझना कर रुक गई थीं, परन्तु कोई किसी से विजित न हुआ।

हर्ष की मृत्यु के पश्चात् उत्तर भारत में जो विघटन हुआ, उससे देश की संयुक्त शक्ति का बड़ा ह्रास हुआ कश्मीर और सिंध पृथक राज्य बन गये। उधर पश्चिमी राजस्थान तथा मालवा में गुर्जर-प्रतिहारों ने अपनी शक्ति बढ़ाई। इसी प्रकार मगध में गुप्त, बंगाल में गौड़ तथा प्राग्ज्योतिष (आसाम) में वर्मन वंश के राजाओं ने अपनी सत्ता स्थापित की। फलतः पश्चिम की ओर से अरबों के आक्रमणों को रोकने की शक्ति किसी एक राजा में न रह गई। इसी अवसर का लाभ उठाकर अरबों ने ७१० ई० में सिन्ध पर अधिकार कर लिया।

इधर कान्यकुब्ज में मौखरी वंश के राजा यशोवर्मन ने अपनी शक्ति बढ़ाकर दूर-दूर तक ख्याति प्राप्त की। वह विद्वान और कला प्रेमी भी था। उत्तर रामचरित के कर्ता भवभूति तथा गौडवहो (प्राकृत) के रचयिता वाक्पतिराज जैसे विद्वान, उसके दरबार की शोभा बढ़ाते थे। ८०६ ई० में उसकी मृत्यु के पश्चात् आयुध नामान्तधारी-वज्र, इंद्र तथा चक्र राजाओं ने कान्यकुब्ज की लक्ष्मी का भोग किया। इन सभी राजाओं ने कान्यकुब्ज की समृद्धि में बड़ा योग दिया, जिससे उसकी कीर्ति दूर तक फैल गई। देश के अन्य प्रदेशों के शासक उसे हस्तगत करने का स्वप्न देखने लगे।

इस समय भारत में तीन और प्रवल शक्तियाँ थी-वगाल के पाल, मालवा के गुर्जर-प्रतिहार तथा दक्षिण के राष्ट्रकूट। कान्यकुब्ज के लिये इनमे परस्पर होड़ लग गयी। युद्ध भी हुए, परन्तु अन्त में गुर्जर प्रतिहार राजा नागभट्ट (द्वितीय) ने कान्यकुब्ज की राज-लक्ष्मी को वरण किया।

कान्यकुब्ज में प्रतिहारों का आधिपत्य होने के पश्चात् उस वंश में आगे चलकर कुछ वड़े प्रतापी राजा हुए। नागभट्ट के पौत्र मिहिर भोज ने समस्त मध्य-देश, मालवा, गुजरात, सौराष्ट्र आदि जीतकर अपने साम्राज्य का विस्तार किया। उसे पाल तथा राष्ट्रकूटों से भी लोहा लेना पड़ा, परन्तु कोई उसे न दवा पाया। सुलेमान नामक अरव यात्री ने उसकी समृद्धि का वर्णन किया है।[1] उसका पुत्र महेन्द्र पाल भी प्रतापी राजा था। काव्य मीमांसा, कर्पूर मंजरी आदि ग्रन्थों के रचयिता राज शेखर इसी की राजसभा में थे। परन्तु महेन्द्र पाल के पश्चात प्रतिहारों की शक्ति क्षीण होने लगी। सन् १०१८ ई० में गजनी के तुर्कों के आक्रमण से त्रस्त होकर राज्यपाल ने उनसे संधि करली। प्रतिहारों की जर्जर शक्ति अधिक दिनों तक न ठहर सकी और सन् १०३६ ई० में इस प्रतापी वंश का अंत हो गया। कुछ समय वाद वहाँ गाहड़वाल राजाओं ने अपना प्रभुत्व स्थापित किया।

परमार—

प्रतिहारों का सूर्य अस्त होने के पूर्व ही अवसर पाकर उनके सामंत मालवा के परमारो ने अपनी शक्ति का विस्तार करना प्रारंभ कर दिया। अहमदावाद के हरसोला नामक स्थान से प्राप्त अभिलेख के अनुसार परमारों को राष्ट्रकूटों से संवंधित माना जाता है।[2] सन् ६५० ई० के लगभग सीयक (श्री हर्ष) ने इस वंश को स्थापना की। मालवा को अपने अधिकार में करके, इसने राष्ट्रकूटों से भी युद्ध किये। उस समय मान्यखेट के सिंहासन पर अत्यंत प्रतापी राजा कृष्णराज (तृतीय) आसीन थे। उनके सामने सीयक को दवना पड़ा। परन्तु वह एक महत्वाकांक्षी व्यक्ति था। चुपचाप अपनी शक्ति अर्जित करता हुआ, अवसर की प्रतीक्षा करने लगा। कुछ समय पश्चात् सन् ६६८ ई० में कृष्णराज की मृत्यु होने के उपरान्त उनके भ्राता खोटि-ग्गदेव सिंहासनारूढ़ हुए। ये उतने योग्य न थे। अतः सीयक ने सन् ६७२ ई० में मान्यखेट पर भयंकर आक्रमण करके उसे नष्टभ्रष्ट कर दिया। राजा उदयादित्य की उदय पुर प्रशस्ति से भी ज्ञात होता है कि श्री हर्ष ने खोटिग्ग की राजलक्ष्मी युद्ध में छीन ली थी :—

'श्री हर्षदेव इति खोटिग्गदेव लक्ष्मीजग्राह यो युधिनगादसमप्रताप:[3]

---

(१) हिस्ट्री आफ इण्डिया-इलियट, भाग १, पृ० ५

(२) एपिग्राफिका इंडिका, जिल्द १६, पृ० २३६-२४४

(३) वही, जिल्द १, पृ० २३५-२३७ श्लोक १२

उसी वर्ष सीयक के देहांत होने के पश्चात उसका विद्वान् पुत्र मुंज धारा के सिंहासन पर बैठा। वह वीर होने के साथ ही साहित्य प्रेमी भी था। उसके आश्रय में पद्मगुप्त, धनजय आदि अनेक विद्वान् रहते थे। परन्तु इस वंश का सबसे प्रतापी राजा भोज हुआ है। उसे अनेक युद्ध भी करने पड़े। उसका दरबार सदैव विद्वानों से भरा रहता था। वह स्वयं भी बड़ा विद्वान् था। साहित्य, अलंकार आदि विषयों पर उसने अनेक ग्रंथ रचे। धारा में उसने भोजशाला नामक एक विद्यालय की स्थापना की थी। आजकल उस स्थान पर खिलजी सुल्तानों द्वारा निर्मित मसजिद है। भोज के पश्चात् परमार वंश श्री विहीन हो गया।

राष्ट्रकूट—

हमारे कवि पुष्पदंत राष्ट्रकूट राजधानी मान्यखेट में १४ वर्ष तक रहे। वहीं पर उन्होंने अपने ग्रंथ रचे, अतः इस वंश का इतिहास किंचित विस्तारपूर्वक देना अनुचित न होगा।

हर्ष की मृत्यु के पश्चात् उत्तर भारत की राजसत्ता वस्तुतः दक्षिण में राष्ट्रकूटों के पास आ गयी थी। जिस पुलकेशिन चालुक्य ने हर्ष के भी दाँत खट्टे कर दिये थे, वही राष्ट्रकूटों द्वारा पराजित हुआ। चोल, गुर्जर-प्रतिहार, पल्लव, गंग आदि राजा सदैव राष्ट्रकूटों से डरते रहते थे। यहाँ तक कि सुदूर सिंहल भी उनकी आज्ञा मानता था। कई बार उत्तर में गंगा-जमुना के दोआबे तक आक्रमण करके उन्होंने अनेक दुर्गों पर अधिकार कर लिया था।[1]

दक्षिण के प्राचीन अभिलेखों में राष्ट्रकूट नाम किसी अधिकारी का था, जो राष्ट्र का सर्वोच्च व्यक्ति था। बहुत संभव है कि राष्ट्रकूट वंश का पूर्व पुरुष इसी वर्ग का रहा हो और कालांतर में इसी कारण उसके वंश के सभी राजा राष्ट्रकूट नामधारी हुए। आगे चलकर पेशवाओं को भी ऐसी ही प्रसिद्धि मिली थी।[2] लगभग २२५ वर्षों तक दक्षिण का शासन-सूत्र इन्हीं राष्ट्रकूटों के हाथ में रहा। इतने दीर्घकाल तक भारत के किसी भी राज-वंश ने संपूर्ण कीर्ति के साथ राज्य नहीं किया। मौर्य, गुप्त, चालुक्य आदि सभी २०० वर्षों के भीतर ही समाप्त हो गये थे।

लगभग १४ राष्ट्रकूट राजाओं में केवल तीन ही अयोग्य कहे जा सकते हैं। शेष सभी योग्य तथा पराक्रमी शासक थे। इनमें भी ध्रुव प्रथम) तथा कृष्ण (तृतीय) अत्यन्त प्रसिद्ध हुए।

ध्रुव (प्रथम) ने अपने शासन काल में साम्राज्य का बड़ा विस्तार किया। उसने भारत के समस्त राजाओं को झुका दिया था। हिमालय से लेकर कुमारी तक

(१) हिन्दी काव्य-धारा, राहुल, पृ० २४—२५

(२) एजेंण्ट इंडिया, आर० सी० मजुमदार, पृ० २९५

के किसी राजा में उसके विरुद्ध शस्त्र उठाने का साहस न था।[1] गोविंद (तृतीय) ने भी उत्तर भारत पर आक्रमण करके नागभट्ट, धर्मपाल, चक्रायुध आदि राजाओं को समय-समय पर परास्त किया था। उसने दक्षिण के विद्रोही गंग, पल्लव, पाण्ड्य तथा केरल के राजाओं को हराकर पल्लव राजधानी कांची पर अधिकार कर लिया था।[2]

अमोघ वर्ष (प्रथम) योग्य शासक होने के साथ ही कवि भी था। कविराज-मार्ग नामक रचना उसी की बताई जाती है। अपने ६० वर्ष के दीर्घ राज्य काल में उसने अनेक राजाओं को परास्त कर साम्राज्य को सुदृढ़ बनाया। उसमें धार्मिक सहिष्णुता भी थी। वह जैन तथा ब्राह्मणों के देवी-देवताओं की पूजा करता था। कहते हैं कि एक बार महामारी के समय उसने जन-रक्षा के हित अपनी उँगली काटकर देवी को भेंट कर दी थी। अंत में उसने जैन-धर्मानुसार तुंगभद्रा में जीवित जल-समाधि लेली थी।[3]

कृष्णराज (तृतीय) अपने वंश के अंतिम प्रतापी राजा थे। इनकी बहन गंग कुमार बुट्टुग को ब्याही थी। दक्षिण अभियान में यही सेनापति के रूप में राष्ट्रकूट सेना का संचालन करता रहा। उसने अनेक युद्धों में सफलता प्राप्त की. परन्तु उसकी सबसे महत्वपूर्ण विजय चोलकुमार राजादित्य को पराजित करने में हुई। बुट्टुग ने ही हाथी पर सवार राजादित्य को मारा था। इस घटना का उल्लेख पुष्पदंत ने भी किया है।[4] सम्राट् ने प्रसन्न हो बनवासी के इलाके उसे प्रदान किये थे।

अपने पिता अमोघ (तृतीय) के वृद्ध होने के कारण, कृष्णराज को युवराज अवस्था में ही समस्त राज-काज देखना पड़ता था। इसी अवस्था में उन्होंने अनेक महत्वपूर्ण कार्य किये। युद्ध द्वारा उन्होंने चित्रकूट तथा कालिंजर के दुर्ग जीतकर राज्य में सम्मिलित किये थे। पिता की मृत्यु तक, इस प्रकार वे एक योग्य सेनापति बन गये थे।

यद्यपि कृष्ण ने उत्तराधिकार मे अपने पूर्वजों द्वारा अर्जित एक विशाल साम्राज्य प्राप्त किया था, फिर भी उन्होंने अपने पराक्रम से उसे और सुदृढ बना दिया। उनके आतंक से गुर्जर-प्रतिहार राजाओं ने तो जीत की आशा ही छोड़ दी थी। पाण्ड्य, चोल, चेर तथा सिंहल तक के प्रदेश अपने अधीन करके उन्होंने

---

(१) तथा (२) एंशेण्ट इंडिया, पृ० ३८९—९०

(३) वही, पृ० ३९१

(४) तोडेप्पिणु चोडहो तणउ सीसु—मपु० १।३।२

रामेश्वरम् में राष्ट्रकूट पताका फहराई।[1] अपने अंतिम समय में कृष्णराज पुनः उत्तर की ओर गये, पश्चात् गुजरात विजय करके गुर्जरराज की उपाधि धारण की।[2]

कृष्णराज की मृत्यु के उपरान्त सीयक द्वारा मान्यखेट का पतन होना राष्ट्रकूटों के लिये अत्यन्त घातक सिद्ध हुआ। लगभग संपूर्ण नगर नष्ट-भ्रष्ट कर डाला गया। संभवत महामात्य भरत का गृह भी, जहाँ कवि पुष्पदंत निवास करते थे, धराशायी कर दिया गया था। कवि किसी प्रकार बच गये, परन्तु इस घटना से उन्हें हार्दिक पीड़ा हुई, जिसको एक प्रशस्ति में उन्होंने मार्मिकता के साथ व्यक्त किया है :—

दीनानाथ घनं सदा बहुजनं प्रोत्फुल्ल वल्ली वनं।
मान्याखेटपुर पुरंदरपुरी लीलाहरं सुंदरम्।
धारानाथनरेन्द्र कोपशिखिना दग्धं विदग्धंप्रियं।
क्वेदानीं वसतिं करिष्यति पुनः श्रीपुष्पदंतः कविः।
(मपु० संधि ५० की प्रशस्ति)

९७२ ई० के मध्य में कर्क (द्वितीय) राजा बना। चालुक्यों ने उसे मैसूर तक भगा दिया, जहाँ वह ९९१ ई० तक एक छोटे से भूभाग पर शासन करता रहा। पश्चात् इंद्र (चतुर्थ) को भी प्रतिकूल परिस्थितियों का सामना करना पड़ा, जिनसे व्यथित होकर अंत में वह गंगराज मारसिंह के साथ जैन श्रमण हो गया।[3]

इस प्रकार अत्यंत करुण तथा नाटकीय ढंग से साम्राज्य का अंत हुआ। ९६७ ई० में कृष्णराज नर्मदा से लेकर दक्षिण के समस्त भूभाग के स्वामी थे, परन्तु उनकी मृत्यु के केवल छः वर्ष के भीतर ही उनका साम्राज्य स्वप्न की वस्तु बन गया।

समग्र रूप से राष्ट्रकूट योग्य शासक थे। इनके पूर्ववर्ती आंध्रों और चालुक्यों के राज्य बड़े अवश्य थे परन्तु इतने प्रतापी वे कभी नहीं हो सके। किसी समय भी दक्षिण को इतना राष्ट्रीय गौरव नहीं प्राप्त हुआ, जितना राष्ट्रकूटों के समय में। उत्तर के राजा सदैव दक्षिण-विजय के स्वप्न देखा करते थे, परन्तु इनके समय में न तो बंगाल के पालों और न मालवा के परमारों ने अपनी इच्छा पूरी कर पायी। प्रतिहार तो कई बार अपनी ही भूमि पर इनसे पराजित हुए। तीन बार राष्ट्रकूट सेना विन्ध्य मेखला को पार कर उत्तर की ओर गयी, पर बदले में इनके यहाँ कोई नहीं घुस सका। सुलेमान ने सत्य ही कहा है कि राष्ट्रकूट भारत के अत्यन्त शक्तिशाली राजा थे।[4]

---

(१)-राष्ट्रकूट एन्ड देअर टाइम्स, डॉ० अल्तेकर, पृ० ११९

(२) वही, पृ० १२०

(३) एंशेण्ट इंडिया, पृ० ३९३-९४

(४) राष्ट्रकूट एण्ड देअर टाइम्स, पृ० ४१३-४१४

राष्ट्रकूटों का शासन-प्रबन्ध सुव्यवस्थित था। सारा राष्ट्र विषय तथा भुक्तियों में बंटा हुआ था, जिनका प्रबन्ध विषयपति, भोगपति जैसे अधिकारी करते थे। सम्राट् स्वयं इनकी नियुक्ति करता था।[१] राज्य में अनेक राज्यपाल थे, जिनके अधिकार में बड़ी सेनायें रहती थीं। यद्यपि इनके पद महामंडलेश्वर, महासामंताधिपति जैसे होते थे, परन्तु ग्राम-दान तक का अधिकार इन्हें न था। मान्यखेट की केन्द्रीय सरकार इन पर पूर्ण नियन्त्रण रखती।[२]

प्रत्येक महत्वपूर्ण विषय पर सम्राट् अपनी मन्त्रि-परिषद् को सलाह लेता था। कृष्ण का मन्त्री नारायण उसका दाहिना हाथ था। उसे पंच-महाशब्द की उपाधि प्राप्त थी। सामान्यतः मन्त्रियों का निर्वाचन असाधारण वीरों में से किया जाता था। कुछ मन्त्री वंशगत भी होते थे। हमारे कवि के आश्रयदाता महामात्य भरत ऐसे ही वंश में उत्पन्न हुए थे। अन्य पदाधिकारियों में धर्मकुश, भाण्डारिक आदि होते थे। तलवर (कोतवाल) तथा स्थपितरत्न (सविण्णाणिणा) के उल्लेख पुष्पदंत ने भी किये हैं।[3]

राष्ट्रकूट सेना में ब्राह्मण, जैन आदि सभी होते थे। ये सैनिक वंशपरम्परा से चले आते थे। सेना में पैदल, हाथी और घोड़े होते थे। रथों का प्रयोग नहीं होता था। प्रधान सैनिक कार्यालय मान्यखेट में ही था।

राजाओं की युद्ध-यात्रा में स्त्रियाँ भी साथ रहती थीं। अमोघवर्ष (प्रथम) का जन्म विन्ध्य के जंगलों में हुआ था। उस समय उसके पितामह मध्य भारत पर आक्रमण कर रहे थे।[४]

जनता में राज-भक्ति की भावना बडी प्रबल थी। लोग राजा की मृत्यु होने पर उसके साथ ही चिता में जलने को उद्यत रहते थे।[५]

सामाजिक तथा सांस्कृतिक परिस्थिति

मध्य युग के समाज में वर्ण-व्यवस्था वर्तमान थी। यद्यपि जैन तथा बौद्ध इसके विरोधी थे, परन्तु अब तक वे भी कुछ-कुछ उसके निकट आ गये थे। जैन मुनि कहते थे कि गृहस्थ अपनी कन्या अजैनों को न दें।[६] विभिन्न मतावलम्बियों में पार-

---

(१) राष्ट्रकूट एण्ड देअर टाइम्स, पृ० १७६

(२) वही, पृ० १७४-७५

(३) मपु० ८२। १०। ८ तथा १४। ६। ८

(४) राष्ट्रकूट एण्ड देअर टाइम्स, पृ० २५३

(५) वही, पृ० १८६

(६) हिन्दी काव्य-धारा, पृ० ३६

स्परिक विवाह सम्बन्ध अब बन्द होने लगे थे। इस प्रकार जैन भी वर्ण-व्यवस्था के कुछ-कुछ समर्थक बन गये।

क्षत्रियों की अनेक जातियाँ अब वाणिज्य-व्यापार करने लगीं। जिन्होंने कभी अपनी तलवार से शत्रुओं के दाँत खट्टे किये थे वे, अब बाँट तोलने लगे, नगर-सेठ बन गये। उनके यहाँ अब धन की वर्षा होने लगी। उन्हीं के प्रयत्नों से दिलवाड़ा (आबू) जैसे कला-पूर्ण जैन मन्दिर बने।

समाज में अब जैन-निर्ग्रंथों का भी अनादर होने लगा। अच्छे परिवारों के बालक नग्न रहने में हिचकने लगे। गृहस्थ भी दिगम्बर साधुओं को देखने में हिचकते थे।[1] इस प्रकार श्वेताम्बर सम्प्रदाय ऊपर उठने लगा।

धीरे-धीरे जैन भी ब्राह्मणों की सामाजिक रूढ़ियों में बँधने लगे। तीर्थङ्करों को ईश्वर की संज्ञा दी जाने लगी। उनके पुराण, कथा-वार्ता आदि सभी अंगों पर ब्राह्मणों का प्रभाव परिलक्षित होता था। पुरोहितों एवं महन्तों का रहन-सहन राजसी ठाट-बाट का बन गया था।[2]

समाज के प्रत्येक क्षेत्र में ब्राह्मणों का सम्मान था। शिक्षा-विद्या में वे ही बढ़े-चढ़े थे। अनेक कार्य उनके लिये सुरक्षित रखे जाते थे। वे राज-काज में भी भाग लेते थे। प्रायः मन्त्री ब्राह्मण ही होते थे। पुष्पदन्त के आश्रयदाता भरत मन्त्री ब्राह्मण ही थे।

ब्राह्मणों की भांति क्षत्रियों का भी समाज में ऊँचा स्थान था। राज्य के शासक होने के साथ ही सेना के योद्धा भी ये ही होते थे। ब्राह्मणों के सम्पर्क में रहते हुए, इनमें शिक्षा का प्रसार भी अधिक हो गया था। अनेक राजा बड़े विद्वान् हुए हैं, जिनमे हर्ष, चौहान विग्रहराज, चालुक्य विनयादित्य, भोज तथा राष्ट्रकूट अमोघवर्ष (प्रथम) के नाम उल्लेखनीय हैं। अलमसऊदी ने लिखा है कि मद्यपान करने वाला राजा शासन के योग्य नहीं समझा जाता था।[3]

सम्पन्न लोग विशाल भवनों में रहते थे, जिनके भोजन, शयन, अतिथि आदि के कक्ष पृथक् होते थे।

संस्कार तथा रीति-रिवाज

विवाह-यद्यपि इस काल में अनुलोम विवाह होते थे, परन्तु वे अधिक प्रचलित न थे। सामान्यतः समान पक्ष देखकर ही विवाह होते थे।[4] अन्तर्जातीय विवाह

---

(१) हिन्दी काव्य-धारा, पृ० ३७
(२) वही, पृ० १५
(३) मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, पृ ४४
(४) राष्ट्रकूट एण्ड देअर टाइम्स, पृ० ३३६

भी होते थे। स्वयं कवि राज शेखर ने एक कायस्थ स्त्री से विवाह किया था।[1] मामा की पुत्री से विवाह करने की प्रथा बहुत प्रचलित थी।[2] कृष्ण (द्वितीय) के पुत्र तथा इन्द्र ने ऐसे ही विवाह किये थे। गुजरात में यह प्रथा आज भी प्रचलित है।

ब्राह्मण अन्य तीनों वर्णों में विवाह कर सकते थे, परन्तु उनकी कन्या का विवाह किसी ब्राह्मण के साथ ही होता था। आगे चलकर केवल उपजातियों में ही विवाह सम्बन्ध वैध माने जाने लगे।[3]

क्षत्रियों में प्राचीन काल से ही स्वयंवर प्रथा उत्तम समझी जाती रही है, परन्तु इस युग में कन्यायें अपने मन से भले ही किसी को चुन लेती होंगी, स्वयंवर नहीं हुए। पुत्री के पिता परिवार सहित शुभ लग्न देखकर वर के नगर जाते थे और वहाँ पुर के बाहर किसी उद्यान में उन्हें ठहराया जाता था।[4] विवाह मण्डप अत्यन्त भव्य बनाया जाता था। वेदी पर वर-कन्या बैठते थे।[5] बारात में वर घोड़े पर चढ़ कर बाजे-गाजे के साथ आता था।[6] कभी-कभी रत्न-जटित शिविका में भी उसे लाया जाता था।[7] उसके साथ समवयस्क कुमार भी चलते थे।[8] विवाह संस्कार के समय हवन होते थे। वर, कन्या का हाथ अपने हाथ में लेता था। उपस्थित जन-समुदाय साधु-साधु कहते थे। वर का पिता कन्या को मुद्रिका भेंट करता था।[9]

विवाह-स्थल पर मंगल कलश रखे जाते थे। जलसिंचन किया जाता था। वर-कन्या के घृत-लेपन करने की प्रथा थी। पुरंध्री इस अवसर पर नृत्य करती थीं।[10] भाट स्तुति-गान करते थे तथा वेश्यायें रम्य गीत गाती थीं।[11]

वेश-भूषा

इस काल में दक्षिण के पुरुष सामान्यतः दो धोतियों से काम चलाते थे। धोतियों की किनारियाँ सुन्दर होती थीं। वे एक धोती पहनते तथा दूसरी शरीर पर डाल लेते थे। कुछ लोग पगड़ी भी बांधते थे। व्यापारी-वर्ग रुई के वस्त्र तथा कुरता

---

(१) राष्ट्रकूट एण्ड देअर टाइम्स, पृ० ३३८
(२) वही, पृ० ३४३ तथा णाय० ७। ६। ११
(३) मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, पृ० ४६-५०
(४) जस० १।२६।७-८
(५) मपु० २७। ६
(६) जस० १। २६। १६
(७) मपु० ८८। २३। १४
(८) मपु० २७। १
(९) जस० १। २५। २५-२६
(१०) १।१८।२, ३७ णाय०
(११) जस० १।२७।१

पहनते थे। वस्त्रों की विभिन्नता तथा सुन्दरता पर भी ध्यान रखा जाता था। मार्को पोलो ने लिखा है कि सारे मलाबार में एक भी दर्जी न था।[१] वस्तुतः उनसे कम कार्य लिया जाता होगा।

राजा-नरेश आदि रत्न जटित कारण्डाकार मुकुट, केयूर, हार, रेशमी कटि-वस्त्र तथा जरी के काम के परिधान धारण करते थे।

जैन श्वेताम्बर साधु श्वेत अथवा पीत वस्त्र पहनते थे।

ऋतु के अनुसार वस्त्रों में परिवर्तन होते रहते थे, जैसा आधुनिक समय में भी होता है।

साधारण स्त्रियाँ रंगीन साड़ी पहनती थीं, जो आधी पहनी तथा आधी ओढ़ी जाती थी। बाहर जाने के समय वे उत्तरीय धारण करती थीं। साधारण वस्त्र भी आकर्षक ढंग से पहने जाते थे।

नृत्य के समय स्त्रियाँ लहंगा जैसा जरीदार वस्त्र पहनती थीं। इसे पेशस् कहते थे। दरबारी वेश्याएं महीन तनजेब का कटि-वस्त्र पहनती थीं।[२]

विधवाएं श्वेत वस्त्र पहनती थीं। पुष्पदंत ने उनके लाल वस्त्र धारण करने का उल्लेख किया है।[३] वे आज कल की भाँति चूड़ियाँ भी नहीं पहनती थीं। कांची (कटि-आभूषण) धारण करना भी उन्हें वर्जित था।[४] प्रायः विधवाओं के शिर के केश कटवा दिये जाते थे।[५]

स्त्रियाँ विभिन्न प्रकार के केश-शृंगार करती थीं। शिर के पीछे केशों का जूड़ा बांधा जाता था। उसमें सुगंधित पुष्प तथा मोतियों की लड़ें लगायी जाती थीं। चमेली पुष्प के तेल का भी व्यवहार किया जाता था।[६]

शृंगार के समय दर्पण में मुख देखकर नारियाँ घुसिण-पंक लगाती थीं।[७] तमिल नारियाँ कटि के खुले भाग में चन्दन का लेप करती थीं।

पुरुष भी बड़े-बड़े केश रखते थे। ब्राह्मण शिर तथा दाढ़ी के केश कटवाते थे, परन्तु क्षत्री लम्बी दाढ़ी-मूँछ रखते थे। साधारण लोगों में भी दाढ़ी रखने की प्रथा थी।[८] अनेक पैरों में जूते भी नहीं पहनते थे।[९]

---

(१) राष्ट्रकूट एण्ड देअर टाइम्स, पृ० ३४८
(२) वही, पृ० ३६४
(३) मपु० ७३।२,३-६
(४) मपु० ८७।१।६
(५) मपु० ७१।२०।१
(६) जस० ३।२१।१५
(७) मपु० ६०।३।१३
(८) राष्ट्रकूट एण्ड देअर टाइम्स, पृ० ३४६
(९) मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, पृ० ५२

स्नान से पूर्व विलेपन (उबटन) किया जाता था, पश्चात् भूषणादि धारण किये जाते थे।[१] आभूषण पहनने का चलन पुरुष-स्त्रियों दोनों में था। हुएनसांग ने लिखा है कि राजा और संपन्न व्यक्ति मूल्यवान आभूषण धारण करते थे। मणियों, रत्नोंके हार, मुद्रिकाएं तथा बड़ी-बड़ी स्वर्ण मालाएं पुरुषों के आभूषण थे। स्त्रियाँ रत्न-जटित भुजबंध तथा मकराकृति स्वर्ण-कुंडल पहनती थीं। वे कर्ण-वेधन करा कर सोने की कड़ियाँ तथा पैरों में सादे या घुंघुरूदार पायल पहनती थीं। हाथों में शंख या हाथी दांत की चूड़ियाँ पहनी जाती थीं। उरस्थल खुले अथवा किसी पट्टी या चोली से ढंके रहते थे। नर-नारी दोनों ही पुष्पों की मालाएं धारण करते थे।[२]

सामान्य विश्वास

समाज में ज्योतिष का बड़ा महत्व था, विशेष रूप से शनि देवता का। लोग शनि-दृष्टि से बचने का उपाय करते थे। राजदरबारों में ज्योतिषी रहते थे, जो राजा को स्वप्न-फल आदि बतलाते थे।[३] उत्तम लग्न या घड़ी में कार्यारम्भ करने का परामर्श देते थे। राजा को उनकी भविष्यवाणी पर बड़ा विश्वास था।[४]

जीवित सर्प पकड़ना बड़ा पवित्र माना जाता था। झाड़-फूंक, तंत्र-मंत्र भी प्रचलित थे। कुछ स्त्रियाँ अपने पराङमुख पतियों पर वशीकरण की औषधियाँ फेंकती थीं। लोगों में स्वामिभक्ति इतनी प्रबल थी कि वे राजा के पुत्र होने के लिये अपना शिर भेंट करने की शपथ तक लेते थे।[५]

वृद्ध जन पवित्र दिनों में अग्नि-प्रवेश करते या जल-समाधि ले लेते थे। चंदेलराज धंग ने अपनी वृद्धावस्था में प्रयाग में जल-समाधि ली थी।[६] हरद्वार, काशी, पुष्कर आदि तीर्थों में लोगों की बड़ी श्रद्धा थी।[७]

शत्रु-नाश के लिये राजा जादू-टोने करवाते थे। गौडवहो में देवी की तुष्टि के लिये मनुष्यों और पशुओं की बलि देने का वर्णन है। इस काल में भी यह क्रूर प्रथा कुछ-कुछ अवश्य थी।[८] जसहर चरिउ में भी भैरवानन्द कापालिक देवी कात्यायिनी की तुष्टि-हेतु मनुष्यों तथा पशुओं की बलि देने का प्रस्ताव करता है।[९]

---

(१) वरण्हाण विलेवण भूसणाइं। मपु० १।६।७

(२) मध्य० भार० संस्कृति, पृ० ५५-५६

(३) मपु० ६।३।१३-१४

(४) मपु० ८५।१८।८-१०

(५) राष्ट्रकूट एण्ड देअर टाइम्स, पृ० ३५२

(६) वही, पृ० ३५३

(७) मध्य भार० संस्कृति पृ० १६८

(८) वही, पृ ६१-६२

(९) जस० १।७।८-१०

आमोद-प्रमोद

इस समय आमोद-प्रमोद के अनेक साधन प्रचलित थे। राजाओं की विलासिता ने विभिन्न कलाओं को जन्म दिया।

राजाओं के मनोरंजन के मुख्य साधन मृगया, जल-विहार, संगीत-नृत्य, साहित्यिक गोष्ठियाँ, द्यूत क्रीड़ा आदि थे। स्वयंभू ने राष्ट्रकूट सम्राट् ध्रुव के समय देखे हुए जल-विहारों के सुन्दर वर्णन किये हैं।

सामंत अपने मनोरंजन के लिये पानी की भांति धन व्यय करते थे। उनके स्नान-कुंडों की भित्तियों तथा स्तंभों को रत्नादि से अलंकृत किया जाता था। इसके अतिरिक्त उपवन क्रीड़ा तथा चित्रकला द्वारा भी मनोरंजन होता था। अनेक प्रकार के पशु-पक्षियों को पिंजड़ों में बंद कर रखा जाता था। भोग-विलास की सामग्रियों को जुटाने में बहुत प्रयत्न किया जाता था। जिस प्रकार भी सुख प्राप्त हो, वह सब करना उन्हें अभीष्ट था।[1]

अन्य देशों की दुर्लभ वस्तुओं का संग्रह भी किया जाता था।

राजदरबारों में कलाकार, नर्तकियाँ, कवि, चित्रकार, संगीतज्ञ तथा विदूषक रहते थे।

नागरिक अपनी सामर्थ्य के अनुसार आमोद-प्रमोद करते थे। जीवन की एकरूपता को समाप्त करने के यत्न में समय-समय पर मेलों के आयोजन होते थे। इन मेलों में अनेक प्रकार के खेल-तमाशे होते थे। दूर-दूर के व्यापारी नाना प्रकार की वस्तुएँ विक्रय हेतु लाते थे।

नगरों में शालाएँ स्थापित की जाती थीं। संगीत शालाओं में नृत्य-गान होते थे। स्त्रियों को नृत्य की शिक्षा दी जाती थी। मन्दिरों में नर्तकियाँ होती थीं। नाट्य शालाओं (प्रेक्षागृहों) में नाटक हुआ करते थे।

लोग शुक-सारिका आदि पक्षी पालते थे। मुर्गों, तीतरों, मेढ़ों तथा हाथियों के युद्ध देखकर बड़ा मनोरंजन होता था। प्रसिद्ध मल्लों की कुश्तियाँ भी होती थीं। इन्हें देखने के लिये विशाल जन-समुदाय एकत्र होता था।[2]

नर-नारी नौकाओं पर जल-विहार करते थे। इसका बड़ा प्रचार था। वर्षा-काल में दोलोत्सव मनाया जाता था। वाटिका-उपवन भी लोकप्रिय आमोद-स्थल थे। इनमें नर-नारी जाते थे। जल यन्त्रों द्वारा कुंकुम-जल का छिड़काव किया जाता था।[3]

शतरंज तथा चौपड़ के खेलों द्वारा भी लोगों का बड़ा विनोद होता था।

---

(१) हिन्दी काव्य-धारा, पृ० १३-१५

(२) मध्य० भार० संस्कृति, पृ० ५१-५३

(३) मपु० ७० । १५ । ८, णाय० ३ । ११, ३ । ८ । ११

द्यूत-क्रीड़ा भी प्रचलित थी। द्यूतगृहों में सभी को जाने की स्वतन्त्रता थी। राज्य उन पर नियन्त्रण रखता था। उनसे कर भी लिया जाता था। बड़े-बड़े धनाढ्य वहाँ खेलते थे। राजा-रानियाँ भी परस्पर द्यूत-क्रीड़ा करती थीं।[२]

राजा तथा राजकुमार दल-बल सहित मृगया के लिये जाते थे। उनके साथ कुत्ते भी होते थे।[३] शिकार के लिये वन सुरक्षित रखे जाते थे।

उस समय चौवाण (चौगान) नामक खेल भी अत्यन्त लोकप्रिय था।[४]

नट भी स्थान-स्थान पर अपने प्रदर्शन किया करते थे।[५]

कलाओं का उत्कर्ष

ईसा को ५वीं-६ ठी शताब्दी भारतीय कला का मध्याह्न काल था। ७ व शताब्दी तक उसका स्तर वैसा ही बना रहा, परन्तु ८ वीं शताब्दी से उसका ह्रास होना प्रारम्भ हो गया। हमारे आलोच्य काल में यह पतन स्पष्ट दिखायी देता है विशेषरूप से चित्र तथा मूर्तिकला में। ९ वीं शताब्दी के पश्चात् तो अच्छे चित्र तथा मूर्तियाँ अपवाद स्वरूप ही हैं।[६] प्राचीन मूर्तियो की अपेक्षा इस काल की तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ प्राय. भाव-शून्य ही हैं।

आबू के जैन मन्दिरों में अवश्य ही कला का भव्य प्रदर्शन है। संगमरमर पर खुदे हुए कमल, मधुच्छत्र तथा बेल-बूटे सराहनीय हैं। मन्दिर की छतों पर खुदी हुई अनेक दृश्यावलियाँ बरबस नेत्रों को आकर्षित कर लेती हैं। परन्तु वाह्यरूप से अलंकृत इन्हीं मन्दिरों में स्थापित तीर्थंकरों की मूर्तियाँ देखकर बड़ी निराशा होती है।

स्थान-भेद से मन्दिरों का निर्माण-शैली में भेद है। कृष्णा के उत्तर में आर्य तथा दक्षिण में द्रविड़ शैली के मन्दिर हैं। जैन मन्दिरों में विपुल धन व्यय किया गया है। खजुराहो, नागदा, मुक्तागिरि तथा पलीताना के जैन मन्दिर भारतीय शिल्प के उत्तम नमूने हैं। मथुरा की कंकाली टीले वाली जैन मूर्तियाँ भी महत्वपूर्ण हैं।[७]

संगीत की ओर भी इस काल में बहुत ध्यान दिया गया। वर्तमान समय में प्रचलित अनेक राग-रागिनियों के नाम तथा वर्गीकरण पूर्व ही होने लगे थे। इस समय उनकी लोकप्रियता खूब बढ़ी।

---

(१) णाय० ३। १२। ४
(२) णाय० ३। १३। ४, मपु० ५०। ९। ६
(३) मध्य० भार० सं० पृ० ५३
(४) मपु० ९१। १६। १०
(५) मपु० ८२। १६। ६—णं दि दिट्ठउ णच्चंतु णडु
(६) हिन्दी काव्य धारा, पृ० ४३-४४
(७) मध्य० भार० संस्कृति, पृ० १७७-७९

राजा-सामंत तथा कवि-गण संगीत-ज्ञान को गौरव की वस्तु ही नहीं, वरन् जीवन के लिये आवश्यक समझते थे। राजकुमारियों की शिक्षा में संगीत अनिवार्य विषय होता था, परन्तु दंडो के समय की भांति वे सर्वसाधारण के सम्मुख नृत्यादि के प्रदर्शन नहीं करती थीं। यह केवल वेश्याओं का कार्य था।

वीणा इस समय लोकप्रिय वाद्य मानी जाती थी।[1] दरबारों में इसके प्रदर्शन होते थे। वीणा-वादकों के दल इधर-उधर घूमा करते थे।

स्त्री-पुरुषों के युगल नृत्य इस समय अपनी प्रारम्भिक अवस्था में थे। पुरातन रूढ़ियों को मानने वाले राजाओं को यह प्रिय न था। उन्हें ऐसे नृत्य प्रिय थे जिनमें दोनों ही स्त्रियां हों अथवा दोनों पुरुष। महापुराण में राजा वसुपाल ऐसा ही नृत्य देखने का अनुरोध करता है।[2]

चित्रकार भी इस समय थे। वे राजकुमारियों के चित्र बनाकर राजाओं को भेंट करते थे।[3] राजकुमारों के चित्र देखकर राज-पुत्रियां भी मोहित होती थीं।[4] चित्रों द्वारा विवाह भी निश्चित किये जाते थे।[5]

नारी का स्थान

समाज में नारी का स्थान ऊंचा था। पर्दा-प्रथा न थी। रानियां राज-दरबारों में आती थीं। वे युद्ध में राजाओं के साथ भी जाती थीं। अंतः पुर में प्रवेश करने के कठोर नियम थे।[6]

सामान्यतः अर्धांगिनी के रूप में नारी आदर की पात्री थी। यज्ञादि में उसका होना अनिवार्य माना जाता था। स्त्री-शिक्षा पर भी ध्यान दिया जाता था।

शिक्षा

इस समय बड़े-बड़े नगरों में शिक्षा का प्रसार था। मान्यखेट में अनेक शिक्षा-केन्द्र थे। राज-कुलों में संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाएँ पढ़ाई जाती थीं।[7] उपाध्याय राजपुत्रों को काव्य, साहित्य, नाट्य, ज्योतिष, संगीत आदि विषय पढ़ाते थे। घोड़े-हाथी की सवारी करना, धनुष-बाण एवं तलवार चलाना तथा युद्ध-कौशल

---

(१) णाय० ३ । ५ । ८

(२) विण्णि वि णारिउ विण्णि वि णरवर, जइ णच्चंति होंति ता मणहर।
मपु० ३२ । ३ । १

(३) मपु० ९८ । ६ । १८

(४) णाय० ८ । ५

(५) णाय० १ । १६ । १-३

(६) मध्य० भार० संस्कृति, पृ० ६५-६६

(७) मपु० ५।१८।६

को शिक्षा भी उन्हें दी जाती थी। जैन मुनि आध्यात्मिक तथा सदाचार की शिक्षा देते थे। राजनीति तथा अर्थशास्त्र भी उनकी शिक्षा के विषय थे।[1]

स्त्री-शिक्षा के सम्बन्ध में विशेष ध्यान दिया जाता था। बाण ने राज्य श्री की शिक्षा के लिए दिवाकर मिश्र नामक शिक्षक के रखे जाने का उल्लेख किया है। मण्डन मिश्र की पत्नी द्वारा शंकराचार्य को निरुत्तर किये जाने की बात प्रसिद्ध ही है। कवि राजशेखर की पत्नी भी विदुषी थी। सामान्यतः स्त्रियों को काव्य, गणित, संगीत, चित्रकला आदि विषय सिखाये जाते थे।[2]

अन्य वर्णों के बालकों की अपेक्षा ब्राह्मणों के बालकों की शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाता था। उच्च शिक्षा के विषय वेद-पुराण, साहित्य, मीमांसा, धर्म-शास्त्र आदि थे। राष्ट्रकूट ध्रुव ऐसा ही शिक्षित था।[3]

कृषि, वाणिज्य तथा व्यवसाय

इस समय जनसंख्या आज का अपेक्षा कम थी। खेत-जंगल अधिक थे। मुख्य उपजों में ज्वार-बाजरा तथा तिलहन—महाराष्ट्र में, कपास—गुजरात, कर्नाटक, खानदेश तथा बरार में और नारियल, सुपारी, चावल कोंकण में खूब होता था। सिंचाई के लिए राजाओं के नाम से बड़े-बड़े तालाब थे।[4]

मान्यखेट, मदुरा, वंजि (मलाबार तट), वातापी, उज्जयिनी आदि बड़े नगर तथा व्यापारिक केन्द्र थे। ये नगर सड़कों द्वारा जुड़े हुए थे। व्यापार स्थल तथा जल दोनों मार्गों से होता था। णायकुमार चरिउ में एक वणिक् के नौका द्वारा गिरिनगर जाने का उल्लेख प्राप्त होता है।[5] व्यापारी बहुत धनी थे। वे लंका से व्यापार करके प्रचुर धन लाते थे।[6]

आर्थिक स्थिति

मध्यकालीन भारत में कृषि-व्यवसाय उन्नतशील था। पुष्पदंत ने मगध आदि के ग्राम्य-जीवन के जो वर्णन किए हैं, उनमें कुछ अतिरंजना भले ही हो, परन्तु वास्तविकता से भी इनकार नहीं किया जा सकता। कवि ने लहलहाते हुए धान के खेतों का उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त गोधन-विचरण, गोपाल-बालकों के इक्षुरस पीने आदि के वर्णन सुखी ग्राम्य-जीवन की ओर ही संकेत करते हैं।[7]

---

(१) जस० १।२४ (२) मध्य० भार० संस्कृति, पृ० ६५-६६

(३) राष्ट्रकूट एण्ड देअर टाइम्स, पृ० ३९९-४००

(४) मध्य० भार० सं०, पृ० १६४ (५) णाय० १।१५।५-६

(६) लंकाईहिं दीविहिं संचरिवि, अण्णण्ण पसंडिभंडु भरिवि। मपु० ८२।७।२

(७) जहिं संचरंति बहुगोहणाइं ....। जहिं पिक्कसालिछेत्तें घणेण....।
गोवालबाल जहिं रसु पियंति....। मपु० १।१४।३, ५-६

सामान्यतः देश आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न था। शिल्प-व्यवसाय आदि उन्नतशील थे, परन्तु राष्ट्र की सम्पत्ति का वितरण असमान था। आय का अधिकांश राजा-सामन्त भोगते थे। राजधानियों में विलास की वस्तुओं पर विपुल धन व्यय किया जाता था। राजा के सम्बन्धियों का भार भी राज्य-कोश ही वहन करता था।[१]

उस समय प्रायः युद्ध होते रहते थे। विशाल सेनाओं के ऊपर अत्यधिक धन व्यय होता था।[२] धनवानों के दास-दासियों की संख्या अधिक थी। ढोरों की भाँति वे अपने स्वामी की सम्पत्ति माने जाते थे।[३]

धार्मिक परिस्थिति

वस्तुतः इस युग में तीन मुख्य धर्म थे—ब्राह्मण, जैन तथा बौद्ध। इनमें ब्राह्मण तथा जैन दक्षिणी भूभाग में विशेष महत्व के थे। राज्य की ओर से सभी धर्मों को अपना स्वाभाविक विकास करने की स्वतन्त्रता थी। उनके अपने-अपने मठ-मन्दिर आदि थे। साधु-महात्मा स्वच्छन्दता से घूम-घूमकर अपने मतों तथा सिद्धान्तों का प्रचार करते थे।[४]

जैन तथा ब्राह्मणों के साम्प्रदायिक ग्रन्थों में अवश्य ही एक दूसरे के खण्डन किये जाते थे, किन्तु सामान्य जनता में वैसी कट्टरता तथा विषमता न थी। इस धार्मिक समन्वय के फलस्वरूप लोग एक दूसरे के अति निकट आ गये थे। यद्यपि लिंगायत मत द्वारा जैन धर्म को धक्का अवश्य लगा, परन्तु उससे उसके व्यापक प्रसार तथा प्रचार में कोई अन्तर नहीं आया।[५]

इस प्रकार जैसे-जैसे जनता कट्टरता त्याग कर धर्म को सामान्य भूमि पर आती गयी, वैसे-वैसे आचार-विचारों में भेद कम होता गया। ब्राह्मणों की अनेक बातों का जैन धर्म पर प्रभाव पड़ा।[६] हिन्दुओं के मन्दिरों की भाँति जैनों के मन्दिर भी पूज्य माने जाते थे। तीर्थङ्करों की पूजा, विष्णु अथवा शिव की भाँति श्रद्धा की वस्तु थी। धीरे-धीरे अंग-भोग तथा रंग-भोग पूजा का उनमें भी प्रचलन हो गया।[७] इस प्रकार परम त्यागियों का जैन धर्म मन्दिरों में सोने-चांदी की विपुल राशि से जगमगा उठा।

---

(१) हिन्दी काव्य धारा, पृ० १३-१६ (भूमिका)
(२) वही, पृ० १७
(३) वही, पृ० १८
(४) लिटरेरी सर्किल आफ महामात्य वस्तुपाल, सांडेसरा, पृ० २७५
(५) राष्ट्रकूट एण्ड देअर टाइम्स, पृ० ३०९
(६) द्रष्टव्यः इस निबन्ध का अध्याय ५
(७) राष्ट्र० एण्ड देअर टाइम्स, पृ० ३१४

दान की तिथियाँ जैनों द्वारा स्मृति-पुराणों के आधार पर रखी जाती थीं। संक्रान्ति पर अनेक दान दिए जाते थे। गोविन्द (तृतीय) ने विजय सप्तमी पर, ध्रुव (द्वितीय) ने कार्तिकी पर्व पर एवं कृष्ण (द्वितीय) ने महावैशाखी पर बड़े-बड़े दान दिए।[१]

यद्यपि बौद्धों की भाँति जैन भी जाति-विरोधी थे, पर इस समय वे भी ब्राह्मणों की भाँति जाति-व्यवस्था को मानने लगे। एक जैन मुनि ने कहा था कि जैन गृहस्थ अजैनों को अपनी कन्याएँ न दें।[२] इसी प्रकार ब्राह्मणों पर जैनों का भी प्रभाव पड़ा। प्राचीन काल से हिन्दुओं में बालकों को विद्यारम्भ श्री गणेशाय नमः से कराया जाता रहा है, परन्तु जैन प्रभाव के कारण "ओ३म् नमस्सिद्धेभ्यः" से विद्यारम्भ कराने की प्रथा चल पड़ी और यह प्रथा आज भी उत्तर में वर्तमान है।[३]

तत्कालीन अभिलेखों से ज्ञात होता है कि जिन-स्तवन के साथ विष्णु-स्तवन भी किया जाता था। राजा नागवर्मा ने जिन तथा विष्णु दोनों के मन्दिर बनवाये।[४] धार्मिक सहिष्णुता का यह महान उदाहरण है। अन्य नरेश भी ऐसे ही थे। गुजरात शाखा के कर्क सुवर्णवर्ष पक्के शैव थे, परन्तु जैन-विहारों को उन्होंने बहुत सी भूमि दान दी थी। राष्ट्रकूट अमोघ (प्रथम) भी वैदिक तथा जैन दोनों धर्मों को मानता था। दंतिवर्मन ने हिन्दू होते हुए बौद्ध मठों को ग्राम दान दिए। इसी प्रकार अक्का देवी ने जैन, बौद्ध, शैव तथा वैष्णव मतानुयायियों की बड़ी सहायता की थी।[५]

वस्तुतः दक्षिण के जैन धर्म के इतिहास में यह युग बड़े महत्व का था। राजा-प्रजा दोनों को जैन धर्म के सदाचार के प्रति श्रद्धा थी। यही कारण है कि अनेक जैन मुनि तथा कवियों को राजाश्रय प्राप्त हुआ। जैन मुनि अन्य धर्मावलम्बियों के साथ वाद-विवाद भी करते थे। ७८० ई० में जैन पंडित अकलंक देव ने कांची नरेश हेमशीतल के सामने एक वाद-विवाद में बौद्धों को हरा दिया। इससे प्रभावित होकर राजा परिवार सहित जैन हो गया।[६]

राष्ट्रकूट तथा गुर्जर-सोलंकी राजाओं का जैन धर्म पर बड़ा अनुराग था, परन्तु उन्होंने अहिंसा को ताक पर रखकर शासन के कार्यों में तलवार को कभी नहीं छोड़ा।

---

(१) राष्ट्रकूट एण्ड देअर टाइम्स पृ० ३०२
(२) हिन्दी काव्य धारा, पृ० ३६।
(३) राष्ट्र० एण्ड देअर टाइम्स पृ० ३१०।
(४) वही, पृ० २७४।
(५) वही, पृ० २७३।
(६) वही, पृ० ३०७-३०६।

अनेक चालुक्य तथा गंग राजा स्वयं जैन हुए। मारि सिंह (द्वितीय) कट्टर जैन था। उसके मन्त्री चामुण्ड राय ने चामुण्ड पुराण नामक जैन ग्रंथ रचा था। उसी ने श्रवण बेलगोल में प्रसिद्ध गोम्मटेश्वर की मूर्ति बनवायी थी।[१]

दिगम्बर जैन श्रमण एक स्थान से दूसरे स्थान तक घूमा करते। वे नगर के बाहर किसी उपवन में ठहरते थे। राजा पुर के नर-नारी सहित उनके दर्शनार्थ जाता था।[२] वे चतुर्मास एक ही स्थान पर व्यतीत करते थे।

ब्राह्मण

ब्राह्मण धर्म के अनुयायियों की संख्या इस समय सबसे अधिक थी, परन्तु वे भी अब प्राचीन वैदिक धर्म से च्युत हो गये थे। शंकराचार्य के मठों तथा पीठों की ओर उनकी अधिक श्रद्धा न रह गयी थी। यज्ञ तथा पशुबलि जैनों के कारण त्याज्य हो गये थे। कई राष्ट्रकूटों ने श्रौत की अपेक्षा स्मार्त्त पद्धति चलाने के लिए ब्राह्मणों को दान दिये। केवल अमोघ तथा गोविन्द (चतुर्थ) इसके अपवाद थे।

राष्ट्रकूटों की सनदों से ज्ञात होता है कि ब्राह्मणों में वैष्णव तथा शैव प्रधान थे।[३] चालुक्य राजवंश तो परम्परा से शैव था, पीछे उसमें जैन तत्व भी आ गये।[४]

तीर्थों पर लोगों की बड़ी श्रद्धा थी। प्रभास के शिव मन्दिर को जाने वाले भक्त-गण पेट के बल चलकर जाते थे। काशी तथा रामेश्वरम् प्रधान तीर्थ माने जाते थे। गाय को पूज्य माना जाता था। उसका मारना अपराध था।

धार्मिक उत्थान के लिए व्रत तथा दान का बड़ा महत्व था। भूमिदान बहुत बड़ा दान माना जाता था। दान-पत्रों में स्मृतियों तथा पुराणों के वाक्य अंकित किये जाते थे।

इस समय देवी-देवताओं के अनेक मन्दिर थे। लोग वहां पूजा-भजन करने जाते थे। देव-मूर्तियों के आभूषणों पर विपुल धन व्यय होता था। चोलों के राज राजेश्वर के मन्दिर में बहुमूल्य आभूषण थे। एलौरा के मन्दिरों पर कृष्ण (प्रथम) ने बहुत धन लगाया था। गोविन्द (चतुर्थ) ने ४०० ग्राम तथा ३२ लक्ष मुद्राएँ मन्दिरों को दान में दी थीं।[५]

वर्णाश्रम व्यवस्था भी इस समय प्रचलित थी। पुष्पदन्त ने अनेक स्थलों पर

---

(१) राष्ट्रकूट एण्ड देअर टाइम्स पृ० ३११।
(२) णाय० १।१६।
(३) राष्ट्रकूट एण्ड देअर टाइम्स, पृ० २८६-८७।
(४) लिटरेरी सर्किल आफ महामात्य वस्तुपाल, पृ० १९।
(५) राष्ट्रकूट एण्ड देअर टाइम्स, पृ० २८८-९०।

इसका उल्लेख किया है।[1] जैन साधु चारों वर्णों में भिक्षा माँगते थे। ब्राह्मणों का सम्मान राजा प्रजा दोनों करते थे।

बौद्ध

देश के पूर्वी भागों में बौद्ध धर्म का बड़ा प्रचार हुआ। परन्तु दक्षिण में उतना नहीं। जैन धर्म के सम्मुख वह प्रायः अशक्त ही था। बौद्ध-साधना का विकृत रूप कुछ न कुछ जैन धर्म में भी प्रवेश कर रहा था। तत्कालीन बौद्ध धर्म का आदर्श, ब्रह्मचर्य तथा पवित्र भिक्षु जीवन से हटकर मठों-विहारों के गुह्य समाज, भैरवी चक्र एवं स्त्री-पुरुषों के मुक्त यौन सम्बन्धों में सीमित हो गया। कन्हेरी, काम्पिल्य तथा डम्बल दक्षिण में बौद्धों के केन्द्र थे।[2]

इस्लाम

अरब से घोड़ों का व्यापार करने के लिए आने वाले मुसलमान व्यापारी बहुत पहले से ही दक्षिण आते-जाते रहते थे। धीरे-धीरे उनमें से अनेक यहीं बसने लगे। इधर सवर्ण हिन्दुओं की कट्टरता के कारण नीच समझी जाने वाली जातियों के साथ अत्याचार होते ही रहते थे। इस कारण कुछ लोगों ने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया था।[3]

राज्य की ओर से उन्हें अपना धर्म मानने तथा मसजिदें आदि बनवाने की पूर्ण स्वतंत्रता थी। हिन्दुओं के प्रभाव से वे भी भारतीय वेश-भूषा में रहते थे तथा भारतीय भाषाएं बोलते थे। संदेश रासक (अपभ्रंश काव्य) के रचयिता अब्दुल रहमान (११ वीं शताब्दी ई०) के काव्य में भारतीय आत्मा के स्पष्ट दर्शन होते हैं।[4]

साहित्यिक परिस्थिति

कविता तथा कवि दोनों को उचित प्रोत्साहन के लिये आश्रय की आवश्यकता सदैव रही है। इस सामंत युग में प्रोत्साहन तथा जीविका दोनों ही दृष्टियों से कवियों को राजाश्रय ही एकमात्र अवलंब था। फलतः राजदरबारों में कवियों का महत्वपूर्ण स्थान दिखायी देता है। राज-सामंत केवल आश्रय ही नहीं देते थे, वरन् उनकी रचनाओं का समुचित आदर भी करते थे। कुछ राजा तो स्वयं विद्वान् थे। गुजरात के सिद्धराज जयसिंह तथा कुमारपाल, मालवा के मुंज तथा भोज एवं मान्यखेट के राष्ट्रकूट-सभी कवियों का सम्मान करते थे। राजाश्रय में ही रहकर हेमचन्द्राचार्य

---

(१) चत्तारि वण्ण सण्णिहिय धम्मि.... । णाय० १।८।३ ।
 तथा मपु० ६६।२१।७, ६६।२।१७-१८ ।

(२) राष्ट्रकूट एण्ड देअर टाइम्स, पृ० ३०८ ।

(३) हिन्दी काव्य धारा, पृ० ३१ ।

(४) हिन्दी काव्य धारा, पृ० ४३

तथा चंदवरदायी ने साहित्य-साधना की थी। शान्ति पुराण के रचयिता पोन्न कवि को 'उभय कवि चक्रवर्तिन्' की उपाधि राष्ट्रकूट दरबार से प्राप्त हुई थी।

इस युग में देश के तीन क्षेत्रों में अत्यधिक साहित्य निर्माण हुआ। पूर्वी क्षेत्र में बौद्ध सिद्धों ने दोहा कोश तथा चर्यापद रचे। पश्चिमी तथा दक्षिणी क्षेत्रों में जैन कवि अपनी मधुर वाणी द्वारा सामाजिक मल को धोते हुये अहिंसा एवं सदाचार का पाठ पढ़ाते रहे। सिद्धों ने आश्रय की विशेष आवश्यकता नहीं समझी, परन्तु जैन कवियों में प्राय: सभी किसी न किसी राज-दरबार अथवा मंत्री-अमात्यों की छत्र-छाया में रहे। साहित्य-प्रेमी राजाओं का उल्लेख पूर्व ही किया जा चुका है। अमात्यों में धवलक्क के वस्तुपाल बहुत प्रसिद्ध हुए हैं। उन्होंने अनेक ज्ञात-अज्ञात कवियों को आश्रय तथा प्रोत्साहन दिया। इसी कवि-वत्सलता के कारण उन्हें लघु भोज भी कहा जाता है।[1] इसी प्रकार राष्ट्रकूट कृष्ण (तृतीय) के महामात्य भरत ने हमारे आलोच्य कवि को आश्रय दिया था। पश्चात् गृहमंत्री नन्न ने भी अपने पिता का अनुसरण किया।

संस्कृत की प्रधानता—

यद्यपि इस समय तक आते आते संस्कृत जन-सामान्य से दूर हटकर विद्वानों तक ही सीमित रह गयी थी, परन्तु उसका प्राचीन गौरव अभी तक अक्षुण्ण था। अधिकांश राज-काज इसी में होता था। शिलालेख, दानपत्र तथा ताम्रलेख इसी में लिखे जाते थे।[2] इसी कारण राज-सभाओं में एक निम्नकोटि के संस्कृत कवि को जो सम्मान प्राप्त था, वैसा उच्चकोटि के प्रतिभावान अपभ्रंश के कवि को न था।[3] राजाओं का विश्वास था कि देश भाषा (अपभ्रंश) में रचित उनकी कीर्तिगाथा स्थायी न रह सकेगी। इसके विपरीत संस्कृत पदावली में रचा गया यशोगान स्थायी होने के साथ ही वास्तविक कीर्ति का द्योतक माना जायेगा।[4] संभवत: इसी कारण स्वयंभू जैसे प्रतिभावान कवि धनंजय रयडा नामक किसी अप्रसिद्ध राज-अधिकारी के आश्रय में रहकर जीवन यापन करते रहे। महाकवि पुष्पदंत के साथ भी यही हुआ। इससे सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि देश-भाषा के कवियों को कैसी प्रतिकूल परिस्थितियों में रहना पड़ा होगा।

संस्कृत के कवियों के आदर्श परंपरागत थे। अश्वघोष, भास, कालिदास, दण्डी, बाण, रुद्रट आदि के ग्रंथ बड़े चाव से पढ़े जाते थे। अपभ्रंश के कवि भी संस्कृत से अनभिज्ञ न थे। अनेक कवियों ने ग्रंथारंभ में उक्त कवियों को श्रद्धापूर्वक

---

(१) लिटरेरी सर्किल आफ महामात्य वस्तुपाल, पृ० ३८

(२) मध्य० भार० संस्कृति, पृ ७२

(३) हिन्दी काव्य धारा, पृ० ४६-४७

(४) वही

स्मरण किया है। स्वयं पुष्पदंत ने भी।[1] उधर सिद्धों में सरहपा, तिलोपा, शान्तिपा आदि संस्कृत के बड़े पंडित थे, परन्तु भाषा की कविता करते समय वे अपने संस्कृत ज्ञान को भूल जाते थे।[2] अमोघ का कविराज मार्ग ग्रंथ दण्डी के काव्यादर्श के आधार पर रचा कहा जाता है। कृष्ण (द्वितीय) के समय का रचित हिलायुध का कवि रहस्य, रावणार्जुनीय की कोटि का है।[3]

इस काल के जैन विद्वानों तथा कवियों द्वारा रचित संस्कृत के मुख्य ग्रंथों में अकलंक का अष्टशती भाष्य, विद्यानंद का अष्टसहस्रि, जिनसेन का आदि पुराण, गुणभद्र का उत्तर पुराण, शाकटायन का अमोघवृत्ति, सोमदेव का नीतिवाक्यामृत तथा यशस्तिलक चम्पू उल्लेखनीय हैं।

प्राकृत तथा अपभ्रंश—

संस्कृत के समान प्राकृत भी इस समय एक प्रकार से मृत भाषा थी। जन-साधारण इन दोनों को ही समझने में असमर्थ था। परन्तु विद्वानों में उसका आदर था।[4] राजपुत्रों को संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश तीनों भाषाओं को शिक्षा दी जाती थी।[5] जैन धर्म के प्राचीन सिद्धान्त ग्रंथ प्राकृत में ही लिखे गये थे, अत: जैन कवियों में उसके प्रति श्रद्धा होना स्वाभाविक ही था। पुष्पदंत ने कुछ प्रशस्तियां प्राकृत में लिखी हैं।[6] धाहिल के पउम सिरी चरिउ (अपभ्रंश) में भी कुछ प्राकृत गाथा छंद हैं।

१० वीं शताब्दी में अपभ्रंश प्रादेशिक भिन्नताओं के साथ लगभग सारे देश में बोली जाती थी। धार्मिक प्रवृत्तियों वाले तथा लोक-मंगल चाहने वाले महात्माओं ने इसे साहित्य का माध्यम बनाया। दक्षिणी पश्चिमी क्षेत्रों के जैन कवियों ने इसकी उन्नति में सर्वाधिक योग दिया।

---

(१) मपु० ११९
(२) हि० काव्य धारा, पृ० ४६
(३) राष्ट्रकूट एन्ड देअर टाइम्स पृ० ४०८
(४) दिव्वगंधव्वयं कव्वयं पाययं। मपु० २६।१।१४
(५) सक्कउ पायउ पुणु अवहंसउ, वित्तउ उप्पइउ सपसंसउ। मपु० ५।१८।६
(६) देखिए, मपु० खंड १, भूमिका पृ० २८, प्रशस्ति संख्या ५,६,१६,३०,३५ तथा ४८

अध्याय

कवि का जीवन-वृत्त

३

जीवनवृत्त की सामग्री

पुष्पदंत की जीवन-वृत्त संबंधी निम्नप्रकार की सामग्री हमें उपलब्ध होती है।

१—कवि की रचनाओं मे उपलब्ध आत्म-कथन।

२—परवर्ती कवियों के ग्रंथों में पुष्पदंत का उल्लेख।

३—आधुनिक विद्वानों के खोजपूर्ण लेखों तथा ग्रंथों की भूमिकाओं में प्रस्तुत कवि का जीवन परिचय।

उपर्युक्त प्रथम प्रकार की सामग्री में कवि के तीन ग्रंथ-त्रिषष्ठि महापुरिस गुणालंकार (महापुराण), णायकुमार चरिउ तथा जसहर चरिउ आते हैं।

महापुराण में कवि के जीवन संबंधी निम्नलिखित तथ्य प्राप्त होते हैं :—

प्रथम संधि में कवि की जिन-भक्ति, माता-पिता तथा गोत्र का परिचय, पूर्व आश्रयदाता, मान्यखेट आगमन, भरत द्वारा स्वागत, आश्रय-प्राप्ति, काव्य-रचना की प्रेरणा, ग्रंथारंभ का समय, कवि का व्यक्तित्व तथा स्वभाव आदि बातें ज्ञात होती हैं।

३८ वीं संधि में काव्य-रचना में कवि की मानसिक शिथिलता, भरत का पुनः प्रेरणा देना तथा कवि की कुछ स्वभावगत विशेषताएं प्राप्त होती हैं।

संधि १०२ में कवि के परिचित जन, माता-पिता, जीवन के अभाव, धार्मिक भावना, ग्रंथ समाप्ति का समय आदि बातें ज्ञात होती है।

इसके अतिरिक्त प्रशस्तियों में कवि की प्रतिभा, आश्रयदाता की कीर्ति तथा मान्यखेट के पतन संबंधी उल्लेख हैं। समग्र ग्रंथ में यत्र-तत्र आत्मोल्लेख भी हैं जिनसे कवि के स्वभाव तथा उसकी जिन धर्म में निष्ठा ज्ञात होती है।

णायकुमार चरिउ की प्रथम संधि में कवि के माता-पिता, आश्रयदाता नन्न तथा अन्य व्यक्तियों द्वारा काव्य-रचना किये जाने का आग्रह तथा आश्रयदाता की प्रशंसा आदि बातें मिलती हैं। ग्रंथ की अंतिम पुष्पिका में नन्न की प्रशंसा, माता-पिता द्वारा जिन धर्म में दीक्षित होना तथा समकालीन सम्राट् के उल्लेख हैं।

जसहर चरिउ की प्रथम संधि में कवि की धर्म भावना एवं चतुर्थ संधि में माता, पिता तथा गोत्र का उल्लेख है।

२—अनेक परवर्ती कवियों ने अपने ग्रंथों में पुष्पदंत का श्रद्धापूर्वक स्मरण किया है। इनमें अपभ्रंश के अतिरिक्त संस्कृत के कवि भी हैं।

(१) हरिषेण (९८७ ई०)

चउमुह कव्वु विरयणि सयंभुवि
पुप्फयंतु अण्णाणु णिसंभवि।
पुप्फयंतु णउ माणुसु वुच्चइ,
जो सरसइए कया वि ण मुच्चइ। (धम्म परिक्खा, १।१)[1]

(२) वीर कवि (१०१९ ई०)

संते सयंभूए एवे एक्को कइत्ति विन्नि पुणु भणिया।
जायम्मि पुप्फयंते तिण्णि तहा देवयत्तंमि ॥(जंबुसामि चरिउ, ५।१)[2]

(३) नयनदी (लगभग १०५० ई०)

चहुमुहु सयंभु कइ पुप्फयंतु। (सकल विधि निधान काव्य, १।५)[3]

(४) मुनि कनकामर (१०६५ई०)

करकंडु चरिउ (१।२।८-९)

(५) श्रीचंद्र (१०६६ ई०)

तह पुप्फयंतु निम्मुक्क दोसु, वणिज्जइ किं सुअए वि कोसु
(रत्न करण्ड शास्त्र, १।२)[4]

(६) देवसेन गणि (१०७५-१३१५ के बीच)

पुप्फयंतु भुवाल पहाणहे। (सुलोयणा चरिउ, १-३)[5]

(७) पंडित लाखू अथवा लक्खण (१२१८ ई०)

पुप्फयंतु सुसयंभु भल्लऊ। (जिणदत्त चरित, १।६)[6]

(८) धनपाल (१३९७ ई०)

चउमुहु दोणु संयभु कइ, पुप्फयंतु पुणुवीरुभणु। (वाहुवलि चरित, १।८)[7]

(९) वाग्भट्ट

यत्पुष्पदंत मुनिसेन (जिनसेन) मुनीन्द्र मुख्यैः
पूर्वै कृतं सुकविभिस्त दहं विधित्सुः। (काव्यानुशासन।[8]

---

(१) अपभ्रंश साहित्य, डॉ० हरिवंश कोछड़, पृ० ३४४ से उद्धृत
(२) वही, पृ० १४८
(३) वही पृ० १७५
(४) वही, पृ० ३५१
(५) वही, पृ० २१६
(६) वही, पृ० २२९
(७) वही, पृ० २३६
(८) जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ३२०

इन कवियों ने प्रायः चतुर्मुख तथा स्वयंभू के साथ पुष्पदंत का स्मरण करते हुए उनकी काव्य-प्रतिभा की ओर संकेत किया है। इनके द्वारा हमारे कवि के जीवन-वृत्त संबंधी कोई विशेष बात नहीं ज्ञात होती। इतना अवश्य पता लगता है कि कवि, विशेषतः अपभ्रंश कवियों में लगभग १४ वीं-१५ वीं शताब्दी तक अत्यधिक आदर और श्रद्धा का पात्र बना रहा। इसके साथ ही कवि के समय निर्धारण करने में भी कुछ सहायता मिलती है। अतः इन कवियों को केवल पुष्पदंत के गौरव तथा ख्याति के साक्षी रूप में ही उपस्थित किया जा सकता है।

३—इस सामग्री के अंतर्गत आधुनिक विद्वानों द्वारा लिखे गये शोधपूर्ण लेख तथा ग्रंथों की भूमिकाएं आती हैं। इनमें कवि के जीवन-वृत्त को सुव्यवस्थित रूप से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। यहाँ यह बात स्मरणीय है कि इस प्रकार की सामग्री का मूल आधार स्वयं कवि के आत्मोल्लेख ही है, जिनका विवरण प्रथम प्रकार की सामग्री के अंतर्गत पीछे दिया जा चुका है।

संक्षेप में यह सामग्री इस प्रकार है—

(१) कैटालाग आफ संस्कृत एण्ड प्राकृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन सी० पी० एण्ड बरार (१९२६ ई०), संपादक रायबहादुर हीरालाल —कवि का जीवन चरित्र।

(२) एलाहाबाद यूनीवर्सिटी स्टडीज, खंड १ (१९२५) में डॉ० हीरालाल का लेख—

कवि का समय

(३) जैन साहित्य और इतिहास में स्व० नाथूराम प्रेमी का पुष्पदंत शीर्षक लेख—

—कवि के जीवन का खोजपूर्ण विवेचन

(४) महापुराण तथा जसहर चरिउ की भूमिकाएं—डॉ० पी० एल० वैद्य

—कवि का विस्तृत जीवन-वृत्त

(५) णाय कुमार चरिउ की भूमिका-डॉ० हीरालाल जैन

—कवि का संक्षिप्त जीवन परिचय

(६) जैन हितैषी, अनेकान्त, जैन जगत, जैन साहित्य संशोधक, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भारतीय विद्या आदि पत्रिकाओं में समय-समय पर प्रकाशित कवि सम्बन्धी लेख।

उपर्युक्त तीनों प्रकार की सामग्री की परीक्षा करने पर हमें ज्ञात होता है कि कवि का जीवन-वृत्त सुनिश्चित करने में प्रथम प्रकार की सामग्री ही सर्वाधिक उपादेय है। क्योंकि दूसरे प्रकार की सामग्री द्वारा कवि के जीवन के सम्बन्ध में कोई विशेष बात नहीं मिलती तथा तीसरे प्रकार की सामग्री वस्तुतः प्रथम प्रकार की सामग्री के आधार पर ही प्रस्तुत की गयी है।

आगामी पृष्ठों में हम पूर्वोल्लिखित समस्त सामग्री का उपयोग करते हुए महाकवि पुष्पदंत का जीवन-वृत्त प्रस्तुत करने का प्रयत्न करेंगे।

कवि का नाम

हमारे कवि के अतिरिक्त पुष्पदंत नामधारी तीन अन्य कवियों का उल्लेख प्राप्त होता है।

प्रथम पुष्पदंत प्रसिद्ध शिव महिम्न स्तोत्र के रचयिता हैं। इस स्तोत्र का एक श्लोक राजशेखर (१० वीं शताब्दी) ने काव्य मीमांसा में उद्‌धृत किया है, अतः ये राजशेखर से पूर्व हुए होंगे और निश्चय ही हमारे कवि के पूर्ववर्ती हैं।[१]

दूसरे पुष्पदंत षट्‌खंडागम के रचयिता हैं, जिन्होंने भूतवलि के साथ अपने गुरु धरसेन (७४८ ई०) से महाकर्म प्रकृति नामक पाहुड के २४ अधिकारों का अध्ययन किया था।[२] अतः ये भी हमारे कवि से पूर्व हुए थे।

तीसरे पुष्पदंत का उल्लेख डॉ० अंबा शंकर नागर ने अपने शोध-ग्रंथ गुजरात की हिन्दी सेवा में किया है।[३] ये एक गुजराती कवि थे। इनकी रचना का कोई विस्तृत विवरण प्राप्त नहीं है। हमारे कवि ने समस्त काव्य-रचना मान्यखेट (दक्षिण) में रहकर की थी। गुजरात से उसका कभी कोई सम्बन्ध रहा होगा, इसमें संदेह ही है। अतः ये कवि निश्चय ही हमारे कवि से भिन्न ठहरते हैं।

कर्नल टाड के राजस्थान के आधार पर शिवसिंह ने सं० ७७० (७१३ ई०) के अवन्ती के राजा मान के एक दरबारी कवि पुष्पभाट का उल्लेख किया है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस पर लिखा है कि जान पड़ता है पुष्पदंत जिस राष्ट्रकूट राजा कृष्ण के आश्रित थे, उनकी राजधानी मान्यखेट परसे राजा का नाम मान समझ लिया गया है और सभा-कवि होने के कारण उन्हें भाट कह दिया गया है। आगे द्विवेदी जी ने हेलीकेरटी के शिलालेखों के आधार पर उज्जयिनी (अवन्ती) पर मान्य-खेट का शासन सिद्ध करते हुए लिखा है कि हो सकता है कि बाद में मान-कवि पुष्प का यशमात्र अवशिष्ट रह गया हो और पूरी कहानी भुला दी गयी हो। परन्तु यह अनुमान ही अनुमान है।[४]

---

(१) जैन साहित्य और इतिहास, पृ २२२

(२) वही, पृ० १३१

(३) भूमिका, पृ० १२। यह निबन्ध राजस्थान विश्वविद्यालय द्वारा पी० एच० डी० उपाधि के लिये स्वीकृत किया गया है।

(४) हिन्दी साहित्य का आदिकाल, डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ७

यद्यपि आचार्य द्विवेदी का यह अनुमान ठीक है, फिर भी इस विषय में इतना कहना अनुचित न होगा कि सं० ७७० वि० में राष्ट्रकूट सिंहासन पर महाराज कर्क आसीन थे, कृष्णराज नहीं।[1] दूसरे हमारे कवि भाट तो हो सकते हैं, क्योंकि उन्होंने अपने पिता को केशव भट्ट कहा है, परन्तु वे दरबारी भाट कभी नहीं रहे। उनके राष्ट्रकूट दरबार में जाने का भी कहीं उल्लेख नहीं मिलता। राहुल जी के शब्दों में वे अपने अभिमानी स्वभाव के कारण महाराज कृष्ण के दरबार में कभी अपने मन से गये होंगे, इसमें संदेह ही मालूम होता है।[2] वास्तव में पुष्पदंत महामात्य भरत के आश्रय में रहे थे। राजाओं के तो वे कटु आलोचक थे। अतः अवंती दरबार के पुष्प भाट हमारे कवि से भिन्न कोई अन्य व्यक्ति होंगे।

कवि द्वारा स्वयं अपने नाम तथा विशेषणों का प्रयोग

मपु० की प्रत्येक संधि के अन्तिम घत्ता में कवि ने अपना तथा अपने आश्रय दाता का नाम दिया है, जिसके अर्थ पुष्पदंत के लिए चन्द्र, सूर्य, पुष्प, तीर्थङ्कर आदि तथा भरत के लिए चक्रवर्ती, भरत खण्ड आदि लिए गये हैं।

इसी प्रकार णाय० तथा जस० की प्रत्येक संधि के अन्तिम घत्ता में कवि ने अपना नाम पुष्पदंत दिया है, जिसके व्यंग्यार्थ पुष्प, दिशि-वारण, चन्द्र आदि होते हैं।

मपु०, णाय० तथा जस० की प्रत्येक संधि की पुष्पिका में 'महाकइ पुप्फयंत विरइए' अंकित है। इसके अतिरिक्त इन ग्रंथों में कथा-प्रवाह के बीच-बीच भी कवि ने अपने नाम तथा विशेषण (उपाधियाँ) इस प्रकार दिये हैं—

पुप्फयंतु—(मपु० १ । ३ । ५, १ । ६ । ६, ३८ । ४ । ४, १०२ । १३ । १०, प्रशस्ति सं० ४, ५, २६, ३६, ३८, ४३ तथा ४५ । णाय० १ । ५ २ । जस० १ । १ । ४)

खंड —(मपु० प्रशस्ति सं० १, ३, १८, ३०, ३५, ३६, ४०, ४२ तथा ४४, १ । ३ । ९, जस० ४ । ३१ । ८)

पुष्प दशन-(मपु० प्रशस्ति सं० ३७)

कुसुम दशन—(मपु० प्रशस्ति सं० ६ । णाय० १ । ३ । ६)

अभिमान मेरु—(मपु० १ । ३ । १२, १०२ । १४ । ११ णाय० १ । २ । २ जस० १ । १ । ४, ४ । ३१ । ६)

काव्य पिशाच (कव्व पिसल्ल)—(मपु० १ । ८ । ८, ३८ । ५ । ८, ८१ । २ । ८, णाय० १ । २ । १०, अन्तिम पुष्पका पद ६)[3]

---

(१) राष्ट्रकूट एण्ड देअर टाइम्स, पृ० १०

(२) हिन्दी काव्य धारा, राहुल, पृ० ५३

(३) इस विचित्र उपाधि के सम्बन्ध में स्व० नाथूराम प्रेमी ने लिखा है कि शायद अपनी महती कवित्व-शक्ति के कारण ही यह पद उन्होंने (पुष्पदत ने) पसन्द किया है। (जैन साहित्य और इतिहास, पृ० २३१)
डॉ० हीरालाल जैन ने आयुध पिशाचिका (बाल रामायण-४) तथा आयुध पिशाची (अनर्घ राघव-४) जैसे शब्दों का निर्देश करते हुए कहा है कि संस्कृत में भी पिशाच अथवा पिशाचिका शब्दों के व्यवहार हुए हैं। कवि ने उचित ही अपने लिये काव्य-पिशाच का प्रयोग काव्य के परिमाण तथा उत्तमता के अनुरूप किया है। णाय० पृ० २०८

कवि-कुल-तिलक—(मपु० १ । ८ । १, ३८ । ४ । ३, १०२ । १४ । १४ । जस० १ । ८ । १७) ।

ग्रंथों में विशेषणों के प्रयोग इस प्रकार हुए हैं—

महापुराण में

महाकवि (३८ । २ । २), कविवर तथा सकल कलाकर (३८ । २ । ४), सर्व जीव-निष्कारण मित्र (१०२ । १४ । २), विमल सरस्वती जनित विलास (१०२ । १४ । ४), सिद्धि विलासिनि मनहर दूत (१०२ । १४ । १), जन-मन-तिमिरोत्सारण तथा काव्य-रत्न-रत्नाकर (१ । ४ । १०), काव्य-पिण्ड (१ । ६ । १), गुण-मणि-निधान (१ । ६ । ५), शशि लिखित नाम (१ । ६ । ९), वर वाचा-विलास (१ । ७ । १), सरस्वती-निलय (३८ । ४ । ३) तथा काव्यकार (८१ । २ । ८)

णायकुमार चरिउ में

विशाल चित्त (१ । २ । १), गुण गण महंत (१ । २ । २), वागेश्वरिदेवी-निकेत (१ । २ । ६) तथा भव्य जीव-पंकरुह-भानु (१ । २ । ७) ।

जसहर चरिउ में

सरस्वती-निलय (१ । ८ । १६)

माता-पिता, जाति तथा गोत्र

कवि के पिता का नाम केशव भट्ट तथा माता का मुग्धा देवी था ।[1] वे काश्यप गोत्रीय ब्राह्मण थे ।[2] प्रथमतः वे शैव मतावलम्बी थे, परन्तु बाद में किसी गुरु के उपदेश से जैन धर्म में दीक्षित हो गये । अंत में उन्होंने जिन संन्यास लेकर शरीर त्याग किया ।[3]

वास-स्थान

कवि के कथन से ज्ञात होता है कि उसने अपने तीनों ग्रंथों की रचना राष्ट्रकूट साम्राज्य की राजधानी मान्यखेट में कृष्ण (तृतीय) के महामात्य भरत तथा उनके पश्चात् गृहमन्त्री नन्न के आश्रय में रहकर की थी ।[4]

कवि का मान्यखेट से बड़ा महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध रहा है, अतः यहाँ उसका संक्षिप्त परिचय देना अनुपयुक्त न होगा ।

---

(१) भो भो केसव तणुरुह । मपु० १ । ४ । १०
मुद्धाएवी तणु संभूएं । मपु० १०२ । १४ । १

(२) केशव पुत्ते कासव गोत्ते । मपु० १०२ । १४ । ३

(३) सिव भत्ताइं मि जिण सण्णासें, बेवि मयाइं दुरिय णिण्णासें ।
णाय०, पंक्ति १०, पृ० ११२

(४) भरहहु केरइ मंदिरि णिविट्ठु । मपु० ८१ । २ । ७
णण्णहो मंदिरि णिवसंतु संतु । णाय० १ । २ । २

मान्यखेट

यह १५७ वर्ष तक राष्ट्रकूट सम्राटों की राजधानी रही है। करहट और देवली (वर्धा) के शिलालेखों के अनुसार सम्राट् अमोघवर्ष (प्रथम) ने इसे ८१५ ई० में बसाया था। पश्चात् उसने नासिक जिले के मयूरखंडी में स्थित अपनी राजधानी को यहाँ स्थानान्तरित किया।[1] वस्तुतः राष्ट्रकूटों का सितारा मान्यखेट में आने के बाद ही चमका। मान्यखेट की कीर्ति भी सौंदर्य-प्रेमी राष्ट्रकूटों के द्वारा ही सुदूर अरब तक फैली। इस दृष्टि से दोनों ही एक दूसरे के ऋणी समझे जायेंगे।

पुष्पदंत ने इसे मेपाड, मण्णखेड, मान्याखेट आदि नामों से निर्दिष्ट किया है। प्रभाचन्द्र के महापुराण के टिप्पण में मेदपाटीय नाम दिया गया है।[2] सोमदेव (९५९ ई०) ने इसे मेलपाटी लिखा है।[3] अरब के व्यापारी इसे मानकीर कहते थे।[4] इसका वर्तमान नाम मलखेड है। यह १७·१० उत्तरी अक्षांश तथा ७७·१३ पूर्वी देशान्तर पर स्थित है। मनमाड से निजामाबाद जाने वाली मध्य रेलवे का आन्ध्र प्रदेश में एक छोटा सा स्टेशन है। वर्तमान समय में यह साधारण गांव ही है, परन्तु राष्ट्रकूट प्रासादों के भग्नावशेष आज भी उसके अतीतगत गौरव का स्मरण दिलाते हैं।

डॉ० पी० एल० वैद्य ने सन् १९४० में इस पुण्यस्थली की यात्रा की थी। उन्होंने लिखा है कि प्रासाद की तंदूर पत्थर की बनी बाहरी दीवारें अभी तक पूर्ववत् खड़ी हैं और मुख्य द्वार भी ज्यों का त्यों खड़ा है। प्रासाद के भीतरी भाग में एक भूगर्भ मार्ग है। कहते हैं कि यह मार्ग महाराज कृष्ण (तृतीय) द्वारा निर्मित शुभतुंग चैत्यालय (जैन मन्दिर) को जाता था, जो महल से ३०० गज दूर है। प्रासाद के दक्षिणी भाग में १५० फीट ऊंची एक मीनार है, जो सोपान-युक्त आज भी अच्छी-भली दशा मे है। इसके ऊपर चढ़कर मीलों दूर के दृश्य देखे जा सकते हैं। गुलबर्गा की प्रसिद्ध मसजिद की मीनारें भी यहाँ से दिखाई देती हैं। इसके निकट ही धनुषाकार बहती हुई कागणा नदी का दृश्य अत्यन्त मनोरम है। इसी स्थल पर उसमें दूसरी ओर से एक अन्य जल-धारा आकर मिलती है और संगम का दृश्य उपस्थित करती है। शुभतुंग चैत्यालय आजकल बंद पड़ा रहता है, परन्तु उसमें तीर्थङ्करों की प्रतिमाएँ अब भी हैं। मान्यखेट के इन अवशेषों को देखकर इसमें कोई सन्देह नहीं रहता कि एक समय यह अति भव्य नगर रहा होगा।[5]

---

(१) जैन साहित्य और इतिहास, पृ० २२९
(२) मपु० खंड १, भूमिका पृ० १५
(३) जैन साहित्य और इतिहास, पृ० १७९
(४) मपु० खंड ३, भूमिका पृ० २१
(५) वही।

पुष्पदंत को यह नगर बहुत भला लगा होगा, तभी वह मनमौजी कवि वहाँ लगभग १४ वर्ष तक रहा। भरत के प्रोत्साहन के अतिरिक्त, कवि को नगर के सौन्दर्य तथा साहित्यिक वातावरण से भी अपने विशाल काव्य की रचना करने में बहुत कुछ प्रेरणा मिली होगी।

मान्यखेट की विशालता के संबंध में कवि ने एक स्थान पर लिखा है कि उसके गिरिसदृश उत्तुंग महलों द्वारा मेघ छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। वह प्रविपुल है और महाराज कृष्णराज के हाथ में शोभित करवाल रूपी जल-धारा के कारण दुर्लंघ्य है।

सिरिकण्हराय करयलि णिहिय असिजल वाहिणि दुग्गयरि।
धवलहर सिहरि हयमेहउलि पविउल मण्णखेड णयरि॥
(णाय० १।१।११-१२)

मपु० की एक प्रशस्ति में कवि ने उसे जन-संकुल तथा कुसुमित लताओं से युक्त कहा है। इन्द्र की अलकापुरी भी उसके सौन्दर्य को देख लज्जित होती थी।[1]

करहट तथा देवली के लेखों में इसे देवताओं का मान मर्दन करने वाली बतलाया गया है :—

यो मान्यखेटममरेन्द्रपुरोपहास्ति गीर्वाणगर्वमिवं खर्वयितुं व्यधन्त।[2]

पुष्पदंत के मान्यखेट-प्रवास के समय राष्ट्रकूट सिंहासन पर कृष्ण (तृतीय) आसीन थे। उन्होंने नगर को अत्यन्त भव्य बना दिया था। वहाँ विद्या, कला, संगीत, वाणिज्य आदि के केन्द्र थे। इसी कारण दूर-दूर के विद्वान्, कवि तथा कलावन्त वहाँ अपनी भाग्य-परीक्षा के लिये आते थे। जैन धर्म के बड़े-बड़े आचार्य यहाँ निवास करते हुए जैन-दर्शन पर उपदेश दिया करते थे। अनेक बातों में यह नगर तत्कालीन अन्य प्रसिद्ध राजधानियों यथा धवलक्क, अनहिलवाड़, उज्जयिनी, कान्यकुब्ज, वलभी, भिन्नमाल आदि से बढ़ी-चढ़ी थी।[3] धारा-नरेश सीयक द्वारा इसके करुण पतन का उल्लेख हम पूर्व ही कर चुके हैं।[4] उस आक्रमण के समय के तोप के गोलों के चिह्न आज भी भग्न महल के पूर्वी भाग को भित्तियों पर अंकित हैं।

कवि ने अपने मान्यखेट आने का उल्लेख इस प्रकार किया है—

महि परिभमतु मेपाडि णयरु। (मपु० १।३।४)

---

(१) तथा (४) देखिए इस निबन्ध के अध्याय २, पृ० ३४ पर उद्धृत प्रशस्ति श्लोक
(२) मपु० खंड ३, भूमिका पृ० २१-२३
(३) लिटरेरी सर्किल आफ महामात्य वस्तुपाल, पृ० २

यद्यपि डॉ० वैद्य[1] तथा डॉ० हीरालाल जैन[2] मेपाडि (अथवा मेलपाटीय) तथा मान्यखेट को एक ही स्थान मानते हैं, परन्तु स्व० प्रेमी ने इन्हें दो भिन्न स्थान बतलाये हैं। उनका कथन है कि सबसे पहले पुष्पदंत को हम मेलाडि या मेलपाटी के एक उद्यान में पाते हैं और फिर उसके बाद मान्यखेट में। मेलाडि उत्तर अर्काट जिले में है, जहाँ कुछ काल तक राष्ट्रकूट महाराज कृष्ण (तृतीय) का सेना सन्निवेश रहा था और वहीं उनका भरत मन्त्री से साक्षात् होता है।[3]

महापुराण के अनुसार कवि पुष्पदंत मार्ग-श्रम से क्लान्त, भटकते हुए मेपाडि नगर के बाहर किसी उद्यान में आकर ठहरते हैं। वहाँ अम्मइय तथा इंदराय नामक दो नागरिक आकर उनसे नगर में भरत मन्त्री के निवास-स्थान पर चलने का अनुरोध करते हैं। पहले तो कवि, जो इसके पूर्व किसी राज-सभा में अपमानित हो चुका था, राज्य-लक्ष्मी को कठोर शब्दों में भर्त्सना करता है और राजाश्रय में रहने की अपेक्षा अभिमान-सहित मर जाना श्रेष्ठ समझता है,[4] परन्तु अन्त में अपने उचित आदर-सत्कार का आश्वासन प्राप्त कर चल देता है। भरत ने कवि का उत्तम वस्त्र-भोजनादि से सत्कार किया। कुछ दिन विश्राम करने के पश्चात् भरत ने उनसे महापुराण रचने की प्रार्थना की।[5]

इस विवरण से स्पष्ट होता है कि मेपाडि तथा मान्यखेट अभिन्न स्थान हैं। कवि मान्यखेट नगर के निकटवर्ती किसी उद्यान में ठहरा था और वहीं से भरत के यहाँ गया। अब प्रश्न यह है कि पुष्पदंत मान्यखेट आने से पूर्व कहाँ रहे अथवा उनका मूल स्थान कहाँ था ?

कवि ने अपनी रचनाओं में कहीं भी अपने मूल निवास-स्थान का उल्लेख नहीं किया है, परन्तु अपरिचित नागरिकों से राजाओं की भर्त्सना करने का अभिप्राय यही हो सकता है कि किसी राजा द्वारा वह अपमानित हुआ था और उसकी कटु स्मृति अभी तक उसके मानस-पटल पर अंकित थी। इस प्रसंग में भरत के वे वचन भी ध्यान देने योग्य हैं, जिनमें उन्होंने कवि द्वारा भैरव राज नामक किसी राजा की प्रशंसा करने के कारण मिथ्यात्व दोष उत्पन्न होने की बात कही है और उसके

(१) मपु० खंड ३, भूमिका पृ० २१
(२) णाय०, भूमिका पृ० १८
(३) जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ३२९।
(४) अहिमाणें सहुँ वरि होउ मरणु। मपु० १।४।६।
(५) मपु० १।३-६।

शमनार्थ महापुराण की रचना करने का प्रस्ताव रखा है।[1] भैरव राज कहाँ के राजा थे, इसके सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं है। परन्तु इससे इतना अवश्य ज्ञात होता है कि मान्यखेट आने से पूर्व कवि किसी राजा के यहां अवश्य रहा था।

कवि की भाषा में प्राचीन मराठी के शब्द-रूपों को देखकर कुछ विद्वानों ने उसे महाराष्ट्र का कवि माना है।[2] इसके साथ ही उसमें कन्नड़ का एक शब्द ढोड्डु भी आया है।[3] इनसे प्रमाणित होता है कि कवि इन दानों भाषाओं के मिले-जुले प्रभाव में अवश्य रहा है, परन्तु उस पर अधिक प्रभाव मराठी का ही है।

प्रेमी जी ने कवि का मूल स्थान वरार अनुमानित किया है, जहाँ आजकल मराठी भाषा बोली जाती है। उनका कथन है कि सिद्धान्त शेखर नामक ग्रन्थ के कर्त्ता श्रीपति भट्ट के पितामह का नाम केशव भट्ट था और यही नाम पुष्पदंत के पिता का भी है। अतः ये दोनों एक ही व्यक्ति हैं। दोनों काश्यप गोत्रीय भी हैं। उनके समय में भी विशेष अन्तर नहीं है। श्रीपति वरार के बुलढाना जिले के रोहनखेड़ के रहने वाले थे, अतः पुष्पदंत को भी वरार का रहने वाला मानना चाहिए।[4] डॉ० वैद्य का भी यही मत है।[5]

राष्ट्रकूट राजाओं का भी प्राचीन सम्पर्क वरार से रहा है। मान्यखेट के प्रथम राष्ट्रकूट सम्राट् दंतिदुर्ग के पूर्वज वरार के किसी क्षेत्र के शासक थे। उनका एक सम्बन्धी राष्ट्रकूट नन्नराज युघासुर ७ वीं शताब्दी के मध्य में एलिचपुर (वरार) का शासक था।[6] परन्तु राष्ट्रकूटों की मातृभाषा कन्नड़ थी, अतः उनका मूल स्थान वरार नहीं हो सकता। इस सम्बन्ध में डॉ० अल्तेकर ने वीदर (हैदराबाद--अव आंध्र प्रदेश) के लाट्टूर (लट्टलूर) नामक स्थान के राठी परिवार के वरार में जाने का अनुमान किया है।[7]

---

(१) णियसिरिविसेस णिज्जिय सुरिंदु, गिरि धीर वीरु भइरव णरिंदु।
पइं मण्णिउ वण्णिउ वीरराउ, उप्पण्णउ जो मिच्छत्त राउ।
(मपु० १.६।१०—११)
प्रथम पद के टिप्पण में कहा गया है कि—वीर भैरवः अन्यः कश्चिदुद्दण्ट महाराजो वर्तते कथामकरंद नाटके वाकश्चिद्राजास्ति।

(२) देखिए सह्याद्रि मासिक, अप्रैल १९४१ में डॉ० तगारे का लेख।

(३) सत्तम णरइ ढोड्डु सो पडियउ। मपु० ९०।२।१०।

(४) जैन साहित्य और इतिहास, पृ० २२६-२८।

(५) मपु० खड ३, पृ० ३०८।

(६) राष्ट्रकूट एन्ड देअर टाइम्स, पृ० ११।

(७) वही पृ० ११, २३।

राहुल जी का कथन है कि पुष्पदंत दिल्ली के निकटवर्ती यौधेय के निवासी थे। कान्यकुब्ज दरबार में संस्कृत का अधिक मान होने के कारण वे मान्यखेट चले गये।[1] परन्तु राहुल जी के इस कथन का आधार गन्धर्व कवि (१३०८ ई०) का वह काव्य-अंश है, जो जसहर चरिउ के मूल पाठ की सन्धि ४, कड़वक ३० में है। गन्धर्व ने स्वयं को योगिनीपुर दिल्ली का निवासी बतलाया है।

मान्यखेट के पतन के समय (९७२ ई०) तथा उसके कुछ समय पश्चात् तक तो निश्चय ही पुष्पदंत मान्यखेट में रहे, परन्तु उसके बाद कहाँ गये, किसी को ज्ञात नहीं। इतना अवश्य है कि कवि को नगर के नष्ट-भ्रष्ट होने पर अपनी आश्रय-हीन अवस्था को देखकर बड़ी वेदना हुई थी। सम्भव है कि वे संसार से दूर किसी वन्य प्रदेश में चले गये हों और वहीं किसी गिरि-कंदरा के निकट सदा के लिए सो गये हों। कवि ने स्वयं इस प्रकार के विचार व्यक्त किये हैं।[2]

शरीर तथा वेश-भूषा

पुष्पदंत बाल चन्द्र के समान कृश-काय थे।[3] उनका वर्ण श्याम था तथा वे अत्यन्त कुरूप थे।[4] मुख असुन्दर होने पर भी कवि के दाँत बड़े सुन्दर थे। स्वयं कवि को उनकी धवलिमा पर गर्व था।[5] प्रतीत होता है कि इसी कारण कवि ने अपना नाम पुष्पदंत रख लिया होगा।

मान्यखेट आगमन के समय कवि धन तथा सम्मान दोनों से रहित था, अतः उस समय स्वभावतः उसकी वेश-भूषा दरिद्रों की सी थी। उस दशा का वर्णन करते हुए कवि ने कहा है कि मेरे शरीर पर फटे-पुराने चिथड़े थे और अंग-प्रत्यंग धूलि-धूसरित था।[6] महामात्य भरत के गृह पर ही उन्हें वर स्नान, विलेपन, आभूषण तथा उत्तम वस्त्र प्राप्त हुए।[7]

---

(१) हिन्दी काव्यधारा, पृ० २६।

(२) तं सुणिवि भणइ अहिमाणमेरु, वरि खज्जइ गिरिकंदरि कसेरु।
णउ दुज्जणभउंहावंकियाइं ... । मपु० १।३।१२-१३।

(३) णवयंदु जेम देहेण खीणु। मपु० १।३।६
णरवेसे हिंडमि चम्म रुक्खु। मपु० १।८।१२

(४) कसण सरीरे सुट्ठु कुरूवे। मपु० ३८।४।२
उयरुप्पण्णें सामल वण्णें। जस० ४।३१।१

(५) सिय दंतपंति धवलीकयासु। मपु० १।७।१

(६) जरचीवर वक्कल परिहाणें।
धीरे धूली धूसरियंगे। मपु० १०२।१४।६-७

(७) वरण्हाण विलेवण भूसणाइं,
दिण्णाइं देवंगइं णिवसणाइं। मपु० १।६।७।

पुष्पदंत जिन-भक्त तो थे, परन्तु विरक्त साधु न थे। अतः वे जब तक महामात्य भरत तथा नन्न के आश्रय में रहे, आभूषणादि श्रेष्ठ परिधान धारण करते रहे होंगे।

स्वभाव

साहित्यकार की रचना में उसकी आत्मा का प्रतिबिम्ब होता है। पुष्पदंत के काव्य द्वारा भी हमें उनकी अनेक विशेषताओं का परिचय मिलता है। जैसा कि हम पूर्व ही उल्लेख कर चुके हैं, कवि ने अपने लिए कुछ ऐसी उपाधियों का प्रयोग किया है, जो विचित्र होने के साथ ही असाधारण भी हैं। अभिमान मेरु, सर्व जीव-निष्कारण मित्र, विशाल चित्त आदि उपाधियों से कवि के विशिष्ट स्वभाव का परिचय मिलता है।

पुष्पदंत के स्वभाव की सबसे प्रमुख विशेषता उनका स्वाभिमान है। उन्होंने अपनी प्रत्येक रचना के प्रारम्भ में 'अभिमान मेरु' पदवी का प्रयोग किया है।[1] भारतीय साहित्य के इतिहास में किसी कवि द्वारा अपने लिए ऐसी दर्पपूर्ण उपाधि के व्यवहार करने का उदाहरण शायद ही प्राप्त हो।

इस उपाधि की मूल भावना की पुष्टि महापुराण की उत्थानिका में वर्णित कवि के उस उत्तर से होती है, जो उसने मान्यखेट नगर में चलने का अनुरोध करने वाले दो नागरिकों को दिया था। एक हृदयहीन राजा की सभा से अपमान की घूंट पीकर चल देने वाला महाकवि जब किसी अन्य राज-मंत्री के यहाँ जाने की बात सुनता है तो उसका हृदय वितृष्णा से और भर जाता है तथा उसकी भावधारा मर्यादा के समस्त बंधन तोड़ कर इन शब्दों में फूट पड़ती है —

'गिरि-कंदराओं में घास-पात खाकर रहना श्रेष्ठ है, परन्तु दुर्जनों की टेढ़ी भौंहें देखना ठीक नहीं। माता के उदर से जन्म लेते ही मर जाना अच्छा है, किन्तु किसी राजा के भ्रूकुंचित नेत्र देखना एवं दुर्वचन सुनना अच्छा नहीं। कारण कि राजलक्ष्मी ढुरते हुए चमरों की वायु से गुणों को उड़ा देती है, अभिषेक के जल से सुजनता को धो डालती है तथा विवेकहीन बना देती है। दर्प से फूली रहती है, मोह से अंधी रहती है, मारणशीला होती है, सप्तांग राज्य के भार से बोझिल रहती है, पिता-पुत्र-दोनों में रमण करती है। विषय की सहोदरा और जड़ रक्त है। इस समय लोग ऐसे नीरस और निर्विशेष हो गये हैं, कि बृहस्पति के समान गुणी व्यक्तियों से भी द्वेष रखते हैं। इसी कारण मैंने इस कानन की शरण ली है। अभिमान के साथ यहीं मर जाना श्रेष्ठ है।'[2]

---

(१) तं सुणिवि भणइ अहिमाणमेरु, वर खज्जइ गिरि कंदरि कसेरु। मपु० १।३।१२
णण्णहो मंदिरि णिवसंतु संतु, अहिमाणमेरु गुण गण महंतु। णाय० १।२।२
णण्णहो मंदिरि णिवसंतु संतु, अहिमाणमेरु कइ पुप्फयंतु। जस० १।१।४
(२) मपु० १।३।१२-१५ तथा १।४।१-६

इस कथन में कवि के स्वाभिमान के साथ उसकी आत्मिक दृढ़ता तथा निर्भीकता के भी दर्शन होते हैं। बाहुबलि तथा भरत-दूत के संवाद में भी कवि ने राजाओं पर तीखा व्यंग्य किया है। उनकी व्याख्या करता हुआ कवि कहता है कि पर-द्रव्य हरण करने वाले तथा कलह के कारण राजा होते हैं।[1] जो चोर अधिक बलवान होता है, वही राजा बन जाता है।[2] इसी प्रसंग में सम्राट् भरत द्वारा प्रेषित अधीनता स्वीकार करने के प्रस्ताव को ठुकराते हुए बाहुबलि कहते हैं कि हे दूत, मेरा यही दृढ़ निश्चय है कि मान-भंग होने की दशा में जीवित रहने की अपेक्षा मृत्यु का आलिंगन करना अधिक श्रेष्ठ है।[3] अन्यत्र कवि कहता है कि संध्या-राग की भांति राजा का राज्य भी क्षण-भंगुर है।[4] एक और स्थान पर बाहुबलि के भ्राता भरत-दूत से कहते हैं कि जो राजा जरा-मरण का नाश कर सकता हो, चतुर्गति के दुःख का निवारण कर सकता हो तथा भवसागर से पार करने में समर्थ हो तो हम उसे शीश झुका सकते हैं, अन्यथा नहीं।

इस प्रकार कवि को जहाँ भी अवसर प्राप्त हुआ है, उसने अपने स्वाभिमान को अवश्य प्रकट किया है। कवि के उस युग में राज्य की समस्त शक्ति सम्राट के ही हाथों में होती थी और वही अपनी प्रजा का भाग्य-विधाता भी होता था। ऐसी अवस्था में राजतंत्रीय शासन-व्यवस्था की इतनी खरी आलोचना करना सामान्य बात न थी। कवि ने तत्कालीन भारत की राजनीति के प्रमुख विधायक और लगभग समस्त दक्षिणी क्षेत्र के एकमात्र शासक, राष्ट्रकूट सम्राट कृष्ण (तृतीय) की ठीक नाक के नीचे-उनकी राजधानी मान्यखेट में रहते हुए-राज-लक्ष्मी की जैसी भर्त्सना की है, वह उसके अदम्य साहस का ज्वलंत प्रमाण है।

पुष्पदंत जैसे स्वाभिमानी व्यक्ति कभी परतंत्रता में नहीं रह सकते। कवि परतंत्रता को हेय समझता है। वह कहता है कि दूसरे के देश में रहने में, दूसरे के गृह में वास करने में, दूसरे के वशीभूत होकर जीने मे, और दूसरे का अन्न खाने में आग लग जाय। जहाँ टेढ़ी भौहों से भयभीत किया जाय, ऐसे राजा के राज्य में न रहना ही अच्छा। दूसरे की दी हुई भूमि पर वास करने की अपेक्षा वन के फल खाकर सुख से रहना श्रेष्ठ है। दूसरे के महार्घ-प्रभा-युक्त विशाल महल की अपेक्षा गिरि-कंदरा को मैं श्लाघ्य समझता हूँ।[5] परवशता में राज्य-भोग भी मिलें तो वे तुच्छ

---

(१) जे परदविणहारिणो कलहकारिणो ते जयम्मि राया। मपु० १६।२१।२

(२) जो बलवंत चोरु सो राणउ। मपु० १६।२१।४

(३) माणभंगि वर मरणु णजीविउ, एहउ दूय सुट्ठु मइं भाविउ। मपु० १६।२१।१०

(४) राउ राउ णं संझाहे केरउ। मपु० २८।४।७

(५) उज्झउ परदेसु परावयासु, परवसु जीविउं परदिण्णु गासु।
भूभंगभिउडि दरिसिय भयेण, रज्जेण वि किं किर परकएण।
सभुयज्जिएण सुहुं वणहलेण, णउ परादिण्णे मेइणियलेण।
वर गिरिकुहरु वि मण्णमि सलग्घु, णउ परधवलहरु पहामहग्घु।
(मपु० ८१।१५।१-४)

हैं।[1] हमारे कवि का यह कथन गोस्वामी तुलसीदास की—पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं—उक्ति से लगभग मिलता-जुलता है। पुष्पदंत की भांति ही प्रसिद्ध जैन आचार्य हेमचन्द्र के प्रधान शिष्य कवि रामचन्द्र भी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के प्रेमी थे।[2]

प्रतीत होता है कि ऐसे आत्म-गौरव को सर्वोपरि समझने वाले कवि को पग-पग पर दुष्ट मनुष्यों की प्रताड़ना तथा अपमान सहन करने पड़े होंगे, जिससे कवि का मानस कुंठित हो गया था और उसके हृदय में दुष्टों के प्रति स्थायी घृणा की भावना घर कर गयी होगी। इसी कारण जहाँ भी अवसर प्राप्त हुआ, कवि ने कठोरतम शब्दों में उनकी भर्त्सना की है। दुष्टों की निंदा, उसके काव्य में केवल साहित्यिक रूढ़ि का पालन मात्र नहीं है, वरन् वह उसके जीवन के प्रत्यक्ष अनुभव का परिणाम है। इस प्रकार कवि ने खल-संकुल समाज का जो वर्णन किया है, वह अत्यन्त स्वाभाविक है।

पुष्पदंत कहते है कि जहाँ दुष्टों का निवास हो वहाँ रहना क्या? वहाँ जायें, जहाँ गिरि-कंदराओं में वास हो, जहाँ वृक्षों के फल खाने को मिलें, जहाँ निर्झरों का जल पीने के लिये हो, जहाँ गुण निसृत होते हों, और जहाँ दुष्टों की वाणी कान में न पड़े।[3]

कवि ने महापुराण के अन्तर्गत आदि पुराण, उत्तर पुराण, रामायण तथा हरिवंश पुराण की कथाओं के प्रारम्भ में दुर्जनों के प्रति अपने मानसिक क्षोभ को व्यक्त किया है। आदि पुराण की उत्थानिका में कवि कहता है कि जब प्रवरसेन कृत सेतुबंध काव्य भी तिरस्कृत किया जा सकता है, तो मैं, जो बुद्धि तथा सत्संगति-रहित एवं निर्बल व्यक्ति हूँ, किस प्रकार काव्य करके कीर्ति लाभ कर सकूंगा।[4]

आगे उत्तर पुराण प्रारम्भ करते हुए कवि, भरत मन्त्री के विषय में कहता है कि उन्होंने दुष्ट तथा कुशीलमति व्यक्तियों से पूर्ण इस कुसमय में अपनी विनयशीलता

---

(१) रज्जें भोज्जें किं परवसेण। मपु० ५०। ७। ३

(२) लिटरेरी सर्किल आफ महामात्य वस्तुपाल, पृ० १२

(३) किं किज्जइ पिसुणणिवासि वासु, तहिं गम्मइ जहिं कंदरणिवासु।
तहिं गम्मइ जहिं तरुवर हलाइं, तहिं गम्मइ जहिं णिज्झरजलाइं।
तहिं गम्मइ जहिं गुणणिरसियांइं, सुव्वंति ण खलजणभासियाइं।
मपु० ७०। ३। २-४

(४) जो सुम्मइ कइवइविहिय सेउ, तासे वि दुज्जणु किं परिम होउ।
घत्ता—णउ महु बुद्धिपरिग्गहु णउसुयसंगहु णउकासु वि केरउ बलु।
भणु किह करमि कइत्तणु ण लहमि कित्तणु जगु जि पिसुणसयसंकुलु।
मपु० १। ७। ८-१०

से उन्हें ढंक कर शून्य आकाश में जाती हुई सरस्वती का उद्धार किया।[1] वस्तुतः कवि को अपने जीवन में अनेक व्यक्तियों द्वारा प्रताड़ित होना पड़ा था। यही कारण है कि वह समय को कलि-काल द्वारा मलिन तथा विपरीत हुआ कहता है। उसे जो-जो मिलता है, वही दुर्जन है जैसे निष्फल, नीरस तथा शुष्क वन।[2] संसार गुणी पुरुषों के लिये सदैव वंक रहता है जैसे डोर (गुण) चढ़ाने पर धनुष वक्र हो जाता है।[3] इसी प्रसंग में कवि कहता है कि कोई उसे काव्य-पिशाच के रूप में मानता है और कोई थद्ध (अकर्मण्य) कहकर तिरस्कार करता है।[4]

राम-कथा के आदि में पुनः कवि कहता है कि कलि-काल में शुचिता निरर्थक हो गयी है, लोग दुर्जन हैं, अन्य भी पीड़ित हैं।[5]

हरिवंश पुराण की कथा कहते हुए भी कवि कहता है कि दुर्जन-समूह पर-दोष ग्रहण करता है। मैं उनके अप्रिय वचनों का निवारण न करूंगा। मैं काव्य करूं, वे निंदा करें। इनका परिणाम सर्वविदित है। मेरी काव्य-कीर्ति अपने सरस एवं सुकोमल पद दुष्टों की ग्रीवाओं पर रखकर तीनों लोकों से परे भ्रमण करेगी।[6]

कवि के इन वचनों में जहाँ निराशापूर्ण भाव हैं, वहाँ स्वाभिमान तथा आत्म-विश्वास भी कम नहीं। द्रष्टव्य है कि यह स्वाभिमान कोरे अभिमान पर ही आश्रित नहीं था, वरन् वह गंभीर अध्ययन, सतत साधना तथा परिपक्व अनुभव पर आधारित था।

जीवन के अभावों तथा संघर्षो ने कवि के हृदय में आत्मविश्वास की भावना कूट कूटकर भर दी थी। इसी के बल पर वे कहते हैं कि बड़े बड़े ग्रन्थों के ज्ञाता तथा दीर्घकाल से काव्य रचना में प्रवृत्त कवि भी मेरी समता नही कर सकते।[7] एक अन्य

---

(१) खलसंकुलि कालि कुसीलमइ विणउ करेप्पिणु संवरिय।
वच्चंति वि सुण्णु सुसुण्णवहि जेण सरासइ उद्धरिय। मपु० ३८।२।९-१०

(२) कलिमल मलिणु कालविवरेरउ, णिग्घिणु णिग्गुणुदुण्णयगारउ।
जो जो दीसइ सो सो दुज्जणु, णिप्फलु णीरसु णं सुक्कउ वणु। मपु० ३८।४।५-६

(३) जगु एउ चडाविउं चाउं जिह तिह गुणेण सह वंकउं। मपु० ३८।४।१०

(४) केण वि कव्वपिसल्लउ मण्णउ, केणवियद्धु भणिवि अवगण्णिउ। मपु० ३८।५।८

(५) कलिकालें सुट्ठु गलत्थियउ, जणु दुज्जणु अण्णु वि दुत्थियउ। मपु० ६९।१।५

(६) मपु० ८१।२।९-१२

(७) मपु० संधि ६५ की प्रशस्ति।

स्थान पर वे कहते हैं कि हे देवि, सरस्वती इस खल-संकुल संसार में अभिमान-रत्न-निलय पुष्पदंत के बिना तुम कहाँ जाओगी ? तुम्हारी क्या दशा होगी ?[1]

राज-सुखों तथा भोग-सामग्रियों को ठुकरा कर गिरि-कंदराओं में वास करने वाले व्यक्ति विरले ही होते हैं। यह उनके चरित्र और स्वभाव की सबसे कठिन परीक्षा होती है। कवि पुष्पदंत इस परीक्षा में खरे उतरते हैं। धनादि लोभ तो उनके पास फटक ही नहीं सके। उन्होंने एक स्थल पर अपने आश्रयदाता से कहा भी है कि मैं धन को तृणवत् समझ कर तुम्हारे गृह में वास कर रहा हूँ।[2] कवि की दृष्टि में धन सुरधनु के समान क्षणस्थायी तथा अन्यासक्ता प्रणयिनी के समान चंचल है।[3] उनकी कविता जिन-भक्ति हेतु लिखी गयी है, जीविका-वृत्ति के लिए नहीं।[4] जस० में उन्होंने अपनी काव्य-रचना का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए कहा है कि मैं धन और नारी की कथा कहने की अपेक्षा (धर्म-निबद्ध) कथा कहना उचित समझता हूँ।[5] इस सम्बन्ध में वे यह भी कहते हैं कि धन तथा नारी, दुर्बल एवं असहाय को कठिनता से प्राप्त होते हैं, परन्तु समर्थ एवं गुणवान के लिए वे सहज ही प्राप्य हैं।[6]

ऊपर से अभिमानी दिखाई देने वाले कवि के अन्तर की भाव-धारा वैसी नहीं है। शुष्कता एवं नीरसता तो दुर्जनों के प्रति है और वह होनी भी चाहिए। कवि वस्तुतः अत्यंत सहृदय है। उसके अन्तस् में करुणा की धारा निरन्तर प्रवाहित रहती प्रतीत होती है। अन्तराल की गहनता में विनयशीलता का सिंधु भरा प्रतीत होता है। गुणवंतभक्त होने के साथ ही वे विनय-गम्य भी हैं।[7] विचारणीय है कि

---

(१) लोके दुर्जन संकुले हतकुले तृष्णाकुले नीरसे
सालंकार वचोविचारचतुरे लालित्यलीलाधरे।
भद्रे देवि सरस्वति प्रियतमे काले कलौ साम्प्रतं
कं यास्यस्यभिमानरत्ननिलयं श्री पुष्पदंतं विना। मपु० संधि ८० की प्रशस्ति

(२) धणु तणु सम मज्झु ण तं गहणु णेहु णिकारिमु इच्छमि।
देवीसुय सुहणिहि तेणहउं णिलइ तुहारइ अच्छमि॥ मपु ३८.५.१०-११

(३) धणु सुरधणु जिह तिह थिरु ण ठाइ, पणइणि पणु अण्णहु पासि जाइ।
मपु० ५६।१।६

(४) मज्झु कइत्तणु जिणपय भत्तिहि, पसरइ णउ णिय जीविय वित्तिहि।
मपु० ३८।६ ३

(५) जस० १।१।५-६

(६) माहलहं जडयणह धणुहीणह दीणहं दुल्लहु।
उत्तममाणुसह गुणवंतउ माणुसु भल्लउ॥ णाय० ३।१३।१५-१६

(७) गुणवंतभत्तु तुहुं विणयगम्मु। णाय० १।२।८

जहाँ एक ओर वे स्वयं को ऐसा कवि मानते हैं जिसकी समता धुरंधर कवि भी नहीं कर सकते, वहाँ दूसरी ओर वे अपनी लघुता का वर्णन करते हुए विनय की मूर्ति बन जाते हैं। एक ही व्यक्तित्व में ऐसी असमान स्वभावगत विशेषताओं का सम्मिलन कठिनता से प्राप्त होता है।

कवि ने अपनी रचना में अनेक स्थलों पर लघुता के भाव प्रदर्शित किये हैं। महापुराण के प्रारंभ में भरत द्वारा काव्य रचना में प्रवृत्त होने का अनुरोध किये जाने पर कवि कहता है कि न मैं विद्वान् हूँ, न काव्य-लक्षण, छंद आदि जानता हूँ और न देशी भाषा (अपभ्रंश) से परिचय है। जिस जगद्वंद्य ग्रंथ की रचना विद्वान् कर चुके हैं, उस में किस प्रकार वर्णन कर सकूँगा।[1]

आगे इसी प्रसंग में कवि ने अकलंक (न्याय कुमुदचन्द्र-कर्ता), कपिल (सांख्य-कार), कणाद (वैशेषिक दर्शनकार), दत्तिल-विसाहिल (संगीतशास्त्र-कर्त्ता), भरत मुनि (नाट्यशास्त्र रचयिता), पतंजलि (महाभाष्यकार), भारवि, भास, व्यास, कूष्माण्ड, कालिदास तथा चतुर्मुख, स्वयंभू, श्रीहर्ष, द्रोण, ईशान, बाण आदि संस्कृत-अपभ्रंश के विद्वानों एवं कवियों के साथ ही वेदान्तियों तथा बौद्धों का उल्लेख करते हुए कहा है कि मैंने इनमें से किसी के ग्रंथों को नहीं देखा। मैं व्याकरण के धातु, लिंग, गुण, समास, संधि, कारक और विभक्ति भी नहीं जानता। महाभारत, पुराण, आगम, अलकार शास्त्र तथा पिंगलादि का भी मुझे ज्ञान नहीं है। हृदय में कला-कौशल भी निहित नहीं है मैं पूर्ण निरक्षर और जन्मजात मूर्ख हूँ। नरवेश में रुक्षचर्म लिये घूमता हूँ। अतिदुर्गम महापुराण के जल-निधान को कुडप द्वारा नहीं नापा जा सकता। तो भी मैं भक्ति-भावना से प्रेरित होकर यह कथा कहता हूँ। क्या तुच्छ मधुकर नभ में भ्रमण नहीं करता ?[2]

कवि कहता है कि मैं निर्लज्ज और पापी हूँ। आज भी मैं धर्म से अनविज्ञ हूँ। मेरा विवेक मिथ्या-रंजित है। और मैं जिन-वचनों का भेद भी नहीं जानता।[3]

---

(१) णउ होमि वियक्खणु ण मुणमि लक्खणु छन्दु देसि ण वियाणमि।
जा विरइय जयवंदहिं आसि मुणिंदहिं साकह केम समाणमि।
मपु० १।८।६—२०

(२) मपु० १।६।१-१५

(३) अहवा हउं णिग्घिणु पावयम्मु, ण वियाणमि अज्ज वि किं पिधम्मु।
मिच्छाहिराम रंजियविवेउ ण वियाणमि जिणवर वयण भेउ।
मपु० १।११।१-२

मेरा ग्रंथ-रचना तो आकाश को मुष्टि-सहित हाथ से ढंकना है अथवा कलश द्वारा समुद्र को भरना है।[१] अनेक स्थलों पर कवि ने स्वयं को जड़ कवि, कुकवि और तुच्छ बुद्धि वाला कहा है।[२]

कवि ने अपनी रामायण के प्रारंभ में चतुर्मुख से अपनी तुलना करते हुए, अपनी बुद्धि को विस्तार-रहित बतलाया है और कहा है कि कविता के लिये मेरे पास कोई सामग्री नहीं हैं। चतुर्मुख ने चार मुखों द्वारा काव्य में उच्च स्थान प्राप्त किया, किन्तु मेरे एक ही मुख है, सो भी खण्डित है। विधि ने मुझे दुर्जनता से मंडित बनाया है। मुझे छंद शास्त्र तथा व्याकरण का कुछ भी ज्ञान नहीं। लोग मेरी कविता पर हंसेंगे। मैं यदि विद्वानों के हृदयों में प्रवेश करने में असमर्थ रहा तो मेरे काव्य करने को धिक्कार है। विद्वत्समाज मेरी रक्षा करे।[३]

हरिवंश कथा कहने के पूर्व भी पुष्पदंत कहते हैं कि सुकवित्व न होते हुए भी मैं भारत-कथा कहता हूँ। विद्वता के अभाव में गुण-कीर्ति कैसे प्राप्त कर सकूँगा? मुझे विशेषण-विशेष्य आदि का कुछ भी ज्ञान नहीं है। मैंने सुकवियों द्वारा निर्देशित मार्ग भी नहो देखा।[४]

लघुत्व-प्रदर्शन में तुलसी ने भो कवि से मिलते-जुलते भाव व्यक्त किये हैं।[५]

इसके अतिरिक्त कवि को हम एक मनमौजी व्यक्ति के रूप में भी पाते हैं।

---

(१) लइ हत्थें झंपमि णहु समाणु, लइ कलसि समप्पमि जलणिहाणु।
मपु० १।११।४

(२) अम्हारिस जड़कइ कि मुण ति। मपु० २०।४।७
कि वण्णइ अम्हारिस कुकइ। मपु० ३६।५।११
जडु कव्वपिसाएं....। मपु० ४३।११।१३
सा मइं वण्णिज्जइ किं जडेण। मपु० ५८।४।७
तथा मपु० ५६।१।१, ६९।२।६, ७६।४।१०

(३) मपु० ६८।१।१-१२

(४) मपु० ८१।२।१-७

(५) कवि न होउं नहि चतुर प्रवीना, सकल कला सब विद्या हीना।
आखर अरथ अलंकृत नाना, छंद प्रबंध अनेक विधाना।
मानस, बाल० पृ० १३
(प्रकाशक-राम नरायन लाल, प्रयाग, १९२५)

विचित्र सा फक्कड़पन उसके स्वभाव में है। वह अपनी तबियत का बादशाह था। आदि पुराण रचने के पश्चात् कवि में एक प्रकार की उदासीनता आ गयी थी। इसी भावुक अवस्था में एक दिन देवी सरस्वती ने स्वप्न में दर्शन देकर, उनसे अर्हत् भगवान की प्रार्थना करने को कहा। सुनते ही वे जाग पड़े, परन्तु इधर-उधर देखा तो कोई नहीं, उन्हें बड़ा विस्मय हुआ। पश्चात् भरत ने उन्हें समझाया, तब वे आगे की कथा लिखने बैठे।[१]

पुष्पदंत जैसे निस्पृह व्यक्ति के हृदय में सांसारिक चिंताओं को कभी प्रश्रय नहीं मिल सकता। यही कारण है कि शरीर, संपत्ति तथा पुत्र-कलत्र से रहित होते हुए भी उनके मुख-मंडल पर प्रसन्नता की रेखा सदा अंकित रहा करती थी।[२] वे जब बोलते थे, तो उनकी शुभ्र दंत-पंक्ति की कान्ति से समस्त वातावरण उज्ज्वल हो जाता था।[३]

कवि को काव्य रचना के अतिरिक्त और कोई व्यसन न था। स्थूल भोग-विलास उन्हें छू भी न गये थे। आचरण निष्ठा के साथ जिन-भक्ति के धर्म-परायण मार्ग पर चलते हुए, उन्होंने सांसारिक व्यसनों के ताप का शमन कर दिया था।[४]

कवि जैसे स्वाभिमानी, स्पष्टवादी और प्रतिभावान व्यक्ति के प्रति स्वभावतः, अनेक मनुष्य द्वेष रखते थे और अनेक उन्हें गुणवान समझ कर आदर भी करते थे। कवि का कथन है कि कोई मेरा सम्मान करता है और कोई आलस्य से भरा हुआ कहकर मेरा तिरस्कार भी करता है।[५]

कवि के हृदय में वात्सल्य का स्रोत भी था। बालकों के प्रति उनका सहज स्नेह था। उनका कथन है कि पुत्र-स्नेह को मुनि-वर्ग भी कठिनाई से रोक पाते हैं।[६]

कवि को मिथ्या-भाषण से बहुत चिढ़ थी। पोदनपुर-राज अरविंद के पुत्र कमठ के मिथ्या बोलने पर, कवि ने उसके प्रति अत्यन्त कठोर शब्दों का प्रयोग किया है।[७]

---

(१) मपु० ३८।२ तथा ३८।३।५-१०
(२) पहसिय तुंडि कइणा खंडे। जस० ४।३१।४
(३) सियदंतपंतिधवली कयासु। मपु० १।७।१
(४) णाय० १।३।६
(५) मपु० ३८।५।८
(६) सिसु मोहणउ मुणिहिं दुवारु। मपु० ३६।२।८
(७) दप्पिटठु दुटठु खलु पावरासि, तं णिसुणिवि भासइ अलियभासि। मपु० ९३।११।४

पुष्पदंत में उपकार के प्रति कृतज्ञता के भी दर्शन होते हैं। अपने आश्रयदाता भरत तथा उनके पुत्र नन्न द्वारा उन्हें जो आश्रय और सम्मान प्राप्त हुआ, उसकी वे बार-बार प्रशंसा करते नहीं थकते।[१]

जैन धर्म में सदाचार तथा परोपकार की प्रधानता होने के कारण, कवि के काव्य में लोक-कल्याण की भावना होना स्वाभाविक ही है। उनकी रचनाओं में स्थल-स्थल पर कल्याणकारी उपदेशों तथा जन-हितकारी बातों की योजना मिलती है। उनके धार्मिक विश्वास इसी भावना की भित्ति पर आधारित हैं। जसहर चरिउ में कवि ने अकाल-पीड़ित देश में वर्षा द्वारा धान्य-कण-प्रदायिनी वसुंधरा की तृप्ति की कामना की है। वे सर्वत्र लक्ष्मी का निवास, नारियों के नृत्य, वाद्य-वादन, मंगलाचार आदि देखना चाहते हैं। शान्ति की स्थापना, दुःखों का उन्मूलन तथा अखिल नर-नारियों में धर्म के प्रति उत्साह देखना भी उन्हें अभीष्ट है।[२]

जीवन के अभाव तथा संघर्ष

पुष्पदंत ने महापुराण को समाप्त करते हुए अपने दरिद्र जीवन का अत्यंत करुण चित्रण किया है। वे कहते हैं कि सिद्धि विलासिनी के मनोहर दूत, मुग्धादेवी के शरीर से संभूत, निर्धनों-धनियों को समान रूप से देखने वाले, समस्त जीवों के अकारण मित्र, जिनका काव्य-स्रोत एवं शब्द-सलिल बढ़ा हुआ है, केशव के पुत्र, काश्यप गोत्रीय, विमल सरस्वती के विलासी, शून्य भवनों तथा देवालयों में निवास करने वाले; कलियुग के प्रबल पटलों से रहित, गृह-हीन, पुत्र-कलत्र से वंचित, नदियों, वापियों, सरोवरों में स्नान करने वाले, जीर्ण वस्त्र तथा वल्कल धारण करने वाले, धैर्यवान, धूलि-धूसरित अंगों वाले, दुर्जनों के संग से दूर रहने वाले, भूमि पर शयन करने वाले और अपने ही हाथों को ओढ़ने वाले, पंडित-मरण की कामना रखने वाले, मान्यखेट नगर के निवासी, मन में अर्हंत् का ध्यान करने वाले, महामात्य भरत द्वारा सम्मानित, अपने काव्य प्रबन्ध से जन-समूह को आनन्दित करने वाले तथा जिन्होंने पाप-पंक को धो डाला है, ऐसे अभिमान-मेरु नामांकित पुष्पदंत कवि ने इस काव्य को भक्ति पूर्वक रचा।[३]

---

(१) वरण्हाणविलेवण भूसणाइं, दिण्णाइं देवंगइं णिवसणाइं।
अच्चंतरसालइं भोयणाइं, गलियाइं जाम कइवय दिणाइं मपु० ११।६।७-८
अच्चंतरसालइं भोयणाइं जाम कइवय दिणाइं। मपु० ११।६।७—८

(२) होउ चिराउसु वरिसउ पाउसु, तिप्पउ मेइणि धणकणदाइणि।
विलसउ गोमिणि णच्चउ कामिणि, घुम्मउ मंदलु पसरउ मंगलु।
संति वियंभउ दुक्खु णिसुंभउ, धम्मुच्छाहि सहुं णरणाहि।
जस० ४।३१।११—१२

(३) मपु० १०२।१४।१—१३

कवि के इन शब्दों में उसकी मानसिक व्यथा का स्पष्ट परिचय मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि मान्यखेट आने से पूर्व कवि को अपने जीवन-निर्वाह के लिये अत्यधिक संघर्ष करना पड़ा था। निवास, भोजन तथा वस्त्र तक की सामान्य आवश्यकताएँ भी उसे उपलब्ध न थीं। संभव है इसका कारण उसका स्वाभिमान ही हो।

ऐसा करुण और हृदय-विदीर्ण करने वाला जीवन था उस व्यक्ति का जो संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषाओं का उद्भट विद्वान्, अनेक भारतीय दर्शनों का ज्ञाता तथा सरस्वती का वरद पुत्र था और जिसने अपनी प्रतिभा के बल पर समग्र अपभ्रंश साहित्य में शीर्ष स्थान प्राप्त किया था एवं जिसके कारण १४ वीं शताब्दी तक के कवि उसका आदरपूर्वक स्मरण करते रहे। सरस्वती तथा लक्ष्मी के वैर वाली किवदंती हमारे कवि के जीवन में प्रत्यक्ष दिखाई देती है। भारतीय साहित्य के इतिहास में ऐसे अनेक महापुरुषों के उदाहरण मिलते हैं, जिनका जीवन पुष्पदंत के समान ही दयनीय रहा है।

संभवतः उचित आश्रय की खोज में कवि को स्थान-स्थान पर भटकना पड़ा होगा। कुछ स्थानों पर तो उन्हें अपमान की कड़वी घूँट भी पीनी पड़ी। इसीलिये उनके स्वभाव में एक प्रकार की तिक्तता, कटुता, आक्रोश और प्रतिक्रिया की भावना आ गयी थी जिसकी स्पष्ट झलक उनके काव्य में दिखाई देती है।

परन्तु जीवन के अभाव उनके आत्मबल को विचलित न कर सके। उन्होंने जीवन से मुख मोड़ने का कभी विचार नहीं किया, प्रत्युत आपदाओं के झंझावात में आशा का दीपक उनके पथ को आलोकित करता रहा और इसीलिये उन्होंने गिरि-कंदराओं में वन्य-फलादि खाकर सम्मानपूर्वक जीवित रहना श्रेयस्कर समझा।

मान्यखेट आने के पश्चात् भरत तथा नन्न के आश्रय में उनके भोजन, वस्त्र तथा निवास के अभाव अवश्य दूर हो गये, परन्तु ऐसे सुखद आश्रय प्राप्त होने के बाद भी वे एकाकी और निःसंग ही रहे। पुष्पदंत की यह अवस्था देख कर ही डॉ० मायाणी को उनमें भवभूति के दर्शन होते हैं।[1]

कवि का संप्रदाय

पुष्पदंत जैन मतानुयायी थे। जिन-चरण-कमलों में उनकी अटूट भक्ति थी।[2] उसी भक्ति-भावना से प्रेरित होकर उन्होंने काव्य-रचना की।

कवि की समस्त रचनाएँ जैन महापुरुषों के जीवन-चरित्र सम्बन्धी हैं। महापुराण में जैन धर्म की समस्त सैद्धान्तिक बातों का समावेश है। इन रचनाओं

---

(१) पउम चरिउ, खंड १, भूमिका पृ० ११

(२) जिण चरण कमल भत्तिल्लएण। मपु० १।८।८

में जिन-भक्ति की भावना प्राय. उसी भाँति व्याप्त है, जिस प्रकार तुलसी के मानस में राम-भक्ति ।

ग्रन्थों में आये हुए प्रसंगों से ज्ञात होता है कि कवि जैन धर्म के दिगम्बर सम्प्रदाय को मानता था । काव्य के ऋषभ आदि महापुरुष दीक्षा के उपरान्त दिगम्बर मुनि हो जाते हैं ।[1]

काव्य के कथानकों का गठन भी दिगम्बर परम्परा में मान्य विश्वासों के आधार पर ही किया गया है । श्वेताम्बर सम्प्रदाय में जिन की माताएँ १४ स्वप्न देखती हैं, परन्तु दिगम्बर उनकी संख्या १६ मानते हैं । कवि ने ऋषभ की माता द्वारा १६ स्वप्न देखे जाने का उल्लेख किया है ।[2] श्वेताम्बर स्वर्गों की संख्या १२ मानते हैं, परन्तु हमारे कवि ने दिगम्बर मान्यतानुसार १६ स्वर्गों का वर्णन किया है ।[3] एक स्थान पर कवि ने श्वेताम्बरों के इस विश्वास की आलोचना की है कि केवल ज्ञानी मुनि भी भोजन करते तथा वस्त्र धारण करते हैं ।[4]

कवि के अनुसार उसके माता-पिता प्रथमतः शैव थे, परन्तु पीछे किसी जैन साधु के उपदेश से उन्होंने जैन धर्म ग्रहण कर लिया था और अन्त में जिन-संन्यास लेकर शरीर-त्याग किया था ।[5]

कवि की रचनाओं में अनेक स्थलों पर शिव की चर्चा मिलती है ।[6] इनसे अनुमान होता है कि पुष्पदंत भी अपने माता-पिता की भाँति पहले शैव रहे होंगे, पश्चात् उन्होंने भी जैन धर्म ग्रहण कर लिया होगा । महामात्य भरत ने कवि द्वारा भैरव राज की प्रशंसा करने के कारण उत्पन्न हुए मिथ्यात्व के प्रायश्चित-स्वरूप, महापुराण लिखने की जो प्रेरणा दी थी, स्व० नाथूराम प्रेमी ने इस घटना से भी पुष्पदंत के शैव होने तथा उसी अवस्था में भैरव राज की यशो-गाथा लिखने का अनुमान किया है ।[7]

---

(१) सासय सुहओ संवरो होहं होमि दियंवरो । मपु० ७।१५।२
झत्ति महामुणि हुवउ दियंवरु । मपु० ७।२६।१५

(२) मपु० ३।५

(३) सावयवय हलेण सोलहमउ सग्गु लहइ माणुसु दुहविरमउ । मपु० ११।१०।४

(४) अंवरु परिहइ भोयणु भुंजइ, भुवणुणाणु पभणंतु ण लज्जइ । णाय० ६।२।५

(५) सिवभत्ताइं मि जिणसण्णासें, वे वि मयाइं दुरिय णिण्णासें ।
णाय० पृ० ११२ (१०)

(६) मपु० १०।५।१-८, ६५।१२।६-७

(७) जैन साहित्य और इतिहास, पृ० २२६

पुष्पदंत पहले जो भी रहे हों, परन्तु जैन होने के पश्चात् उन्होंने केवल निष्ठा के साथ जिनधर्म का पालन ही नहीं किया वरन् अपने अमर ग्रंथों द्वारा उसके पवित्र सन्देश को गृह-गृह तक पहुँचाने का महान् कार्य भी किया ।

कवि की प्रतिभा तथा बहुज्ञता

प्राप्त उल्लेखों के आधार पर यह कहना कठिन है कि पुष्पदंत की शिक्षा-दीक्षा कहाँ पर और किन महापुरुषों के श्रीचरणों में बैठकर हुई थी । परन्तु उनका समग्र काव्य इसका साक्षी अवश्य है कि उनमें असाधारण प्रतिभा थी । उनका अध्ययन गम्भीर तथा विशाल था । विद्वानों के सत्संग भी उन्होंने किये होंगे । मानव जीवन के विविध रूपों एवं जगत् के विभिन्न व्यापारों को उन्होंने निकट से परखा भी था । इस सबंध में कवि की दर्पोक्तियाँ तथा विनय के उद्गार, जिनका उल्लेख हम पीछे कर चुके हैं, द्रष्टव्य हैं ।[1]

कवि द्वारा अपनी लघुता का प्रदर्शन तो कवि-प्रथा का पालन मात्र ही है । वस्तुतः वे अनेक विषयों के निष्णात् पंडित थे । मपु० में वर्णित जिन कवियों तथा विद्वानों एवं उनके ग्रंथों से कवि ने अपनी अनभिज्ञता प्रकट की है, उन सबका पुष्पदंत ने सम्यक् अध्ययन किया था ।[2]

जैन होने के कारण वे अपने धर्म से पूर्ण परिचित तो थे ही, साथ ही उन्होंने उसका गहन अध्ययन भी किया था । अकलंक, उमास्वामी आदि विद्वानों द्वारा निरूपित जैन धर्म के सिद्धान्तों को उन्होंने अपने ग्रन्थों में स्थान दिया है ।[3] वे अन्य भारतीय दर्शनों से भी परिचित थे । उन्होंने ब्राह्मणों के वेदान्त तथा बौद्धों के शून्यवाद की तर्क के साथ आलोचना की है ।[4] उन्हीं प्रसंगों में कवि ने सांख्य, मीमांसा, क्षणिकवाद, चार्वाक आदि दर्शनों तथा उनके उन्नायक विद्वानों के खंडन भी किये हैं ।[5]

---

(१) देखिए—पृ०६१–६६
(२) मपु० १।६।१—१०
(३) देखिए इस निबन्ध का अध्याय ६
(४) मपु० २०।१९ तथा णाय० ६।५—११
(५) मपु० २०।१७।२—५, ६६।३।११ तथा णाय० ६।११

प्राचीन परम्परा के अनुसार तीर्थङ्करों के जीवन-चरित्र अत्यल्प अन्तर के साथ प्राय: एक ही शैली में वर्णित किये जाते हैं।[1] काव्य में घटनाओं की ऐसी एकरूपता खटकने वाली बात है। परन्तु कवि ने प्रत्येक जिन का वर्णन इस कौशल से किया है कि उसमें एकरसता नहीं आने पाई। उदाहरणार्थ कवि ने २४ जिन माताओं के स्वप्न-वर्णन भिन्न-भिन्न छन्दों में किये हैं। इस प्रकार घटनाओं के मूलरूप को स्थिर रखते हुए समस्त कथानक ऐसी विविधता से साथ प्रस्तुत किये गये हैं कि काव्य-प्रवाह में कहीं शिथिलता नहीं प्रतीत होती। पाठक अथवा श्रोता क्रमश: नवीन भाव, नवीन शब्दावली तथा नवीन छन्दों का रसास्वादन करता हुआ आगे बढ़ता जाता है। इससे कवि के विशाल शब्द-भाण्डार का परिचय तथा भाषा पर असाधारण अधिकार सिद्ध होता है।

कवि का अलंकार-सौष्ठव भी द्रष्टव्य है। उनकी उपमाएँ तथा रूपक, मानव-जीवन एवं प्रकृति के विविध क्षेत्रों से ग्रहण किये गये हैं, जिनसे कवि के प्रकृति-प्रेम और व्यापक अनुभव का पता मिलता है। उन्होंने अनेक प्रचलित छन्दों का तोड़कर नवीन छन्दों की सृष्टि भी की है।[2]

कवियों के लिये अपनी जन्म-जात प्रतिभा के साथ ही अनेक विषयों का अध्ययन भी आवश्यक माना जाता है। पुष्पदंत भी इसी कोटि के विद्वान् थे। उनकी प्रतिभा का परिचय गत अनुच्छेदों में दिया जा चुका है, अब हम उनके विविध विषयों के ज्ञान की चर्चा करेंगे।

कवि ने अपनी रचनाओं मे अनेक प्रदेशों के उल्लेख किये हैं। उनमें से कुछ इस प्रकार है—

सौराष्ट्र मपु० ८६।१६।१२), मगध (मपु० ९०।३।११), विदर्भ (मपु० ९०।६।१५), उत्तर कुरु (मपु० ९०।१५।२०), कुरुक्षेत्र (मपु० ९२।१०।५), काशी (मपु० ९४।१२।११), वंग (मपु० ९५।१५।२), अवंति (मपु० ९८।१५।२२), कालग

(१) तीर्थंकर के जन्म के पूर्व इन्द्र की आज्ञानुसार कुबेर द्वारा नगर को रमणीय बनाया जाना, जिन-माता की परिचर्या के लिये छ: स्वर्गीय देवियों का आना, माता द्वारा सोलह स्वप्न देखना, जिन-जन्म पर इन्द्रादि देवताओं का आना तथा उनके द्वारा मेरु पर्वत पर जिन-अभिषेक-उत्सव मनाया जाना, युवावस्था में जिन का राजा होना, जगत् की क्षण-भंगुरता का ज्ञान होते ही सब कुछ त्याग कर जिन का वीतरागी हो जाना तथा अन्त में जन-कल्याण करते हुए निर्वाण प्राप्त करना। घटनाओं का यही क्रम प्राय: प्रत्येक जिन के चरित्र में है।

(२) देखिए—प्रस्तुत निबन्ध के अध्याय ९ का छंद प्रकरण।

(मपु० ८२।६।१४), कान्यकुब्ज (णाय० ५।२।११), यौधेय (जस० ११३।८) आदि[1]

मपु० में वर्णित कुछ नगरों के नाम इस प्रकार हैं—

साकेत (८१।१४।१०), पुष्कलावती (६०।८।१), अयोध्यापुरी (६० १४।६), कौशाम्बी (६०।१६।४), काम्पिल्य (९२।८।२), वाराणसी (६४।१२।११), राजगृह (६५।६।१), मथुरा (६५।११।६), वैशाली (६८।६।२), कांची (८८।६।१५), प्रभास आदि।

इन नगरों में प्रायः सभी अति प्राचीन नगर हैं, जिनके उल्लेख पुराणों तथा वौद्ध जातकों में भी प्राप्त होते हैं।[2]

मपु० में कुछ पर्वतों के नाम इस प्रकार हैं—

महाहिमवत् (६।५।४), कैलाश (१५।८।५), गंध मादन (६०।२।१३),

गृह-पालित पशु—

महिष (मपु० २।१८।१३), वसह (वृषभ, मपु० ३।१०।३), तुरंग (मपु० ४।४।११) मज्जार (मपु० ७।६।४), खर (मपु० ७।६।६), सुरहि (सुरभि, मपु० ७।८।७), सारमेय (श्वान, मपु० ७।१२।१), छेल (वकरी, जस० ११।१०।१) आदि।

पक्षी (मपु० में)

वप्पीहय (चातक, २।१३।१३), हंस (२।१३।१४), चंचरीक (२।१४।८), कोइलु (कोकिला, २।१८।८), भास (उलूक, (४।४।११), तंवचूलु (४।४।११), चक्कउल (चक्रवाक, ४।१८।१२) आदि।

जलचर (मपु० में)

सालूर (मेढक, २।१३।८), मयर (मकर, ७।६।७), कच्छव (कच्छप, ७।६।७), सिप्पि (शुक्ति, १२।७।१), जलरिट्ठ (जलकाक, १२।७।३), करिमयर (जलहस्ती, ५।१।१२), ओहर (जीव विशेष, ८७।६।१२) आदि।

वृक्ष (मपु० में)

ककेल्लि (अशोक, ८६।२।१२), कदंव (८६।२।१२), ताल (८६।१३।११), अंवय (आम्र, ८६।२।१२), सल्लइ (शाल, ६३।१४।४), सामरि (शाल्मली, ११।१८।३), मड्ड (नालिकेर, १२।२।३), णग्गोह (वट, ९।१५।१), मालूर (विल्व, ८।४।२२), आदि।

पुष्प (मपु० में)

कुमुद (२।६।६), नलिन (२।६।६), चंपउ (चंपा २।१३।१५), कुंद (२।२०।३)

---

(१) पतंजलि के महाभाष्य में कुछ प्रदेशों के नाम आये हैं। देखिए वाम्बे ब्रांच आफ रायल एशियाटिक सोसायटी जर्नल, खंड २७, भाग २ पृ० ५१—५२

(२) प्राचीन भारतीय परंपरा, डॉ० रांगेय राघव, पृ० ४१०-४१२

मालइ (मालती, ४।१।५), कणिकार (६।१५।३), सिंधुवार (६।२८।१-२) वउल(वकुल, २२।२।५-७), किंशुक (१६।२३।४), आदि ।

फलादि (मपु० में)

हिंताल (पिण्ड खजूर, ८३।१३।११), घोसायइ (कोपातकी फल, ८६।१७।११), कपित्थ (६५।११।१०), जंबू(१००।२।११) आदि ।

सरिताएं (मपु० में)

वेत्तवइ (वेत्रवती, १४।४।११), गंगा, सिन्धु (६५।४।१२), इरावइ (इरावती, ६८।११।१६), कालिंदि (८२।५।६), रेवाणइ (नर्मदा, ८८।१८।१७), मंदाइणि (मंदाकिनी, ३।२१।६) आदि ।

देशी-विदेशी मानव जातियां (मपु० में)

शवर (मपु० ७।३।५), चिलायउ (किरात,) हूण, चीण (चीनी), उज्जवउल (आर्यकुल), मेच्छ, (म्लेच्छ), (७।६।१५-१६), आदि ।

मपु० के ऋषभ-विवाह (४।१७—१८) तथा नीलंजसा-नृत्य (६।५—८) के प्रसंगों में कवि ने संगीत तथा नृत्य के सविस्तार वर्णन किये हैं। राजकुमार ऋषभ के विवाह के अवसर पर संगीत-गोष्ठी में कवि ने गायकों-वादकों के यथास्थान बैठने का उल्लेख किया है। मंडप की पूर्व दिशा में अनेक वाद्य-यन्त्र रखे गये हैं। उसके दाहिनी ओर उत्तर दिशा में तुंबरु गायक हैं। उनके सम्मुख मृदु गायिकाएं सरस्वती के समान बैठी हैं। उनके दाहिनी ओर वंशी-वादक हैं और उनके भी वाम पार्श्व में वीणाकारों का समूह है। इस प्रवन्ध को पच्चाहारु कहते हैं।[1]

इसी प्रसंग में कम्मारवी अर्थात् वाद्य-यन्त्रों के साफ करने की विधि का वर्णन करते हुए कवि ने, हिंडोल राग के गायन के साथ वण्ण, छडय तथा धारा नामक तालों का प्रदर्शन करती हुई नर्तकियों के आगमन का वर्णन किया है। आगे नर्तकियों द्वारा ३२ प्रकार के पद-प्रचार, १०८ प्रकार के शरीरावयव-संचालन, १४ प्रकार के शीश-संचालन, ७ प्रकार के भ्रू-संचालन, ६ प्रकार का ग्रीवा-संचालन तथा ३६ प्रकार के दृष्टि-संचालन का उल्लेख है। इसके अतिरिक्त अष्ट-रस-जनित हावों, ४६ भावों तथा अनेक अपूर्व अनुभावों के वर्णन हैं।[2]

---

(१) मपु० ४।१७।४—८

(२) कवि ने अनेक प्रकार के वाद्य-यंत्रों का उल्लेख किया है, जिनमें कुछ तो अति प्राचीन हैं तथा आधुनिक समय में उनका उपयोग नहीं होता। मपु० के कुछ वाद्य-यंत्र-झल्लिरि, पटह, मुइंग (मृदंग), तूर, आलावणि (आलापिनी-वीणा), भेरि, काहल, हुडुक्क, भंभा, आउज्ज (आतोद्य), दुंदुभि, पुप्फर, कंसताल आदि।

इसी प्रकार नीलंजसा के नृत्य में अनेक प्रकार के वाद्य, लय, यति, गति, ार, संयोग, मार्जनक, २० अलंकार, उनकी वाद्य-क्रियाएँ वर्णित हैं।[1]

इन प्रसंगों द्वारा कवि के विस्तृत संगीत शास्त्र के ज्ञान का परिचय नता है।

कवि ने राजकुमारों को सिखाई जाने वाली अनेक विद्याओं तथा कलाओं का ान किया है। णाय० में नागकुमार को अनेक विद्याओं की शिक्षा दी जाती है। में कुछ इस प्रकार हैं :—

१८ लिपियाँ, गणित, गांधर्व, व्याकरण, छंद, अलंकार, निघंटु, ज्योतिष, व्य, नाट्यशास्त्र, तंत्र-मंत्र, वशीकरण, व्यूह-रचना, शिल्प, चित्रकला, इंद्रजाल, ु-स्तंभन, नर-नारी-लक्षण आदि।[2]

इसी प्रकार राजकुमारियों को सिखाई जाने वाली विद्याओं में गद्य, अगद्य, व्य, संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश भाषाएँ, नाट्य, गीत आदि के वर्णन कवि ने किये । वात्स्यायन के कामसूत्र में इनमें से कुछ विद्याओं के उल्लेख हैं।

राजाओं की द्यूत-क्रीड़ा तथा विलास के वर्णन[4] एवं राज-सभा की व्यवस्था, शासन तथा सम्राट् के सम्मुख सभा के शिष्टाचार के उल्लेख[5] कवि के विस्तृत ा के परिचायक हैं।

पुष्पदंत, कामंदकीय नीति शास्त्र तथा कौटिल्य के अर्थशास्त्र से भी परिचित । तीन बुद्धि, तीन शक्ति, पंचांग मंत्र, राजा के सप्त व्यसन, राज्य के सप्तांग आदि ें उन्होने इन्हीं ग्रंथों से ली हैं।[6]

वात्स्यायन के कामसूत्र में वर्णित नारियों के लक्षणों के अनुरूप कवि ने भी का विवेचन किया है।[7]

अपने समय में स्त्रियों द्वारा धारण किये जाने वाले आभूषणों से भी कवि ्चित था। मपु० में वर्णित कुछ आभूषणों के नाम इस प्रकार हैं—

कुंडल सिरि, कर कंकण, णेउर (नूपुर), मणिहार, दोर बह्मसुत्त (ब्रह्मसूत्र), डसुत्त (कटिसूत्र), वलय, केयूर आदि।

) मपु० ६।५-८

) णाय० ३।१, इनमें कुछ कलाएँ विष्णु पुराण तथा शुक्रनीति सार में भी मिलती हैं।

) मपु० ५।१८

) जस० १।२८, २।११

) मपु० ६।१—२

) णाय० १।८

) मपु० ७१।६।६—१०

मानव शरीर के आकार-प्रकार, उनको जातियाँ, आयु आदि के वर्णन भी कवि ने किये हैं।[१] उन्होंने नाग कुमार के शरीर के जो लक्षण गिनाये हैं,[२] वराहमिहिर के ग्रंथ से वे मिलते जुलते हैं।

कवि ने एक स्थान पर कातंत्र नामक व्याकरण ग्रंथ का उल्लेख किया है।[३] डॉ० हीरालाल के मत से सर्व वर्मन ने इसकी रचना ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में की थी।[४]

तत्कालीन सामाजिक रीति-रिवाजों तथा विश्वासों पर भी कवि की दृष्टि गई है। उसने बाधाओं को दूर करने के लिये लवण उतारने तथा शव को कुशासन पर रखने का उल्लेख किया है।[५]

गोस्पर्श, पीपल-स्पर्श आदि शुभ फल-दायक[६] तथा काक के शिर पर बैठने के अशुभ फल-दायक विश्वासों का भी[७] कवि ने उल्लेख किया है।

कवि को ज्योतिष का भी सामान्य ज्ञान था। उसने ग्रहों की गति तथा अन्य ग्रहों पर उनके प्रभाव की चर्चा की है।[८] कुछ वैज्ञानिक तथ्य भी उसके काव्य में प्राप्त होते हैं। एक उपमा में धरित्री के नृत्य करने की बात कही गयी है।[९] आकाश मार्ग से देखे गये अनेक देशों का वर्णन भी एक स्थल पर मिलता है।[१०]

उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है कि पुष्पदंत एक प्रतिभावान व्यक्ति होने के साथ ही अनेक विषयों के पंडित भी थे। अपनी प्रतिभा तथा बहुज्ञता के बल पर ही वे महापुराण सरीखे उच्चकोटि के विशाल ग्रंथ की रचना करने में समर्थ हो सके।

कवि के आश्रयदाता

पुष्पदंत के जीवन का महत्वपूर्ण अंश उनके आश्रयदाताओं के यहाँ व्यतीत हुआ। प्राप्त सामग्री के आधार पर हमें कवि के तीन आश्रयदाताओं का पता लगता

---

(१) मपु० ११।८—९

(२) णाय० ३।४।८—१५, तुलना कीजिए—वृहत्संहिता (वराह मिहिर) अ० ६७।८५—८८

(३) कातंतं पिव कयविजणय। णाय० ६।९।८

(४) णाय० पृ० १९९

(५) तुर्यांइ लवणु जसु उत्तारिज्जइ, सो पुणरवि तणि उत्तारिज्जइ। मपु० ७।१।११

(६) गोफंसणपिप्पलफंसणइं, मपु० ६९।२३।८

(७) मा रसउ काउ चप्पिवि कवालु। मपु० ५२।७।३

(८) मपु० ३।१२, ३।१७, ९।१३, ५२।१७

(९) रोमंचिय णच्चइ णं धरत्ति। मपु० १०।३।५

(१०) मपु० ६२।९।८ से ६२।१०।१२ तक।

है। ये थे— भैरव राज, महामात्य भरत तथा नन्न । इनमें से अंतिम दो आश्रय-दाताओं के सम्पर्क में ही कवि की प्रतिभा को विकसित होने का समुचित अवसर प्राप्त हुआ।

भैरव राज

महापुराण में इनका केवल उल्लेख मात्र है। वहाँ कवि को ग्रंथ-रचना की प्रेरणा देते हुए भरत कहते हैं कि अपनी श्री विशेष से सुरेन्द्र को भी जीतने वाले तथा गिरि के समान धीर-वीर मानकर आपने भैरव राज की प्रशंसा की है, इस कारण जो मिथ्यात्व उत्पन्न हुआ है, उसका प्रायश्चित यदि आप कर डालें तो आपका परलोक बन जाय।[1]

इससे स्पष्ट होता है कि कवि भैरव राज के आश्रय में कुछ समय तक रहे तथा उसकी प्रशंसा में उन्होंने किसी ग्रन्थ की रचना भी की थी। मपु० के इस स्थल के टिप्पण में (मपु० १।८।१०) प्रभाचन्द्र ने उसे 'कथा मकरन्द' नामक ग्रन्थ का नायक बतलाया है। सम्भवतः कवि ने यही ग्रंथ रचा होगा। बाद में अपमानित होने पर कवि वहाँ से चला आया। इसी कारण मान्यखेट के नागरिकों द्वारा नगर में चलने का अनुरोध करने पर कवि ने राजाओं की कटु आलोचना की है।

महामात्य भरत

कवि जिस समय मान्यखेट के बाहर किसी उद्यान में ठहरे थे, अम्मइय तथा इन्दराय नामक दो नागरिकों ने आकर उनसे महामात्य भरत के यहाँ चलने का अनुरोध किया। प्रथम तो कवि तैयार न हुए, परन्तु अन्त में जब उन्होंने इन शब्दों में भरत का परिचय दिया, तब कवि ने उनके अनुरोध को माना। नागरिकों ने कहा—

ब्रह्माण्ड में जिनकी कीर्ति फैली है, जो जिन-भक्ति में अनवरत लीन रहते हैं, जो शुभतुंग देव (कृष्ण राज) के चरण-कमलों के भ्रमर हैं, समस्त कलाओं तथा विद्याओं में कुशल हैं, प्राकृत कवियों के काव्य-रस का मर्म जानते हैं, जिन्होंने सरस्वती-सुरभि का दुग्ध-पान किया है, जो लक्ष्मी के प्रिय, मत्सर-रहित तथा सत्सघ हैं, जिनके स्कंध रण-भार को ढोते हुए घिस गये हैं, जो सुप्रसिद्ध महाकवियों के हेतु कामधेनु हैं, जो दीन-दुखियों की आशा पूर्ण करने वाले हैं, जिनका यश दशों दिशाओं में फैला है, जो पर-रमणी से विमुख रहते हैं, जो गुरुजनों के चरणों मे सदैव नत रहते हैं, जो श्री देवी के पुत्र, दानवीर एवं महामात्य-वंश के ध्वज-पट को ग्रहण करते हैं, जिनका शरीर लक्षणों से लक्षित है, जो दुर्व्यसन-सिंह का संघात करने में शरभ के समान हैं, ऐसे भरत का नाम क्या आप नहीं जानते? आइए, उन्हीं के

(१) देखिए—प्रस्तुत निबन्ध के पृष्ठ ५९ का पाद टिप्पण (१)

निवास पर चलें, जो नेत्रों को आनन्दित करने वाले हैं तथा सुकवि के कवित्व को जानते हैं। ऐसे गुण-गण-चिंतक एवं त्रैलोक्य के भले (भरत) निश्चय ही आपका सम्मान करेंगे।[१]

भरत ने पुष्पदंत का यथोचित अभिनन्दन किया। कवि के आगमन पर वे ऐसे प्रसन्न हुए जैसे वागेश्वरी-सरिता उल्लास से कल्लोल कर रही हो।[२] उन्होंने कवि से कहा कि आपका आगमन मेरे लिये वैसा ही है, जैसा कमल के लिये सूर्य का।[३]

कुछ दिन व्यतीत होने पर भरत ने कवि को महापुराण रचने को प्रेरणा दी। कवि का नवनीत-हृदय उनके अनुरोध को न टाल सका और वे काव्य-रचना में प्रवृत्त हो गये।

भरत प्रसिद्ध तथा धन-सम्पन्न कौंडिल्ल गोत्र में उत्पन्न हुए थे।[४] उनके पिता का नाम ऐयण और माता का नाम देवी अथवा श्रीदेवी था।[५] पितामह का नाम अण्णइय था।[६] कुंदव्वा उनकी पत्नी थी।[७] उनके तीन पुत्र थे—देविल्ल, भोगल्ल तथा नन्न। कवि ने देविल्ल को समस्त भूमण्डल पर महापुराण का प्रसार करने वाला कहा है, भोगल्ल को चतुर्विध-दान-दाता, भरत का परम मित्र, अनुपम चरित्रवान तथा यशस्वी बतलाया है। नन्न को गुणवंत, कुल-बल-वत्सल, सामर्थ्य-महंत आदि कहा है। सोहण तथा गुणधर्म संभवतः नन्न के पुत्र थे।[८] इन्हें एक स्थान पर महोदधि के शिष्य कहा गया है। णाय कुमार चरिउ की रचना करने को प्रेरणा इन्होंने भी कवि को दी थी।[९]

भरत के किसी अन्य भ्राता अथवा सम्बन्धी का उल्लेख नहीं मिलता। सन्तान-क्रम से चली आने वाली लक्ष्मी, कुछ काल से उनके कुल से चली गयी थी, जिसे भरत ने आपत्तियाँ सहकर, अपनी तेजस्विता तथा प्रभु-सेवा से पुनः प्राप्त कर ली थी।[१०]

---

(१) मपु १ ५।१-१३
(२) आवंतु दिट्ठु भरहेण केम, वाईसरि सरिकल्लोलु जेम। मपु० १।६।२
(३) तुहुँ आयउ णं पकयहो भाणु। मपु० १।६।५
(४) कौंडिल्ल गोत्त णह दिणयरासु। जस० १।१।३
(५) सिरिदेवियंब गब्भुब्भवंगु। (मपु १।५।८)। अइयणदेवियव्वतणुजाए। मपु० ३८।३।१
(६) मपु० १।५।६
(७) कुंदव्व भरह दिय तणुरुहेण। णाय० १।३।८
(८) मपु० खंड ३, पृष्ठ २६८
(९) णाय० १।२।३-४ तथा १।३।१
(१०) मपु० सन्धि १३ की प्रशस्ति

भरत का शरीर श्याम वर्ण का था, परन्तु गठन मनोहर तथा मुखाकृति सुन्दर थी।[1] उनका शरीर बलिष्ट था, भुजाएँ हाथी की मूँड़ के समान तथा नेत्र कमलवत् थे।[2]

महामात्य जैन धर्मानुयायी थे। कवि से वे कहते है कि आप कुसुम-शर-विदारक अर्हत् (जिन) भट्टारक की सद्भाव से स्तुति क्यों नहीं करते ?[3] इससे प्रकट होता है कि वे एक धार्मिक पुरुष थे और अपने संरक्षण में विशिष्ट महापुरुषों के चरित्र वर्णन करने वाले ग्रंथ की रचना होना पुण्य-कार्य समझते थे। कवि ने इसी कारण उन्हें अनवरत-रचित-जिननाथ-भक्ति वाले तथा जिनवर-समय-प्रासाद-स्तंभ कहा है।[4] भरत ने अपना धन वापी, कूप, सरोवर आदि के निर्माण मे व्यय करने की अपेक्षा जैन-धार्मिक-साहित्य की रचना तथा उसके प्रसार में लगाया।[5]

मपु० में भरत के संबंध में पुष्पदंत ने बहुत कुछ लिखा है। लगभग सभी प्रशस्ति-पद भरत की प्रशंसा में ही रचे गये हैं। स्व० प्रेमी जी लिखते हैं कि उनका सारा गुणानुवाद, हो सकता है कि कवित्वपूर्ण होने के कारण अतिशयोक्तिमय हो, परन्तु कवि के स्वभाव को देखते हुए उसमें सत्यता भी कम न होगी।[6]

भरत बड़े बुद्धिमान तथा नीति-कुशल थे। अपने मृदु भाषण तथा विनयशील स्वभाव द्वारा ही वे पुष्पदंत जैसे स्वाभिमानी कवि को अपनी ओर आकर्षित कर सके। फिर कवि से मपु० जैसे ग्रंथ को रचना कराना तो और भी दुष्कर था। जब भरत ने देखा कि कवि का मानस दुर्जनों के कारण अति खिन्न है और वे उसी कारण कविता नहीं करते, तो उन्होंने बड़ी तर्क पूर्ण युक्तियों द्वारा कवि को प्रोत्साहित किया। उन्होने कहा कि विवेक-नष्ट मसि-कृष्ण काक कहीं सुन्दर प्रदेश में रह सकते हैं ? दुर्जन तो निष्कारण क्रोध करके अपने स्वभाव के कारण दोष लेते हैं। अन्धकार को नष्ट करने वाले सूर्य का उदय उलूक को कभी भला नहीं लगता। विकसित कमल-युक्त सरोवर उसे कभी रुचिकर नहीं लगते। तेज-हीन पिशुन को कौन गिनता है ? वह तो चंद्रमा पर भूंकने वाले श्वान के समान होता है।[7]

---

(१) मपु० सन्धि १६ की प्रशस्ति
(२) मपु सन्धि ७ की प्रशस्ति
(३) जइ कुसुमसर वियारउ अरहुभडारउ सब्भावें ण थुणिज्जइ। मपु० १।६।१६
(४) मपु० १।५।१ तथा ३८।३।२
(५) मपु संधि ४५ की प्रशस्ति
(६) जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ३४०
(७) मपु १।८।३—७

आदि पुराण समाप्त करने के पश्चात् कवि एक वार फिर अड़ गये। उनको उदास-चित्त देख कर भरत ने पूछा कि आप इतने दुर्मन क्यों दिखाई दे रहे हैं ? ग्रंथ-रचना करने में आपका चित्त क्यों नहीं लगता ? क्या मुझसे कोई अपराध हो गया है, अथवा कोई अन्य कारण है। कृपया सब कुछ बतलाइए। क्या इस अस्थिर संसार से आपको मोह हो गया है ? आप सिद्ध-वाणी धेनु का नवरस-क्षीर क्यों नहीं दुहते ?[1]

भरत के इन शब्दों ने कवि पर जादू सा प्रभाव डाला। उनकी लेखनी पुनः गतिमान हो गयी। पुलकित हृदय से कवि ने इस प्रसंग में भरत की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि राजा शालिवाहन से भी बढ़ कर उनकी कीर्ति फैली थी। कालिदास को अपने कंधों पर उठाने वाले श्रीहर्ष के समान दूसरे भरत ही हैं। इसके अतिरिक्त, कवि-वत्सल, कवि-क्रीड़ा-गिरिवर तथा कवि-राजहंस-मानस सर आदि विशेषणों द्वारा पुष्पदंत ने भरत को साहित्य-प्रेमी तथा कवियों को संरक्षण देने वाला कहा है।[2]

भरत संतों के समान रहते थे। विद्या ही उनका व्यसन था। उनके निवास-स्थान पर संगीत-काव्य की गोष्ठियाँ हुआ करती थीं। लिपिक ग्रंथों की प्रति-लिपियाँ किया करते थे। पुष्पदंत के आगमन के पश्चात् उनका गृह विद्या-विनोद का केंद्र बन गया था।[3] लक्ष्मी तथा सरस्वती का अपूर्व संयोग उनमें था।[4]

कवि ने एक स्थल पर उन्हें वल्लभराज (कृष्ण) के कटक का सेनापति कहा है।[5] संभवतः वे सम्राट् के दान-मंत्री भी थे।[6]

सन् ९६५ ई० में महापुराण की समाप्ति तक तो भरत अवश्य ही जीवित थे, परंतु उसके पश्चात् रचे हुए ग्रंथों को कवि ने नन्न के नाम से अंकित किया है। इससे अनुमान होता है कि उक्त वर्ष के कुछ समय पश्चात् ही उनकी मृत्यु हो गयी होगी।

राजाओं तथा राज-मंत्रियों द्वारा स्वयं साहित्य-सृजन करने अथवा कवियों को प्रेरित कर काव्य रचना कराने के उदाहरण भारतीय साहित्य के इतिहास में प्रचुर हैं। मुद्राराक्षस नाटक के रचयिता विशाखदत्त (५ वीं शताब्दी), सामंत वटेश्वरदत्त

---

(१) मपु० ३८।३।६-१०

(२) मपु० ३८।५।२-६

(३) मपु० संधि ६७ की प्रशस्ति

(४) मपु० संधि २१ की प्रशस्ति

(५) श्रीमद्वल्लभराज-कटके यश्चाभवन्नायकः। मपु० संधि ४२ की प्रशस्ति

(६) हंहो भद्र प्रचंडावनिपतिभवने त्यागसंख्यान कर्ता। मपु० संधि ७ की प्रशस्ति

के पौत्र तथा महाराज भास्करदत्त के पुत्र थे।[1] परमर्दि देव का मंत्री वत्सराज तथा उसका पुत्र त्रैलोक्यवर्म देव, १३ वीं शताब्दी के बड़े प्रसिद्ध साहित्यिक थे। इसी समय में धवलक्क (गुजरात) के राजा वीर धवल के जैन मंत्री वस्तुपाल अपने विद्या-प्रेम के लिये बड़े प्रसिद्ध थे। आचार्य हेमचन्द्र द्वारा बाल-कवि उपाधि से अलंकृत जगद्देव भी एक मंत्री-पुत्र थे।[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन तथा मध्यकालीन भारत की यह परंपरा थी कि उच्च पदस्थ व्यक्ति अपने समय के सांस्कृतिक नेता भी होते थे। अपने जीवन में महान् कार्य करने के पश्चात् उनकी यह अभिलाषा रहती थी कि अंतिम समय में समस्त सांसारिक बंधनों को त्याग कर धर्म-कार्य करते हुए मृत्यु का आलिंगन करें। संभवतः महामात्य भरत के सम्मुख भी ऐसा ही उद्देश्य था, जिसकी पूर्ति उन्होंने हमारे कवि को संरक्षण देकर की। अपना पार्थिव शरीर त्याग करने के पूर्व ही अपने जीवन की महत् अभिलाषा पूर्ण हुई देख उनकी आत्मा को कितनी शान्ति मिली होगी, इसका अनुमान करना कठिन है। वस्तुतः धर्म तथा साहित्य दोनों ही क्षेत्रों में भरत का योग चिरस्मरणीय है।

आश्चर्य की बात है कि राष्ट्रकूटों के इतिहास में जहाँ महाराज कृष्ण के साहित्य प्रेम के साथ ही उनके एक नारायण नामक विद्वान् एवं राजनीतिज्ञ मंत्री की चर्चा की गयी है, वहाँ भरत जैसे व्यक्ति का कोई भी उल्लेख नहीं है।[3] संभवतः राष्ट्रकूटों की शासन-पद्धति में मन्त्री का स्थान अमात्य से अधिक महत्व का होगा, जैसाकि प्राचीन ग्रन्थों में कहा गया है। शुक्रनीति सार के अनुसार नीति-कुशल राज-सहायक को मन्त्री कहते थे। अमात्य एक प्रकार का राजस्व-मंत्री होता था।[4] भरत अमात्य ही थे। दूसरे जैन होने के कारण संभव है कि अजैन व्यक्तियों द्वारा उन्हें उचित सम्मान न दिया गया हो। किन्तु हमारे कवि ने उस महापुरुष की कीर्ति को अक्षुण्ण रखकर, इतिहासकारों को अपनी भूल सुधार करने का स्वर्ण अवसर प्रदान कर दिया है।

गृहमन्त्री नन्न

नन्न भरत के कनिष्ट पुत्र थे। भरत के पश्चात् हमारे कवि इन्हीं के आश्रय

---

(१) लिटरेरी सर्किल आफ महामात्य वस्तुपाल, पृ० ४२

(२) वही

(३) सालोटगी का शिलालेख, जैन साहित्य और इतिहास पृ० २३६ पर उद्धृत।

(४) शुक्रनीति सार; अ० २ श्लोक ६४-६५

में रहे। योग्य पिता के योग्य पुत्र होने के कारण, उन्हें राष्ट्रकूट सम्राट् के गृह-महत्तर (गृहमन्त्री) होने का गौरव प्राप्त हुआ था।[1]

पुष्पदंत नन्न के सौजन्यपूर्ण व्यवहार से अत्यन्त सन्तुष्ट रहते थे। नन्न के आग्रह से उन्होंने णायकुमार चरिउ की रचना की। जसहर चरिउ को भी कवि ने नन्न को समर्पित किया है।

कवि ने उनके दो पुत्रों, सोहण तथा गुणवम्म का उल्लेख किया है, जिन्होंने कवि को णाय० की रचना करने का, (अपने पिता नन्न की ही भाँति) प्रोत्साहन दिया था।[2]

णाय० में कवि ने नन्न की बड़ी प्रशंसा की है। उन्हें कलिविलसित-दुरित-कृतान्त, कौंडिण्ण गोत्त-नभ-शशधर, लक्ष्मी-पद्मिनि-मानस-सर आदि विशेषणों से संबोधित किया है। वे अपनी कुल की कीर्ति का विस्तार करने वाले थे। इधर-उधर बिखरी हुई सरस्वती को बाँधने वाले थे। वे अनेक दीन-दुखियों की सहायता करते थे तथा विपक्षियों को पराजित करने की क्षमता भी रखते थे।[3]

नन्न भी पिता की भाँति जैन धर्म के पोषक तथा उन्नायक थे। कवि को प्रोत्साहित करते हुए वे कहते हैं कि आप तन्द्रा त्याग कर मनोहर काव्य-रचना कीजिए जिससे जिन धर्म का कार्य मन्द न हो।[4]

मान्यखेट की लूट के पश्चात् पुष्पदंत ने अपने भावी निवास की जो चिन्ता प्रकट की है[5], उससे ज्ञात होता है उस आक्रमण में राष्ट्रकूटों के प्रासादों के साथ ही नन्न का गृह भी नष्ट कर दिया गया था।

कवि का समय

यद्यपि पुष्पदंत ने स्पष्ट रूप से अपने समय का उल्लेख नहीं किया है, तथापि डॉ० वैद्य ने कवि के ग्रन्थों की निम्नलिखित बातों के आधार पर उनका समय निश्चित किया है —

(१) कवि द्वारा अपने पूर्ववर्ती विद्वानों के उल्लेख- जिनमें वीरसेन, जिनसेन तथा रुद्रट सबसे बाद के हैं। वीरसेन ने धवला की रचना ८१६ ई० में तथा जिनसेन ने जयधवला की रचना ८३७ ई० मे की थी। रुद्रट का समय ८०० से ८५० के मध्य मे निश्चित है।

---

(१) वल्लहणरिंद घर महयरासु। जस० १.१.३

(२) णाय० १।२।४–१०

(३) णाय० १।३।१—६

(४) करि कव्वु मणोहरु मुयइ तंदु, जिणधम्मकज्ज मा होहि मंदु। णाय० १।३।१०

(५) मपु० संधि ५० की प्रशस्ति (देखिए पृ० ३४)

(२) सम्राट् कृष्णराज द्वारा चोलराज के वध की घटना, जो ९४९ ई० में हुई थी।

(३) महापुराण रचना का सिद्धार्थ वर्ष में प्रारम्भ तथा क्रोधन वर्ष में आषाढ़ मास के शुक्ल पक्ष की दशमी को ग्रन्थ समाप्ति का निर्देश।

(४) ९७२ ई० में खोटिग्ग देव के शासनकाल में धारा-नरेश सीयक द्वारा मान्यखेट पर हुए आक्रमण का मपु० संधि ५० की प्रशस्ति में उल्लेख।

उपर्युक्त तथ्यों के अनुसार जयधवला की रचना (८३७ ई०) एवं रुद्रट (८५० ई०) के पश्चात् तथा मान्यखेट की लूट (९७२ ई०) के समय तक पुष्पदंत का वर्तमान होना निश्चित् हो जाता है। तिथियों की इन सीमाओं के अन्तर्गत सिद्धार्थ वर्ष दो बार आता है। प्रथम ८९९ ई० में तथा द्वितीय बार ९५९ ई० में। इनमें प्रथम तिथि तो इस कारण मान्य नहीं है कि इस समय कृष्णराज वर्तमान नहीं थे तथा उन्होंने चोल-विजय ९४९ ई० में की थी। दूसरी तिथि अर्थात् ९५९ ई० का सिद्धार्थ वर्ष ही इस प्रकार मपु० की रचना के प्रारम्भ होने का वर्ष ठहरता है। क्रोधन संवत्सर सिद्धार्थ संवत्सर के छः वर्ष बाद आता है, अतः उक्त तिथि के ६ वर्ष बाद क्रोधन संवत् की आषाढ़ सुदी दशमी तदनुसार ११ जून ९६५ ई० को ग्रन्थ की समाप्ति हुई थी।[१]

---

(१) देखिए मपु० खंड ३, भूमिका पृ० १८-१९

अध्याय ४

कवि की रचनाएँ-उनका परिचय तथा वर्ण्य विषय

कवि की प्रामाणिक रचनाएं—

पुष्पदंत रचित तीन काव्य-ग्रंथ प्राप्त हुए हैं—तिसट्ठि महापुरिस गुणालंकार (महापुराण), णायकुमार चरिउ तथा जसहर चरिउ। डॉ० रामकुमार वर्मा ने अपने आलोचनात्मक इतिहास में कवि के एक अन्य ग्रंथ कोश-ग्रंथ का भी उल्लेख किया है[1], परन्तु यह रचना उपलब्ध नहीं है।

उक्त रचनाओं में सबसे विशाल एवं महत्वपूर्ण महापुराण है। अन्य दो अपेक्षाकृत लघु रचनाएं हैं।

रचना शैली—

कवि ने समस्त काव्य-रचना प्रबंध शैली में की है। प्रभाव की दृष्टि से प्रबंध काव्य मुक्तक की अपेक्षा अधिक महत्व रखते हैं। परन्तु कवि का अपने धर्म के प्रति विशेष आग्रह होने के कारण, उसकी रचनाएं धार्मिक सिद्धान्तों के भार से बोझिल प्रतीत होती हैं।

अपभ्रंश कवियों ने अपनी रचनाओं का संस्कृत-प्राकृत की भाँति सर्गों-आश्वासों के स्थान पर संधियों में विभाजित किया है। प्रत्येक संधि में अनेक कड़वक होते हैं। संधि का शीर्षक उसमें वर्णित मुख्य घटना के आधार पर रखा जाता है।

कड़वक की रचना पद्धड़िया आदि किसी छंद के १६ पदों (अर्धालियों) अथवा ८ यमकों द्वारा की जाती है[2]। इसके आदि में दुपदी, हेला आदि कोई छंद कभी-कभी रख दिया जाता है। परन्तु अन्त में घत्ता का होना अनिवार्य है। स्वयंभू के पउम चरिउ में कड़वक के पदों की संख्या के नियम का पालन कहीं-कहीं है, सर्वत्र नहीं।

---

(१) हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डॉ० रामकुमार वर्मा, १९४८, पृ० ११३

(२) पद्धडिया पुणु जेई करेंति, तें सोड (ल) ह मत्तउ धरेंति।
विहि पअहिं जमउ ते णिम्मअंति, कडवअ (उ) अट्ठहिं जमअहिं रअंति।
स्वयंभू छंदस्, ८।३० (पउम चरिउ, खंड १, भूमिका पृ० ९३ से उद्धृत)

परन्तु उनके पश्चात् के कवियों में इस नियम की शिथिलता सी हो गयी। पुष्पदंत के काव्य में हम यही देखते हैं। उनके महापुराण की संधि ४० के १२ वें कड़वक में जहाँ ४६ पद हैं, वहाँ संधि ४७ के ७ वें कड़वक में केवल ८ ही पद हैं।

इस प्रकार प्रबंध काव्य-रचना में संधि-कड़वक शैली का विधान अपभ्रंश की अपनी विशेषता है। यह परंपरा हिन्दी के भक्तिकालीन कवियों में भी प्राप्त होती है। जायसी तथा तुलसी के प्रबंध काव्य इसी शैली में रचे गये हैं; उनके काव्यों में कड़वक के पदों की संख्या वाले नियम का पालन किया गया है तथा अंत में घत्ता के स्थान पर दोहा अथवा सोरठा आदि कोई छन्द रखा गया है।

पुराणों की भाँति जैन प्रबंध काव्य भी श्रोता-वक्ता के प्रश्नोत्तरों से गतिमान होते हैं। कवि के महापुराण की कथा महाराज श्रेणिक के अनुरोध पर वर्धमान महावीर के गणधर गौतम सुनाते हैं।

ग्रंथ परिचय तथा वर्ण्य विषय—

महापुराण

सामान्य परिचय—कवि ने इस ग्रंथ की रचना राष्ट्रकूट सम्राट् कृष्ण तृतीय (उपनाम तुडिग, ९३९-९६८ ई०) के राज्यकाल में[1], उनके मन्त्री भरत की प्रेरणा से[2] तथा उन्ही के आश्रय में रहते हुए, मान्यखेट नगर में की थी।

कवि ने ग्रंथ-रचना के प्रारम्भ तथा समाप्ति की तिथियों का इस प्रकार उल्लेख किया है :—

तं कहमि पुराणु पसिद्ध णामु, सिद्धत्थ वरिसि भुवणाहिरामु।

(मपु० १।३।१)

तथा—कोहण संवच्छरि आसाढइ, दहमइ दियहि चंदरुइरूढइ।

(मपु० १०२।१४।१३)

इसके अनुसार कवि ने इस ग्रंथ की रचना सिद्धार्थ शक सं० ८८१ (९५९ ई०) में आरंभ करके क्रोधन शक सं० ८८७ की आषाढ़ शुक्ल दशमी (रविवार ११ जून, ९६५ ई०) को समाप्त की थी।[3]

कवि ने ग्रंथ को दो भागों-आदि पुराण तथा उत्तर पुराण—में विभाजित किया है। आदि पुराण में ३७ तथा उत्तर पुराण में ६५ संधियाँ हैं। इस प्रकार

---

(१) भुवणेक्करामु रायाहिराउ, जहिं अच्छइ तुडिगु महाणुभाउ।

म०पु १।३।३

(२) मपु० १।६।९-१६

(३) जस० भूमिका, पृ० २०-२४

संपूर्ण ग्रंथ १०२ संधियों में समाप्त हुआ है। ग्रंथ में सब मिलाकर १९०७ कड़वक तथा २७१०७ पद हैं।

ग्रंथ की प्रत्येक संधि के अन्तिम घत्ता में कवि ने अपना तथा आश्रयदाता भरत का उल्लेख किया है—

जय णिहयणियामय भरहणियामय पुप्फयंततेयाहिय।

(मपु० ११।१८।१५)

प्रत्येक संधि की पुष्पिका में भी भरत का नाम अंकित करने के साथ ही संधि का शीर्षक तथा उसकी संख्या का निर्देश किया गया है। यथा—

'इय महापुराणे तिसट्ठिमहापुरिसगुणालंकारे महाकइ पुप्फयंत विरइए महाभव्वभरहाणुमण्णिए महाकव्वे सम्मइ समागमो णाम पढमो परिच्छेओ समत्तो।'

इसमें 'महाभव्व भरहाणुमण्णिए' विशेषण भरत द्वारा कवि को ग्रंथ-रचना की प्रेरणा दिये जाने की ओर संकेत करता है। संधियों के अन्त में अपनी नाम मुद्रा का अंकन अपभ्रंश कवियों का सामान्य नियम रहा है। स्वयंभू के पउम चरिउ में भी ऐसा ही है।

महापुराण की अनेक संधियों के आरंभ में संस्कृत-प्राकृत की प्रशस्तियां प्राप्त होती हैं। इनकी संख्या ४८ है।[1] इनमें सरस्वती-वंदना, कवि का आत्मकथन, ग्रंथ का विस्तार, कवि तथा भरत का मैत्री-भाव, भरत की प्रशंसा आदि अनेक बातों का उल्लेख किया गया है। इनसे कवि के जीवन, उसके आश्रयदाता आदि से संबंधित तथ्य ज्ञात होते हैं। प्रतीत होता है कि कवि ने ग्रंथ रचना के पश्चात् समय-समय पर इन्हें लिखकर उसमें जोड़ दिया है। प्रमाणस्वरूप संधि ५० की प्रशस्ति में धारा नरेश सीयक द्वारा मान्यखेट की लूट का वर्णन है।[2] यह घटना महापुराण की समाप्ति के लगभग ७ वर्ष पश्चात् सन् ९७२ ई० में हुई थी।[3]

प्रशस्ति लेखन की पद्धति अति प्राचीन है। इसका आदि रूप वेदों, ब्राह्मणों तथा उपनिषदों में सुरक्षित है। पश्चात् शिलालेखों में यह पद्धति चली। प्रयाग स्तंभ (३७५-३९० ई०), स्कन्द गुप्त का गिरिनार का शिला लेख (४५० ई०) तथा मालवा के सूर्य मंदिर में वत्स भट्टि की प्रशस्तियां इसी परंपरा में हैं।

कथा-स्रोत

जैनों के दिगम्बर तथा श्वेताम्बर संप्रदायों में तीर्थङ्कर आदि महापुरुषों के चरित्र-वर्णन की दो भिन्न परंपराएं प्रचलित हैं। दिगंबरों का समस्त धार्मिक साहित्य प्रथ-

---

(१) देखिए-मपु० खंड १, भूमिका पृ० २०- २८

(२) देखिए-अध्याय २, पृ० ३४

(३) राष्ट्रकूट एण्ड देयर टाइम्स, पृ० १२४

मानुयोग (महापुरुषों की कथाएँ), करणानुयोग (सृष्टि का भौगोलिक वर्णन), चरणानुयोग (मुनियों-श्रावकों के आचार वर्णन)—इन चार अनुयोगों में विभाजित है। इस प्रकार जैन महापुरुषों का चरित्र वर्णन करने वाला ग्रंथ महापुराण, प्रथमानुयोग की एक शाखा है। जिनसेन-गुणभद्र तथा पुष्पदंत के महापुराण इसी परंपरा में हैं।

श्वेताम्बर परंपरा के महापुराण स्थानांग सूत्र के आधार पर हैं। हेमचन्द्र का महापुराण (त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र) इसी के अन्तर्गत आता है।

हमारे कवि के महापुराण का कथानक जिनसेन-गुणभद्र के महापुराण का प्रायः पूर्णरूपेण अनुगमन करता है। इसी प्रकार कवि, स्वयंभू से भी प्रभावित हुआ प्रतीत होता है। डॉ० भायाणी ने स्वयंभू के 'पउम चरिउ' तथा 'स्वयंभू छंदस्' एवं पुष्पदंत के 'महापुराण' के अनेक स्थलों का तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत करते हुए यह सिद्ध किया है कि उनके शब्द-विन्यास, तुकान्त तथा विषय-वर्णन में कितनी अधिक एकरूपता है।[1] इस प्रकार स्वयंभू तथा जिनसेन-गुणभद्र हमारे कवि के काव्य के प्रेरणा-स्रोत माने जा सकते हैं।

महापुराण-लक्षण

भारतीय जन जीवन के उत्थान में पुराणों का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। ब्राह्मणों के १८ पुराण प्रसिद्ध हैं। जैनों ने भी उन्हीं के अनुरूप अपने पुराण रचे। यद्यपि धार्मिक मतभेद के कारण ब्राह्मणों तथा जैनों के पुराणों में बहुत कुछ अन्तर है, परन्तु आधार भूत सामग्री दोनों में प्रायः एक सी है। पुराणों के पंच लक्षण बतलाये गये हैं—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च
वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम्।

(वायु पुराण, १।२०१)

जैनाचार्य जिनसेन २४ तीर्थङ्करों के चरित वर्णन करने वाले ग्रंथों को पुराण कहते है तथा उन सबका सकलन महापुराण है—

पुराणान्येवमेतानि चतुर्विंशतिरर्हताम्।
महापुराणमेतेषां समूहः परिभाष्यते।

(जिनसेन, आदिपुराण, २।१३४)

महापुराण में लोक (लोक व्युत्पत्ति, दिशाओं तथा अंतरालों के वर्णन), नगर (राजधानियों के वर्णन), राज्य (विभिन्न राज्यों के वर्णन), तीर्थ, दान-तप, गति तथा

---

(१) पउमचरिउ, भाग १, भूमिका, पृ० ३१-३६

फल-इन आठ विषयों का होना आवश्यक माना गया है।[1] अन्यत्र, महापुराण के विषय की सविस्तार चर्चा करते हुए जिनसेन कहते हैं कि समस्त द्वादशांग ही पुराण के अभिधेय विषय हैं, क्योंकि इसके बाहर न तो कोई विषय है और न शब्द ही हैं। तीर्थङ्कर आदि की संपदाओं तथा मुनियों की ऋद्धियों का इसमें वर्णन होता है। इसके अतिरिक्त संसारी-मुक्त जीव, बंध-मोक्ष के कारण, संसार की उत्पत्ति तथा विनाश, रत्नत्रयी धर्म, अर्थ, कर्म, पुरुषार्थ आदि अनेक विषय इसमें होते हैं।[2]

जिनसेन की उपर्युक्त परिभाषा हमारे कवि के महापुराण पर अक्षरशः घटित होती है। बूलर ने जैन-प्रबन्धों को ऐतिहासिक रूढ़ियों में सुरक्षित रहते हुए वृद्ध परम्परा से लिखे जाने का जो संकेत किया है[3], कवि के ग्रंथ से उसकी पुष्टि होती है।

निष्कर्ष यह है कि कवि का महापुराण अपभ्रंश काव्य क्षेत्र में एक अभिनव प्रयास होते हुए भी जैन परम्परागत महापुराण के लक्षणों के आधार पर ही रचा गया है।

महाकाव्यत्व

संस्कृत महाकाव्य के लक्षणों के सम्बन्ध में कहा गया है कि किसी देवता, सद्वंशोद्भव नृपति अथवा किसी प्रसिद्ध व्यक्ति का वृत्तान्त लेकर अनेक सर्गों में जो काव्य लिखा जाता है, वह महाकाव्य है। पुराण-इतिहास उसके आधार होते हैं। उसमें कोई एक रस प्रधान तथा अन्य रस गौण होते हैं। उसमें विविध प्रकार का प्रकृति चित्रण तथा अनेक छंदों का उपयोग किया जाता है।[4]

आचार्य जिनसेन ने भी कवि तथा काव्य की सुन्दर व्याख्या करते हुए कहा है कि शृंगारादि रसों से युक्त, अलंकारपूर्ण, सौंदर्य से ओत-प्रोत तथा मौलिक काव्य, सरस्वती के मुख के समान होता है। जो अनेक अर्थों को सूचित करने वाले पद-विन्यास सहित, मनोहर रीतियों से युक्त, प्रबन्ध काव्य की रचना करते हैं, वे महा-

---

(१) लोको देशः पुरं राज्यं तीर्थं दान तपोन्वयम्
पुराणेष्वष्टधाख्येयं गतय. फलमित्यपि। (आदिपुराण, जिनसेन, ४।३)
पुष्पदंत ने भी इन्हीं आठ विषयों को पुराण के लिये आवश्यक बतलाया है—
तल्लोवक्रु देसु पुरु रज्जु तित्थु, तवु दाणु गईहलु मुहपत्तधु।
अट्ठवि पारंभिय पुण्णठाणि, साहेवा होंति महापुराणु।
(मपु० २०।१।४-५)

(२) आदिपुराण, जिनसेन, २।११५-१२०

(३) लिटरेरी सर्किल आफ महामात्य वस्तुपाल, पृ० ५४

(४) काव्य दर्पण, पृ० ३२७

कवि कहलाते हैं, एवं किसी प्राचीन इतिहास से सम्बन्धित, तीर्थङ्कर आदि के चरित्र वर्णन करने वाला तथा धर्म, अर्थ, कामादि के फल का दर्शन कराने वाला काव्य महाकाव्य कहलाता है।[1]

इन परिभाषाओं के संदर्भ में जब हम पुष्पदंत के महापुराण का परीक्षण करते हैं, तो हमें ज्ञात होता है कि उसमें न्यूनाधिक महाकाव्य के प्रायः सभी लक्षण उपस्थित हैं। उसमें वर्णित सभी महापुरुष राजवंशोत्पन्न प्रसिद्ध व्यक्ति हैं। वह संधियों में विभाजित किया गया है। उसकी आधारभूत सामग्री परम्परागत है। उसका पर्यवसान शान्त रस में होता है। कथा के बीच-बीच अन्य रस उसका उत्कर्ष बढ़ाते रहते हैं। अनेक प्रकार के प्राकृतिक वर्णन तथा विविध छन्दों का उसमें नियोजन किया गया है।

परन्तु निर्धारित लक्षणों की सीमाओं में पूर्णतः रहना प्रतिभावान कवियों के लिए कठिन होता है। वे परिभाषाओं में बंधकर नहीं चल सकते। यही कारण है कि महाकवियों के काव्य उनके आदर्शों तथा अनुभूतियों का आधार लेकर चलते हैं। हमारे कवि के ग्रंथ में अनियमित कथा-प्रवाह का यही कारण है। २४ तीर्थङ्करों के जीवन चरित एक दूसरे से असंबद्ध है। अतः काव्य में कथा-प्रवाह की योजना संभव नहीं हो सकती। फिर भी आदि पुराण में ऋषभ के सम्पूर्ण जीवन-वृत्त को, अनेक स्तुतियों तथा सैद्धान्तिक विवेचनों के होते हुए भी, महाकाव्य कहा जा सकता है।

तुलनात्मक दृष्टि से महापुराण तथा महाभारत में बहुत कुछ समानता है। जिस प्रकार महाभारत में अनेक कथाएँ तथा अन्तर्कथाएँ हैं एवं सृष्टि की अनेकानेक बातों का समावेश करके उसे विश्वकोश सा बनाने का यत्न किया गया है, उसी प्रकार हमारे कवि ने भी अपने ग्रंथ की रचना की है। महाभारत की विशालता की ओर संकेत करते हुए महर्षि व्यास ने लिखा है कि जो यहाँ है, वही अन्यत्र मिलेगा तथा जो यहाँ नहीं, वह कहीं नहीं है—

यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्

इसी स्वर में पुष्पदंत भी अपने ग्रंथ के विषय में कहते हैं कि इस रचना में प्राकृत के लक्षण, समस्त नीति, छंद, अलङ्कार, रस, तत्वार्थ-निर्णय आदि सब कुछ हैं। यहाँ तक कि जो यहाँ है वह अन्यत्र कहीं नहीं है। धन्य हैं वे पुष्पदन्त तथा भरत जिन्हें ऐसी सिद्धि प्राप्त हुई—

अत्र प्राकृतलक्षणानि सकला नीतिः स्थितिश्छंदसामर्थालंकृतयो रसाश्च विविधास्तत्वार्थनिर्णीतयः।

---

(१) आदि पुराण, जिनसेन, ४। ९३-९९

कि चान्यद्यदिहास्ति जैनचरिते नान्यत्र तद्विद्यते द्वावेतौ भरतेशपुष्पदशनौ सिद्ध ययोरीदृशम् । (मपु० संधि ५६ की प्रशस्ति)

इसी प्रकार जिनसेन भी अपने महापुराण के सम्बन्ध में कहते हैं—

यतो नास्माद्बहिर्भूतमस्ति वस्तु वचो अपि वा । (आदि पुराण, २ । ११५)

अर्थात् इसके बाहर न तो कोई विषय ही है और न शब्द ही हैं।

वर्ण्य विषय

महापुराण में जैन धर्म के तीर्थंकर आदि महापुरुषों के जीवन चरित है। इसके दो भागों (आदि पुराण तथा उत्तर पुराण) में क्रमशः ऋषभ तथा अन्य महापुरुषों की गाथाएँ हैं । रामायण तथा कृष्ण-चरित उत्तर पुराण में हैं ।

आदि पुराण की ३७ संधियों का संक्षिप्त कथानक इस प्रकार है—

प्रथम संधि में ऋषभ तथा सरस्वती की वन्दना करने के पश्चात् कवि अपने मान्यखेट नगर आने का वर्णन करता है । वहाँ दो नागरिक कवि से भरत मन्त्री के निवास पर चलने का अनुरोध करते हैं। इस पर कवि राजाओं की तीव्र भर्त्सना करता है तथा उनकी शरण में जाने की अपेक्षा अभिमान सहित मृत्यु का आलिंगन करना श्रेष्ठ समझता है । अन्ततः उचित सत्कार का आश्वासन प्राप्त कर वह भरत मंत्री के निवास स्थान पर जाता है । वहाँ भरत पुष्पदन्त का हार्दिक स्वागत करते हैं।

कुछ दिन पश्चात् भरत, कवि से भैरव नरेन्द्र नामक किसी दुष्ट स्वभाव वाले राजा की कीर्ति-वर्णन करने के कारण उत्पन्न मिथ्यात्व के प्रायश्चित-स्वरूप महापुराण रचने का परामर्श देते हैं । कवि पुनः भरत से दुर्जनों की निंदा करता है, परन्तु समझाने-बुझाने पर ग्रंथ रचना मे प्रवृत्त होता है ।

कवि अपनी लघुता प्रदर्शित करते हुए कालिदास, भारवि आदि कवियों के ग्रंथों तथा व्याकरण, छंद आदि काव्यांगों के न जानने का वर्णन करता है तथा जिन-भक्ति के कारण ग्रंथ-रचना करने का उल्लेख करता है ।

मगध तथा उसकी राजधानी राजगृह के विस्तृत वर्णन के साथ कथा आरम्भ होती है । एक समय वर्धमान महावीर अपने गणधरों के साथ राजगृह आते हैं। मगधराज श्रेणिक उनकी अभ्यर्थना तथा स्तुति करने के पश्चात् महापुराण की कथा सुनने की जिज्ञासा प्रकट करते हैं। गौतम गणधर वर्धमान की आज्ञा से कथा सुनाते हैं।

द्वितीय संधि में १४ कुलकरों (मनुओं) के वर्णन के पश्चात् अन्तिम कुलकर नाभि तथा उनकी पत्नी मरुदेवी का वृत्तान्त है । मरुदेवी के गर्भ से ऋषभ का जन्म होना ज्ञात कर इन्द्र कुबेर को जिन-जन्म के अनुकूल नगर को भव्य बनाने की आज्ञा देते हैं। तृतीय संधि में मरुदेवी के १६ स्वप्न, ऋषभ-जन्म, मेरु पर जिन-अभिषेक आदि के वर्णन हैं ।

चतुर्थ संधि में जसवई तथा सुनन्दा के साथ ऋषभ का विवाह तथा उसके उत्सवों के वर्णन हैं। पाँचवीं सन्धि में जसवई के भरत आदि सौ पुत्र तथा सुनन्दा के बाहुबलि उत्पन्न होते है। ऋषभ राजा होते हैं। छठवीं सन्धि में इन्द्र द्वारा प्रेरित नीलंजसा अप्सरा राज-सभा में नृत्य करते हुए मृत हो जाती है। यह देखकर ऋषभ के हृदय में वैराग्य उत्पन्न होता है। सातवीं सन्धि में ऋषभ राज्य त्यागकर वैराग्य ले लेते हैं। भरत को अयोध्या का तथा बाहुबलि को पोदनपुर का राज्य प्राप्त होता है।

आठवीं सन्धि में नमि विनमि को नागराज द्वारा वैताढ्य पर्वत के क्षेत्र दिये जाने के वर्णन हैं। नवीं संधि में ऋषभ द्वारा इक्षु—रस पान, कठोर तप द्वारा केवल ज्ञान-प्राप्ति, देवताओं द्वारा समवसरण रचना एवं जिन-स्तुति के वर्णन हैं। दसवीं तथा ग्यारहवीं संधियों में भरत की आयुधशाला में चक्ररत्न का प्रकट होना तथा ऋषभ द्वारा भरत को अनेक जैन सिद्धान्तों के उपदेश एवं पृथ्वी के द्वीप-समुद्रों का सविस्तार वर्णन किया गया है। जिन-उपदेश से विशाल जन-समुदाय दीक्षा ग्रहण करता है।

बारहवीं से पन्द्रहवीं सन्धियों में भरत की दिग्विजय का वर्णन है। वे एक विशाल सेना के साथ भूमंडल के छः खंडों के राजाओं को अधीन करके, ऋषभ के दर्शनार्थ कैलाश जाते हैं। सोलहवीं सन्धि में भरत का चक्र रत्न अयोध्या में प्रवेश नहीं करता। पुरोहितों ने बतलाया कि भाइयों द्वारा अधीनता न स्वीकार किये जाने के कारण दिग्विजय अभी अपूर्ण है। भाइयों के पास भरत का दूत जाता है। अन्य भाई वैराग्य ले लेते हैं। बाहुबलि युद्ध के लिए तत्पर होते हैं।

सत्रहवीं तथा अठारहवीं संधियों में भरत-बाहुबलि के द्वंद्व युद्ध का वर्णन है। भरत नेत्र, जल तथा मल्ल युद्धों में पराजित होते हैं। ज्येष्ठ भ्राता को पराजित करने के कारण बाहुबलि आत्मग्लानि से भर जाते हैं और वैराग्य धारण कर लेते हैं। घोर तप के उपरान्त उन्हें केवल ज्ञान होता है। भरत उनकी स्तुति करते हैं।

उन्नीसवीं संधि में भरत ब्राह्मणों को दान देते हैं। उनके प्रश्न करने पर ऋषभ भावी जन-समुदाय के नैतिक पतन का वर्णन करते हैं। बीसवीं से सत्ताइसवीं संधियों में ऋषभ अपने पूर्व जन्मों का वर्णन करते हैं। इनमें राजा महाबल— मंत्री स्वयं बुद्ध, वज्रजंघ-श्रीमती आदि की कथायें हैं।

अट्ठाइसवीं से छत्तीसवीं संधियों में बाहुबलि के पुत्र जय तथा उसकी पत्नी सुलोचना की कथायें हैं। सैंतीसवीं संधि में भरत एक स्वप्न देखते हैं। ज्योतिषी उसका फल ऋषभ-निर्वाण बतलाते हैं। भरत शीघ्र ही कैलाश जाते हैं। वहाँ स्वप्न सिद्ध ठहरता है। अनेक देवी-देवता ऋषभ का निर्वाण-कल्याणक मनाते हैं। अयोध्या

लौटकर भरत भी पुत्र को राज्य देकर जिन-दीक्षा ग्रहण करते हैं। अन्त में केवल ज्ञान प्राप्त करके निर्वाण लाभ करते हैं।

उत्तर पुराण—

उत्तर पुराण की ६५ संधियों में शेष २३ तीर्थङ्करों तथा अन्य महापुरुषों की जीवन-गाथायें हैं।

आदिपुराण समाप्त करने के पश्चात् कवि कुछ समय के लिए ग्रंथ रचना का कार्य स्थगित कर देता है। परन्तु एक दिन स्वप्न में सरस्वती देवी उसे अर्हंत की स्तुति करने की आज्ञा देती हैं। भरत मंत्री भी कवि को पुनः रचना कार्य में प्रवृत्त होने की प्रेरणा देते हैं।

संधि ३८ में दूसरे तीर्थंकर अजित तथा संधि में ३९ में सगर (द्वितीय चक्रवर्ती) एवं उनके साठ हजार पुत्रों के चरित वर्णित किये गये हैं।

संधि ४० से ४७ तक संभव, अभिनंदन, सुमति, पद्मप्रभ, सुपार्श्व, चंद्रप्रभ एवं नवम् तीर्थंकर सुविधि (पुष्पदंत) के जीवन चरित हैं।

संधि ४८ में सीतलनाथ (दसवें तीर्थं) के वर्णन के पश्चात् कुछ समय तक जैन धर्म की अधोगति होने का उल्लेख किया गया है। ४९ से ५२ संधि तक श्रेयांस (११ वें तीर्थ) एवं विजय (प्रथम बलदेव), त्रिपृष्ठ (प्रथम वासुदेव) तथा अश्वग्रीव (प्रथम प्रतिवासुदेव) के चरित्र हैं।[1] १२ वें तीर्थङ्कर वासुपूज्य का चरित्रांकन संधि ५३ में हैं।

५४ से ६५ तक की संधियों में निम्नलिखित महापुरुषों के वर्णन हैं—

तीर्थंकर—

विमल, अनंत, धर्म, शान्ति नाथ, कुन्थु, अर, मल्लि तथा मुव्रत।

बलदेव—

अचल, धर्म, सुप्रभ, सुदर्शन, नंदिषेण तथा नंदिमित्र।

वासुदेव—

द्विपृष्ठ, स्वयंभू, पुरुषोत्तम, पुरुष सिंह, पुण्डरीक तथा दत्त।

प्रतिवासुदेव—

तारक, मधु, मधुसूदन, मधुक्रीड, निशुम्भ तथा बलि।

---

(१) बलदेव तथा वासुदेव भ्राता होते हैं। प्रतिवासुदेव से किसी न किसी कारण से उनका विरोध होता है। अन्त में युद्ध में वासुदेव द्वारा प्रतिवासुदेव मारा जाता है। वासुदेव अर्धचक्रवर्ती पद प्राप्त करते हैं तथा मरणोपरान्त नरक जाते हैं। उनके शोक में बलदेव का भी निधन हो जाता है।
प्रत्येक बलदेव आदि के जीवन चरित इसी प्रकार के है।

संधि ६६ से ७६ तक रामायण की कथा है, जो इस प्रकार है—

राम तथा लक्ष्मण अपने तृतीय पूर्व जन्म में क्रमशः राजा प्रजापति तथा उसके मंत्री के पुत्र चंद्रचूल तथा विजय थे। अपनी युवावस्था में उन्होंने वणिक् पुत्री कुबेरदत्ता का अपहरण किया था। राजा के दण्ड से बचकर वे जैन मुनि हो जाते हैं और भावी जन्म में देवता होते है। वहाँ से आगामी जन्म में वे राजा दशरथ को सुबला रानी के गर्भ से राम तथा कैकेयी के गर्भ से लक्ष्मण होते हैं।

रावण नामक विद्याधर राजा को मन्दोदरी रानी से सीता का जन्म होता है, परन्तु अनिष्ट ग्रहों के कारण उसे एक मंजूषा में रखकर मिथिला में छोड़ दिया जाता है। वहाँ से वह राजा जनक के यहाँ पहुँचा दी जाती है। जनक यज्ञ-रक्षा के पुरस्कार स्वरूप सीता का विवाह राम से कर देते हैं।

नारद द्वारा राम-सीता का विवाह समाचार ज्ञात कर रावण सीता को प्राप्त करने के लिए लालायित होता है। वह अपनी बहन चंद्रनखी को सीता के पास भेजता है, परन्तु उसकी दृढ़ पति-निष्ठा ज्ञात कर स्वयं उसका अपहरण करने की योजना बनाता है।

रावण अपने मन्त्री मारीच के साथ पुष्पक विमान पर चढ़कर काशी के उस उद्यान में जाता है, जहाँ राम तथा सीता विहार कर रहे थे। मारीच कपट मृग का रूप धारण कर राम को अन्यत्र ले जाता है। इसी बीच रावण अवसर पाकर राम के रूप में सीता के पास जाता है और उसे पुष्पक विमान में बैठाकर लंका ले जाता है। राम, सीता के विरह में व्याकुल होकर वन-वन भटकते हैं।

दशरथ एक स्वप्न देखकर अयोध्या से राम के पास एक सन्देश भेजते हैं कि सीता का हरण लंकेश रावण ने किया है। इसी समय सुग्रीव तथा हनुमान नामक विद्याधर अपने भाई वालि के विरुद्ध राम से सहायता प्राप्त करने आते हैं। पारस्परिक मैत्री होने के पश्चात् हनुमान राम का पत्र तथा मुद्रिका लेकर लंका जाते हैं। वहाँ अवसर देखकर सीता को ये वस्तुएँ देकर अपना परिचय देते हैं। पुनः काशी लौटकर वे राम से सीता की दशा का वर्णन करते हैं।

राम और लक्ष्मण विद्याधरों की विशाल सेना के साथ लंका पर आक्रमण करने के लिए प्रस्थान करते है। मार्ग में लक्ष्मण, वालि का वध करके, सुग्रीव को उसका राज्य दिला देते हैं।

लङ्का पर आक्रमण करने के पूर्व, राम हनुमान को रावण के पास उसे समझाने के लिए भेजते हैं, परन्तु हनुमान रावण द्वारा अपमानित होकर लौट आते हैं। विभीषण भी भाई से असन्तुष्ट होकर राम से जा मिलता है।

अन्त में राम-लक्ष्मण से रावण का तुमुल-युद्ध होता है, जिसमें लक्ष्मण, रावण का वध करते है। इस प्रकार उन्हें अर्ध चक्रवती पद प्राप्त होता है।

दीर्घकाल तक राज्य-सुख भोगने के उपरान्त लक्ष्मण किसी दुःसाध्य रोग के कारण मर कर (रावण वध के कारण) नरक जाते हैं। तत्पश्चात् राम भ्रातृ-शोक में व्याकुल होकर वैराग्य ले लेते है। अन्त में वे भी निर्वाण लाभ करते हैं।

जैन महापुरुषों की शृंखला में राम, लक्ष्मण तथा रावण क्रमशः अष्टम् बलदेव, वासुदेव तथा प्रति वासुदेव हैं।

संधि ८० में नमि (२१ वें तीर्थं०) की कथा है।

इसके पश्चात् संधि ८१ से ९२ तक हरिवंश पुराण की कथा है, जिसमें २२वें तीर्थंकर नेमि के साथ ही कृष्ण जरासंध आदि के वृत्तान्त हैं।

संक्षेप में यह कथा इस प्रकार है:—

शौरिपुर के राजा शूरसेन के दो पुत्र अंधक वृष्णि तथा नरपति वृष्णि थे। अंधक वृष्णि के समुद्र विजय, वसुदेव आदि पुत्र एवं कुन्ती, माद्री पुत्रियाँ थीं। नरपति वृष्णि के उग्रसेन पुत्र तथा गांधारी पुत्री हुई।

हस्तिनाग पुर के राजा हस्ति के पराशर नामक पुत्र था। उसकी पत्नी सत्यवती से व्यास का जन्म होता है। व्यास का विवाह सुभद्रा से हुआ, जिससे तीन पुत्र-धृतराष्ट्र, पाण्डु तथा विदुर हुए।

एक समय शौरि पुर में पाण्डु कुंती के रूप पर मुग्ध हो किसी प्रकार उसके आवास में प्रवेश कर उससे भोग करते हैं। पुत्र होने पर कुंती उसे मंजूषा में रखकर यमुना में प्रवाहित कर देती है। वह शिशु चंपा के राजा आदित्य को प्राप्त होता है। उसका नाम कर्ण रखा जाता है, क्योंकि प्राप्त होने के समय वह कान पर हाथ रखे था।

आगे चलकर पाण्डु के साथ कुंती तथा माद्री का विवाह हो जाता है। कुंती के युधिष्ठिर आदि पाँच पुत्र होते हैं। गांधारी का विवाह धृतराष्ट्र से होता है। जिससे दुर्योधन आदि सौ पुत्र उत्पन्न होते हैं।

वसुदेव अत्यंत सुन्दर था। उसे स्त्रियों की दृष्टि से पृथक् रखने के लिये, नगर प्रवेश के लिये मना कर दिया गया। इस पर व्यथित होकर वह चुपचाप गृह त्याग कर चल देता है। लगभग सौ वर्षों तक घूमते हुए वह अपनी वीरता तथा कला का प्रदर्शन करके अनेक राजकुमारियों से विवाह करता है। अन्त में रिष्ट नगर के राजा की पुत्री रोहिणी अपने स्वयंवर में उसे चुनती है, तो मगधराज जरासंध के साथ समुद्रविजय आदि राजा रोहिणी के पिता पर आक्रमण करते हैं। वसुदेव उनका सामना करता है। युद्ध-क्षेत्र में वसुदेव अपने ज्येष्ठ भ्राता समुद्र विजय को पहचान लेता हैं। युद्ध बंद हो जाता है।

वसुदेव- रोहिणी से बलराम (नवम् बलदेव) का जन्म होता है।

वशिष्ठ नामक एक तपस्वी मथुरा के राजा उग्रसेन से पीड़ित होकर, भावी

जन्म में पुत्र बनकर उसे बंदीगृह में डालने का निदान करता है। गर्भवती होने पर उग्रसेन की रानी को अपने पति का मांस खाने की इच्छा होती है। ऐसे अशुभ-कारी पुत्र के जन्म लेने पर, उसे यमुना में प्रवाहित कर दिया जाता है। मंजोदरी नामक स्त्री को वह शिशु प्राप्त होता है। उसका नाम कंस रखा जाता है। वसुदेव से वह धनुर्विद्या की शिक्षा प्राप्त करता है।

एक बार पोदन पुर के राजा को पराजित करने के कारण जरासंध अपनी पुत्री जीवंजसा का विवाह कंस से कर देता है। वह कंस को मथुरा का राज्य भी दे देता है। कंस अपने पिता उग्रसेन को बंदीगृह में डालकर मथुरा पर राज्य करने लगता है। गुरु दक्षिणा के रूप में वह अपनी बहन देवकी का विवाह वसुदेव से कर देता है। कंस का भाई अतिमुक्तक साधु हो जाता है।

एक बार जीवंजसा से अपमानित होकर अतिमुक्तक उसे श्राप देता है कि देवकी का पुत्र तुम्हारे पति का संहार करेगा। इस पर कंस, वसुदेव से देवकी के सभी पुत्रों को प्राप्त करने का वचन ले लेता है।

देवकी की तीन युग्म संतानों को नैगम देव ले जाते हैं। कंस उनके स्थान पर अन्य बालकों का वध करता है। अंत में देवकी के गर्भ से कृष्ण (नवम् वासुदेव) जन्म लेते हैं।

वसुदेव अपने ज्येष्ठ पुत्र बलराम की सहायता से चुपचाप नंद की पुत्री लेकर कृष्ण को उसे दे देते हैं। कंस उस पुत्री का मुख विकृत कर देता है। अंत में वह साध्वी हो जाती है।

नंद के गृह में कृष्ण बड़े होते हैं। इसकी सूचना एक ज्योतिषी द्वारा कंस को प्राप्त होती है। कंस उन्हें मारने के लिए अनेक व्यक्तियों को भेजता है, परन्तु सभी असफल रहते हैं। कृष्ण बड़े पराक्रमी थे। वे गोवर्धन पर्वत उठाकर सबको चकित कर देते हैं। वे मथुरा जा कर कंस के सम्मुख भी अपने पराक्रम का प्रदर्शन करते हैं।

एक बार कंस के निमन्त्रण पर कृष्ण मल्ल युद्ध देखने मथुरा जाते हैं। कंस उन पर मत्त हाथी छोड़ देता है, परन्तु कृष्ण उसे मार डालते हैं। अन्त में वसुदेव के संकेत पर कृष्ण कंस का भी वध कर देते है। जरासंध कंस की मृत्यु का समाचार प्राप्त कर कृष्ण को मारने के अनेक प्रयत्न करता है। कृष्ण आदि यादव पश्चिमी समुद्र तट पर बस जाते हैं। अन्त में स्वयं जरासंध कुरुक्षेत्र के रणक्षेत्र में कृष्ण से युद्ध करता है, जिसमें कृष्ण उसका वध करके अर्ध-चक्रवर्ती पद प्राप्त करते हैं।

समुद्र विजय की रानी शिवदेवी के गर्भ से नेमि (२२ वें तीर्थंकर) का जन्म होता है।

कृष्ण के प्रयत्न से वे वैराग्य धारण करते हैं।

संधि ९३-९४ में पार्श्व (२३ वें तीर्थंकर) तथा संधि ९५-९७ तक अन्तिम तीर्थंकर वर्धमान महावीर के वर्णन हैं।

संधि ९८-१०२ तक राजा श्रेणिक आदि की कथाएं हैं।

चरित-काव्य

परंपरा—भारतीय साहित्य में कथाओं का महत्वपूर्ण स्थान है। ये कथाएं अति प्राचीन काल से लिखी जाती रहीं हैं। संस्कृत से प्राकृत तथा अपभ्रंश में होती हुई आधुनिक भारतीय भाषाओं तक कथा-साहित्य की यह धारा अविच्छिन्न रूप में प्रवाहित है। कथा का व्यापक अर्थों में प्रयोग हुआ है। प्रायः सभी चरित ग्रंथ अपने को कथा ही कहते हैं।

पुराणों के आख्यान भी कथाएं हैं, रासोकार चंद ने भी अपने ग्रंथ को कीर्ति कथा कहा है। विद्यापति अपनी कीर्तिलता को काहाणी कहते हैं। तुलसी की रामायण भी कथा ही है।

विद्वानों का मत है कि ईसा की छठी शताब्दी से पूर्व अनेक कथाएं वर्तमान थीं, जिनका समावेश महाभारत तथा पुराणों में किया गया है।[1] पैशाची प्राकृत में रचित गुणाढ्य की वृहत्कथा को प्राकृत कथाओं की परंपरा का प्रथम पुष्प माना जाता है।[2] अन्य विद्वान चंद्रगुप्त मौर्य के समकालीन जैन आचार्य भद्रबाहु के 'वसुदेव चरित' को सबसे प्राचीन मानते हैं।[3]

प्राकृत के चरित ग्रंथों की परंपरा में अन्य ग्रंथ भी प्राप्त होते हैं। इनमें पादलिप्त की तरंगावली, धर्मसेनगणिन् का वसुदेवहिण्डि, हरिभद्र की समराइच्च कहा, उद्योतन सूरि की कुवलयमाला कहा आदि ग्रंथ उल्लेखनीय हैं।

जैनों का भी विशाल चरित साहित्य उपलब्ध होता है। उन्होंने अपने धर्म-ग्रन्थों की गूढ विचारधारा को सरलतापूर्वक जन-साधारण तक पहुँचाने के उद्देश्य से चरित ग्रन्थ लिखे। ये ग्रन्थ संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश—तीनों भाषाओं में रचे गये हैं। इनमें ऋषभ, पार्श्व, महावीर आदि तीर्थंकरों तथा यशोधर, नागकुमार, करकंडु आदि राजपुरुषों के चरित्रों को अंकित किया गया है। इसके अतिरिक्त जैन रामायण तथा हरिवंश पुराण के पात्रों को लेकर भी रचनाएं हुई हैं।

हमारे कवि से पूर्व रचित जैन चरित साहित्य में विमलसूरि का पउमचरिय (प्राकृत), चतुर्मुख के पउमचरिउ आदि ग्रन्थ, रविषेण का पद्म चरित (संस्कृत) तथा स्वयंभू की अपभ्रंश रचनाएं पउमचरिउ तथा रिट्ठणेमि चरिउ उल्लेखनीय हैं।

---

(१) मध्य० भार० संस्कृति, पृ० ७८-७९

(२) आदिकाल, डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ५६

(३) एनल्स आफ भंडारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट, खंड १६, भाग १-२ (१९३४-३५, पृ० २६-२७

पुष्पदंत के पश्चात् चरित ग्रन्थों की परम्परा लगभग १७ वीं शताब्दी तक चलती रही। इस समय की प्रसिद्ध रचनाएँ भविसयत्त कहा (धनपाल), सुदंसण चरिउ (नयनंदी), करकंडु चरिउ (मुनि कनकामर), पउमसिरी चरिउ (धाहिल), सुलोयणा चरिउ (देवसेनगणि), बलभद्रपुराण (रयधू), संदेस रासक (अब्दुल रहमान) हैं।

रचना शैली—

चरित काव्यों में प्रायः नायक के पूर्व-जन्मों के विवरण, वर्तमान जन्म के कारण, जीवन की महत्वपूर्ण घटनाएँ, देश-नगर आदि के वर्णन होते हैं। शास्त्रीय प्रबन्धों की भांति अनेक घटनाओं को एक ही कथानक में गुंफित करने की प्रवृत्ति इनमें नहीं मिलती। वर्णनात्मक अंशों की न्यूनता के कारण ये कथापरक अधिक होते हैं। सामान्यतः चरित-काव्य का कवि मूल कथा को छोड़ वस्तु या प्रकृति वर्णन करने में अधिक समय तक नहीं रुकता। इस दृष्टि से ये काव्य के अधिक निकट तथा प्रबन्ध काव्यों की अपेक्षा अधिक स्वाभाविक, सरल एवं लोकोन्मुख होते हैं।

सामान्यतः चरित ग्रन्थों में अलौकिक, अप्राकृतिक तथा अतिमानवीय शक्तियों, वस्तुओं एवं व्यापारों का समावेश अवश्य किया जाता है। यह पौराणिक अथवा रोमांसिक शैली के कथा-काव्यों की देन है।

जैन चरित काव्य तथा पुराणों की रचना-शैली में कोई भेद नहीं है। केवल चरित काव्यों में विषय-विस्तार मर्यादित होता है, जिसके कारण संधियों की संख्या कम हो जाती है, परन्तु वह संख्या भी निर्धारित नहीं है, धनपाल का बाहुबलि चरित १८ संधियों में रचा गया है, जबकि पुष्पदंत का जसहरचरिउ केवल ४ संधियों में है। महापुराण की संधि-कड़वक शैली का प्रयोग इसमें भी होता है। कभी-कभी श्रोता-वक्ता की योजना भी की जाती है, जिसका उद्देश्य संभवतः यह रहा होगा कि कथावस्तु में असंभाव्य प्रसंगों को पर-प्रत्यक्ष बताकर उनकी असंभाव्यता कम कर दी जाये। णायकुमार चरिउ में गौतम गणधर राजा श्रेणिक को कथा सुनाते हैं।

णायकुमार चरिउ

सामान्य परिचय

कवि के इस खंड-काव्य की रचना महापुराण के पश्चात् हुई है। ग्रंथ से ज्ञात होता है कि कवि ने इसकी रचना महामात्य भरत के पुत्र गृहमन्त्री नन्न के आश्रय में तथा उन्हीं के निवास स्थान पर रह कर की थी। इसका उल्लेख इस प्रकार है—

णण्णहो मंदिरि णिवसंतु संतु
अहिमाणमेरु गुणगणमहंतु। (णाय० १। २। २)

नन्न के अतिरिक्त गुण धर्म, नाइल्ल आदि व्यक्तियों ने भी कवि को ग्रंथ रचने की प्रेरणा दी थी।[1]

कवि ने ग्रंथ-रचना के समय का कहीं उल्लेख नहीं किया है, परन्तु सम्राट् कृष्ण[2] तथा नन्न के उल्लेखों से प्रतीत होता है कि इसकी रचना महापुराण के पश्चात् अर्थात् सन् ९६६ से ९६८ ई० के मध्य किसी समय हुई थी।

ग्रंथ की रचना का उद्देश्य श्री पंचमी उपवास का फल बतलाना है। नागकुमार के चरित्र द्वारा इस उद्देश्य की पूर्ति की गई है।

इस रचना में ९ संधियाँ हैं, जिनमें २२०६ पद तथा १५० कड़वक हैं। प्रत्येक संधि के शीर्षक मुख्य घटना के आधार पर रखे गये हैं। आश्रयदाता नन्न को सम्मानित करने के अभिप्राय से प्रत्येक संधि की पुष्पिका में उनका नाम अङ्कित किया गया है। यथा—

'इय णायकुमारचारुचरिए णण्णणामंकिए महाकइ पुप्फयंतविरइए
महाकव्वे जयंधरविवाह कल्लाणवण्णणो णाम पढमो परिच्छेउ समत्तो।'

संधियों में न तो कड़वकों की संख्या ही निश्चित है और न कड़वकों में पदों की संख्या। संधि ३ तथा ४ में प्रत्येक कड़वक का आरम्भ द्विपदी (दुवई) छंद से हुआ है। कड़वक का अंत नियमानुसार घत्ता के ध्रुवक से होता है। संधियों में प्रधान छंद पद्धडिया, वदनक, पारणक आदि हैं, परन्तु एकरसता के परिहार के लिये कहीं-कहीं भुजंगप्रयात, सोमराजी आदि छंदों की योजना की गयी है।

पुष्पदंत ने महापुराण जैसे महान ग्रंथ के पश्चात् णायकुमार चरिउ रचा, अतः स्पष्ट है कि कवि की काव्य-प्रतिभा इसकी रचना के समय अत्यंत प्रौढ हो चुकी थी। यही कारण है कि इस ग्रंथ मे भावानुकूल वर्णन-सौष्ठव, रस-परिपाक, अर्थ-गाम्भीर्य, शब्द-सामंजस्य तथा अलंकार, भाषा एवं छन्दों का वैचित्र्य हमें प्राप्त होता है।

कथानक—

ग्रंथारंभ में कवि ने पंचपरमेष्ठि तथा सरस्वती की वंदना करने के उपरान्त नन्न आदि के द्वारा ग्रंथ रचना की प्रेरणा दिये जाने का उल्लेख किया है। नन्न की प्रशंसा तथा सज्जन-दुर्जन स्मरण के पश्चात् कथा प्रारम्भ करते हुए मगध तथा राजगृह का सुन्दर वर्णन किया है।

वर्धमान महावीर के आगमन पर मगधराज श्रेणिक उनको वंदना करने के उपरान्त श्रीपंचमी व्रत का फल पूछते है। वर्धमान की आज्ञा से गौतम गणधर कथा प्रारंभ करते हैं।

---

(१) णाय० १।२।४-१०, १।३।१२, १।५।१

(२) ता वल्लहराय महंतएण, कलि विलसिय दुरिय कयंतएण। णाय० १।३।२

प्राचीन काल में मगध के कनक पुर नगर में राजा जयंधर अपनी रानी विशाल नेत्रा तथा पुत्र श्रीधर के साथ राज्य करता था। एक समय वासव नामक वणिक् द्वारा गिरिनगर की राजकुमारी पृथिवी देवी का चित्र देखकर राजा ने उससे विवाह करने की इच्छा प्रकट की। वासव के प्रयत्न से उसका विवाह संपन्न होता है।

संधि में दो में विशाल नेत्रा के ऐश्वर्य को देखकर पृथिवी देवी की ईर्ष्या का वर्णन है। एक मुनि उसके पुत्र होने की भविष्यवाणी करता है। वह यह भी बतलाता है कि उस बालक के चरण-स्पर्श से जिन-मंदिर के लौह-कपाट खुल जायेंगे और वह कूप में गिरकर नागों द्वारा रक्षित होगा।

पुत्र उत्पन्न होने पर मुनि द्वारा कथित घटनाएँ घटित होती हैं। उसका नाम नागकुमार रखा जाता है।

संधि ३ में नागकुमार को अनेक कलाओं की शिक्षा देने का वर्णन है। वह वीणा-वादन द्वारा किन्नरी तथा मनोहारी से विवाह करता है। इधर विशाल नेत्रा राजा के हृदय में पृथिवी देवी के प्रति संदेह उत्पन्न करने का प्रयत्न करती है परन्तु वह सफल नहीं होती।

नागकुमार के सौन्दर्य को देखकर पुर-नारियाँ व्याकुल होती हैं। राजा उसे नगर में जाने से रोक देता है। परन्तु उसके न मानने पर राजा, पृथिवी देवी के समस्त आभूषण छीन लेता है। नागकुमार द्यूत क्रीड़ा द्वारा माता के आभूषण पुनः प्राप्त कर लेता है। श्रीधर भी नागकुमार से ईर्ष्या करता है एवं उसे मार डालने का प्रयत्न करता है। परन्तु राजा उसके पृथक् आवास की व्यवस्था कर देते हैं।

संधि ४ में व्याल तथा महाव्याल के नागकुमार की सेवा में आने तथा श्रीधर के कुचक्र के कारण नागकुमार के नगर त्याग देने के वर्णन हैं।

संधि ५ में नागकुमार के अनेक महान् कार्यों का वर्णन है। वह मथुरा के राजा को परास्त करके कान्यकुब्ज की वंदिनी राजकुमारी को छुड़ाता है। पश्चात् कश्मीर की राजकुमारी से विवाह करके, पाताल में भीमासुर से शबर-पत्नी को मुक्त कराता है।

संधि ६ में नागकुमार को अनेक विद्याएँ प्राप्त होने की कथा है। वह वनराज-पुत्री से विवाह करता है। अछेद्य तथा अभेद्य-दो राजकुमार भी उसकी सेवा में आते है।

संधि ७ में विपाक्त आम्र-वन में नागकुमार के ठहरने, चंडप्रद्योत नामक राजा को पराजित करके गिरि नगर-राज अरिदमन को अभय प्रदान करने एवं उसकी पुत्री से विवाह करने के वर्णन हैं। इसी प्रकार वे अन्य राजकुमारियों से भी विवाह करते है।

संधि ८ में नागकुमार उज्जैन की गर्विता राजकुमारी से विवाह करता है तथा पवनवेग राजा को परास्त करके पाण्ड्य राज्य में चला जाता है।

संधि ९ में नागकुमार मदनमंजूषा तथा लक्ष्मीमती से विवाह करता है।

वह एक मुनि से लक्ष्मीमती के प्रति अपने अधिक प्रेम होने का कारण पूछता है। मुनि उसके पूर्व जन्मों की कथा सुनाकर उसकी जिज्ञासा शान्त करते हैं।

नागकुमार कनकपुर लौटकर वहाँ के राजा बन जाते हैं। दीर्घकाल तक राज्य करने के उपरान्त, अपने पुत्र को राज्य देकर अनेक साथियों के साथ दिगम्बर मुनि हो हो जाते हैं और अंत में निर्वाण प्राप्त करते है।

इस प्रकार श्री पंचमी कथा समाप्त होती है।

जसहर चरिउ

सामान्य परिचय

जसहर चरिउ कवि की अन्तिम रचना है। कवि ने इसे भी नन्न के आश्रय में लिखा था: —

णण्णहो मन्दिरि णिवसंतु संतु
अहिमाणमेरु कइपुप्फयंतु

(जस० १।१।४)

कवि ने इस ग्रंथ में भी रचना काल नहीं दिया है। परन्तु निश्चय ही इसकी रचना मान्यखेट के पतन (९७२ ई०) के पूर्व तथा णायकुमार चरिउ की रचना के पश्चात् हुई थी।

जसहर (यशोधर) की कथा जैनों में अत्यत लोकप्रिय रही है।

संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, गुजराती, तमिल, कन्नड़ आदि भाषाओं में इस ग्रंथ की रचना हुई है। डॉ० पी० एल० वैद्य ने लगभग ७५ ग्रंथों के संकेत किये हैं तथा २९ ग्रंथ-कर्त्ताओं के परिचय भी दिये हैं।[1] इनमें पुष्पदंत का ग्रंथ अधिक प्रसिद्ध है। उनके पूर्व संस्कृत के दो यशोधर चरित्रों का प्रमाण मिला है। इनमें एक सोमदेव का यशस्तिलक चंपू है, जिसकी रचना सन् ९५९ में हुई थी। दूसरा वादिराज (१० वीं शताब्दी का उत्तरार्ध) का यशोधर चरित्र है।

इस ग्रंथ में ४ संधियाँ हैं, जिनमें १३८ कड़वक एवं २१४४ पद है।

इस प्रकार यह रचना कवि के णायकुमार चरिउ से कुछ ही छोटी है। संधि ३ तथा ४ (१-२२ कड़वक तक) में प्रत्येक कड़वक का प्रारंभ दुवई छंद से हुआ है। कड़वक के अंत में घत्ता का ध्रुवक दिया गया है। संधि २, ३ तथा ४ के प्रारंभ में

---

(१) जस० भूमिका, २४-२८

नन्न की प्रशंसा में संस्कृत की प्रशस्तियाँ हैं। संधियों की पुष्पिकाओं में ग्रंथ को नन्नके कर्ण का आभरण कहा गया है :—

'इय जसहर महाराजचरिए महामल्ल णण्ण कण्णाहरणे महाकइ पुप्फयंत विरइए महाकव्वेजसहर राय पट्टबंधो णाम पढमो संधी समत्तो ।'

ग्रंथ में कुछ प्रक्षिप्त स्थल भी हैं। इन्हें किसी गोविन्द कवि ने लिखकर ग्रंथ में जोड़ दिया है। ये स्थल इस प्रकार हैं :—

१—संधि १ के कड़वक ५।३ से १।८।१७ तक (कापालिक भैरवानंद का राजा मारिदत्त के यहाँ आगमन)

२— संधि १।२४।६ से १।२७।२३ तक (जसहर विवाह वर्णन)

३— संधि ४।२२।१७ से ४।३०।१५ तक (विशिष्ट पात्रों के भावी जन्मान्तरों का वर्णन)

गंधर्व कवि ने ग्रंथ में अपनी कविता को जोड़कर, उसके अंत में अपना नाम देकर यह कह दिया है कि अब आगे पुष्पदंत रचित वर्णन है :—

गंधव्वु भणइ मइं कियउ एउ········ ।

अग्गइ कइराउ पुप्फयंतु सरसइ णिलउ ।

(जस० १।८।१५-१६)

इस प्रकार हमारे कवि के मूल ग्रंथ से इन पाठान्तरों को पृथक् करने में बड़ी सुविधा हो गई है। गंधर्व कवि ने अन्त में अपना परिचय तथा इन प्रक्षिप्त स्थलों को सम्मिलित करने का कारण भी दे दिया है। जो इस प्रकार है—

गंधर्व, कण्हड (कृष्ण) के पुत्र थे। उन्होंने वैशाख शुक्ल द्वितीया रविवार संवत् १३६५ वि० (१३०८ ई०) को पट्टण के वीसल साहु (खेला साहु के पुत्र तथा छंगे साहु के पौत्र) की प्रार्थना पर, उन्हीं के निवास स्थान योगिनी पुर (दिल्ली) में रहते हुए, ये स्थल सम्मिलित करके सुनाये। उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि जसहर विवाह का प्रसंग वासवसेन के यशोधर चरित (पर्व २) से तथा शेष प्रसंगों के सूत्र किसी वत्सराज नामक प्राचीन कवि के ग्रंथ से ग्रहण किये थे।[1]

ग्रंथ का प्रधान उद्देश्य कौल मत पर जैन धर्म की विजय सिद्ध करना है। परन्तु प्रसंगवश अनेक स्थलों पर याज्ञिकी हिंसा तथा ब्राह्मणों के खंडन भी किये गये हैं। ग्रंथ का कथानक अत्यंत जटिल है। कदली के पात में पात की भाँति कथाओं में कथाएं

(१) जस० ४।३०।१-१५

उलझी हुई हैं। पात्रों के अनेक जन्म-जन्मान्तरों के वर्णनों की भूलभुलैया में मुख्य कथानक परोक्ष में रह जाता है।

संक्षेप में ग्रंथ का कथानक इस प्रकार है—

ग्रंथ के मंगलाचरण में २४ तीर्थङ्करों का स्तवन करके कवि यौधेय देश तथा उसकी राजधानी राजपुर का वर्णन करता है। वहाँ का राजा मारिदत्त है।

एक समय भैरवानंद नामक कापालिक राज-सभा में आकर अपनी सिद्धियों तथा चमत्कारों का वर्णन करता है। राजा मारिदत्त आकाशगामिनी विद्या प्राप्त करने की प्रार्थना करते हैं। इस पर भैरवानंद उसे देवी के सम्मुख अनेक जीव-मिथुनों को बलि देने का सलाह देता है। राजा की आज्ञानुसार उसके कर्मचारी अनेक जीवों के साथ सुदत्त नामक मुनि के दो क्षुल्लक शिष्यों-बालक अभयरुचि तथा बालिका अभयमति को बलिदान हेतु पकड़ कर लाते हैं। मारिदत्त उनके रूप को देखकर चकित रह जाता है और उनसे अपना परिचय देने की प्रार्थना करता है।

अभयरुचि अपनी जीवन-गाथा सुनाते हैं—

अभयरुचि पूर्व जन्म में अवन्ती के राजा यशोर्ह के पुत्र जसहर (यशोधर) थे। उनका विवाह अमृतमती से हुआ था। पिता के पश्चात जसहर राजा हुए।

संधि २ में रानी अमृमती का एक दरिद्र कुबड़े से प्रेमालाप करने का वर्णन है। जसहर उसकी प्रेमलीला से क्षुब्ध होकर वैराग्य लेना चाहते हैं। माता के निषेध करने पर भी वे अपने निश्चय पर दृढ़ रहते हैं। इसी समय रानी अमृतमती, जसहर तथा उनकी माता को विष देकर मार डालती है। आगामी जन्म में माता और पुत्र, सर्प-नेवला होते हैं। उनका पुत्र जसवई राजा बनता है।

संधि ३ में जसहर तथा उसकी माता के अनेक जन्मों का कथाएं हैं। अन्त में दोनों के जीव जसवई की रानी के गर्भ से अभयरुचि तथा अभयमति के रूप में उत्पन्न होते हैं।

सुदत्त नामक मुनि द्वारा जसवई को ज्ञात होता है कि उसके पिता तथा मातामही, उसके पुत्र-पुत्री के रूप में अवतरित हुए हैं।

संधि ४ में अभयरुचि तथा अभयमति अपने पूर्व जन्मों का स्मरण करके मुनि-व्रत लेने का विचार करते हैं, परन्तु अल्पवयस्क होने के कारण सुदत्त मुनि उन्हें क्षुल्लक के रूप में ही कुछ समय तक रहने का उपदेश देते हैं।

अपनी कथा समाप्त करते हुए अभयरुचि उसी क्षुल्लक रूप में राज-सभा में उपस्थित किये जाने का उल्लेख करते हैं।

यह वृत्तान्त सुनकर राजा मारिदत्त को अत्यंत पश्चाताप होता है और वह जिन-दीक्षा लेने का निश्चय करता है।

सुदत्त मुनि, राजा मारिदत्त आदि के पूर्व जन्मों की कथाएं सुनाते हैं। देवी चंडमारि तथा भैरवानंद भी जैन धर्म में दीक्षित हो जाते हैं।

———

पौराणिक प्रभाव

अध्याय

५

पुराणों का महत्व—

रामायण, महाभारत तथा अन्य पुराणादि वर्णाश्रम व्यवस्था के अनुयायी हिन्दुओं के पूज्य ग्रंथ हैं। प्राचीन काल से ही ये ग्रंथ अपने जीवंत साहित्य के द्वारा भारतीय जन-समुदाय के आध्यात्मिक तथा क्रियात्मक जीवन को प्रभावित करते हुए, उनकी विशृंखलित भावनाओं को धर्म की एकसूत्रता में बांधते चले आ रहे हैं। वस्तुतः समाज के वर्गगत वैषम्य तथा उसके संकीर्ण विचारों का परिहार कर मनुष्य को मानवता की सामान्य भूमि पर ले आने में ही पुराणों का महत्व निहित है।

सभी पुराणों का उद्देश्य भारतीय महापुरुषों के गौरवमय इतिहास को प्रस्तुत करना तथा उसके साथ ही उनकी त्रुटियों को भी प्रकाश में लाना रहा है। इस प्रकार ये पुराण हमारे सामने उच्च जीवन का आदर्श रखने में समर्थ हुए। पुराणों का एक उद्देश्य यह भी था कि भारतीय विचार-धारा के साथ धर्म के मूलभूत सत्य लाये जायँ।[1] पुराणों में समाविष्ट विविध विषय यथा-राजनीति, समाज-शास्त्र, धर्म, दर्शन, कला-कौशल, वास्तु, मूर्ति-कला आदि भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति को अंकित करने में अत्यंत सहायक सिद्ध हुए हैं। यही कारण है कि पुराणों को विश्व साहित्य को संज्ञा दी गयी है।[2]

इन्हीं मानव-कल्याणकारी विविध तत्वों के निरूपण के कारण समग्र भारत में रामायण, महाभारत तथा पुराणादि अत्यत लोक-प्रिय हुए तथा उनसे प्रेरणा प्राप्त कर अनेकानेक काव्य रचे गये। महाभारत में तो यहाँ तक कहा है कि जैसे भोजन विना शरीर धारण करना संभव नहीं, वैसे ही इस इतिहास का आश्रय लिए विना कोई

---

(१) जर्नल आफ ओरियंटल रिसर्च, मदरास, खंड २२, पृ० ६६-८०

(२) स्टडीज इन इपिक्स एण्ड पुराण आफ इण्डिया, डॉ० ए० डी० पुसालकर, भारतीय विद्या भवन, पृ० २६६ तथा हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग १, पृ० ४८६

कथा लिखना संभव नहीं।[१] रामायण से भी प्रत्येक युग के आचार्य, कवि तथा नाटककार चालित हुए हैं। कालिदास-भवभूति की रचनाओं पर इसका प्रभाव है।[२] कालिदास के अभिज्ञान शाकुंतल तथा रघुवंश सरीखे ग्रंथों का आधार पद्म पुराण भी माना गया है।[३] मध्यकालीन साहित्य के विषय में डॉ० गौरी शंकर हीराचंद ओझा का यह कथन यहाँ उल्लेखनीय है कि इस समय उपलब्ध तत्कालीन साहित्य से पता लगता है कि उस समय का बहुत सा ऐसा साहित्य रामायण और महाभारत की घटनाओं के भरा हुआ है। यदि हम रामायण तथा महाभारत की कथाओं से संबद्ध सब पुस्तकों को अलग कर दें तो अवशिष्ट पुस्तकों की संख्या बहुत थोड़ी रह जायेगी।[४]

प्रभाव—

रामायण तथा महाभारत के रचना-काल के विषय में अभी तक कोई विश्वस्त प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं। भारत के उत्तर-दक्षिण आदि क्षेत्रों में इन ग्रंथों के भिन्न-भिन्न रूप प्रचलित हैं, जिनमें समय-समय पर सम्मिलित किये गये प्रक्षिप्त अंश भी प्रचुर मात्रा में हैं। अतः कहा जाता है कि इनकी रचना किसी एक समय में न होकर भिन्न-भिन्न कालों में हुई है। परन्तु उत्तरी बौद्ध धर्म की कुछ पुस्तकों के चीनी भाषा में सुरक्षित अनुवादों से यह प्रमाणित होता है कि सन् ३३० के लगभग भारतीय समाज में महाभारत पर बड़ी श्रद्धा थी।[५] कुछ अन्य प्रमाणों के आधार पर विद्वानों ने निश्चित रूप से स्वीकार किया है कि ईसा की ५ वीं शताब्दी में महाभारत का वर्तमान रूप बन चुका था। रामायण का वर्तमान रूप तो इससे बहुत समय पूर्व ही भारतीय समाज में प्रचलित था।[६]

पुराणों के सबन्ध में महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री का यह मत सर्वमान्य समझा जाता है कि उनमें से अधिकांश पुराण ईसा की ५ वीं शताब्दी में वर्तमान थे।[७] अतः तत्वतः हमें यह स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं है कि ई० सन् के पश्चात् निर्मित होने वाले प्राकृत-अपभ्रंश के साहित्य पर रामायणादि लोकप्रिय ग्रंथों का यथेष्ट प्रभाव पड़ा है।

---

(१) महाभारत पर्व संग्रह पर्व, २।३७
(२) हिन्दी साहित्य की भूमिका, हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० १७१
(३) स्टडीज इन इपिक्स एण्ड पुराण आफ इंडिया, पृ० १८६
(४) मध्यकालीन भारतीय संस्कृति (१९२८ ई०), पृ० ७५
(५) हिन्दी साहित्य की भूमिका पृ० १६६
(६) वही, पृ० १७२
(७) वही, पृ० १५३

मध्यकाल का प्रायः समस्त अपभ्रंश साहित्य जैन-बौद्ध सरीखे अवैदिक धर्मों के मनीषियों द्वारा रचा गया है। इनमें भी जैनों को रचनाएं सर्वाधिक हैं। ये रचनाएँ मुख्यतः प्रबंध-काव्यों के रूप में जैन-धर्म के तीर्थङ्कर आदि ६३ महापुरुषों के जीवन चरित वर्णन करने के हेतु लिखो गई हैं, जिनमें अनेक पात्र पौराणिक ही हैं। परन्तु अंतर केवल यह है कि यहाँ उनके कार्य नितान्ततः जैन मतानुसार चित्रित किये गये हैं। विंटरनिट्ज़ का कथन है कि अत्यंत प्राचीन काल से जैनों ने ब्राह्मणों के प्रत्येक महापुरुष को अपनी कथाओं में स्थान देने का प्रयत्न किया है।[1]

पौराणिक पात्रों में राम तथा कृष्ण सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। अवतारवाद की भावना के समन्वय से इनमें ईश्वरत्व का जो आरोप किया गया, उसके द्वारा धर्म-प्राण जनता को अत्यधिक संबल प्राप्त हुआ। रामायण, महाभारत, श्रीमद्भागवत आदि ग्रंथों में वर्णित इनके धर्म-संस्थापन के महत् कार्यों तथा अनुपम शील, शक्ति एवं सौन्दर्य-मय व्यक्तित्व की कल्पना से जन-जन का मानस इनके प्रति अखंड अनुराग तथा भूयसी भक्ति से अनुप्राणित हो उठा। उनके इस व्यापक महत्व से आकंपित होकर जैन धर्म ने भी उन्हें अपने महापुरुषों में सम्मिलित कर लिया। ६३ जैन महापुरुषों की तालिका में राम अष्टम् बलदेव तथा कृष्ण नवम् वासुदेव माने गये हैं। अवश्य ही जैन धर्म में उनके ईश्वरत्व को स्थान नहीं मिला।

इन महापुरुषों के साथ ही जैन धर्म ने उनके जीवन-वृत्तों को भी स्वधर्मानुकूल बना कर ग्रहण कर लिया। इस प्रयत्न में कथानकों में यथेष्ट रूपान्तर हो गये हैं। इस प्रसंग में स्व० पं० चन्द्र धर शर्मा गुलेरी का कथन है कि जैनों ने हमारी कथाओं को बदल कर अपने धर्म की प्रभावना बढ़ाने के लिये रूपान्तर दे दिया—यह कहना कुछ साहस की बात है। नदी का जल लाल भूमि पर बहता है तो लाल हो जाता है, काली पर बहता है तो काला। कथाएँ पुरानी आर्यकथाएँ हैं। जैन-बौद्ध-वैदिक सबकी समान संपत्ति हैं।[2] परन्तु रूपान्तर की यह बात केवल जैन धर्म में ही नहीं मिलती, वरन् एक ही पात्र के चरित्र वर्णन करने वाले विभिन्न हिन्दू पुराणों तथा काव्यों में भी प्राप्त होती है। स्वयं तुलसीदास ने वाल्मीकीय रामायण को अपना आदर्श मानते हुए भी मानस की कथा में अनेक परिवर्तन किये हैं। इसी प्रकार जैन-मत में भी राम-कथा की दो स्पष्ट धाराएँ हैं—एक वाल्मीकि से प्रभावित विमलसूरि-रविषेण की तथा दूसरी गुणभद्राचार्य की। एक ही राष्ट्रकूट साम्राज्य की छत्र छाया में रहकर रचना करने वाले अपभ्रंश के मूर्धन्य कवि स्वयंभू तथा पुष्पदंत ने क्रमशः

---

(१) हिस्ट्री आफ इंडियन लिटरेचर, भाग २ पृ० ५०६

(२) पुरानी हिन्दी, चंद्र धर शर्मा गुलेरी, नागरी प्रचारिणी सभा काशी, (सं० २००५) पृ० ६७

पृथक्-पृथक् इन धाराओं को अपनाकर ग्रंथ रचे। अतः कथानकों में रूपान्तर की यह बात अंशतः धार्मिक होने के साथ-साथ अधिकांशतः काव्य-प्रणेताओं की व्यक्तिगत स्वच्छन्द भावना पर आधारित है।

जैन-काव्यों में रामायण, महाभारत तथा अन्य पुराणों का कथाओं के परिवर्तित रूप अजैन व्यक्तियों को भले ही अटपटे प्रतीत हों परन्तु जैन मत में उन्हें प्रमुख स्थान देकर उनके प्रति श्रद्धा प्रकट की गई है। जैनों ने राम को सिद्ध आत्मन तथा सीता को सती-साध्वी नारी के रूप में माना है।[१] उनमें कृष्ण का महत्व भी इतना बढ़ गया कि उनकी पूजा तक प्रचलित हो गई। बम्बई के सेंट जेवियर्स कालेज में सग्रहीत कुछ मूर्तियों से यह स्पष्ट अनुभव होता है।[२] यही नहीं जैन-समाज की स्त्रियाँ आज भी अपने धर्म-ग्रंथों में राम-कृष्ण की कथाएँ देख गर्व का अनुभव करती हैं।

जैनों ने रामायण, महाभारत तथा पुराणों की शैली के अनुरूप ही अपने ग्रंथों की रचना की। अतः उन्हीं के समानान्तर उन्होने (जैनों ने) अपने ग्रंथों के नाम-करण भी किये यथा-रामायण के समान रामायण[३] तथा हरिवंश पुराण के समान उन्होंने भी हरिवंश पुराण रचे। किसी एक महापुरुष के चरित्र-सबंधी ग्रंथ को, उसी के नाम के साथ पुराण शब्द जोड़ कर उन्होंने प्रसिद्ध किया, जैसे-पार्श्व पुराण, शान्ति पुराण, पाण्डव पुराण आदि। किन्तु, सभी महापुरुषों के चरित्रांकन करने वाले ग्रंथ को उन्होने महापुराण कहा है। महापुराण को यदि जैन धर्म की समस्त पवित्र बातों का विश्वकोश कहा जाय, तो अत्युक्ति न होगी। महाभारत की तुलना में इसे रखा जा सकता है।

पुराणों के नाम, स्वभाव तथा शैली को अपनाते हुए भी जैन-कवि केवल अपने एवं ब्राह्मणों के धर्म में अन्तर स्पष्ट करने में ही सतर्क नहीं रहे वरन् उन्होंने ब्राह्मणों की ईश्वर सम्बन्धी मान्यताओं तथा दार्शनिक सिद्धान्तों का तर्कपूर्ण खंडन भी किया है। यही नहीं, उन्होंने वाल्मीकि तथा व्यास सरीखे विश्ववंद्य महाकाव्य-प्रणेताओं तथा भारतीय संस्कृति के निर्माताओं को मिथ्यावादी एवं कुमार्ग-रूप

---

(१) जर्नल आफ ओरियंटल रिसर्च, मदरास, खंड १, सं० २ पृ० ५१-५२

(२) भारतीय विद्या, खंड ७ सं० ६ (अक्टूबर, १९४६)

(३) पुष्पदंत ने अपनी राम-कथा को रामायण ही कहा है, यथा—
मुणिसुव्वयजिणतित्थ तोसियसुररामायणु।
हरिहलहरगुणघोसु जं जायउ रामायणु। मपु० ६९।१।१-२

में डालने वाले कवि तक कहने में संकोच नहीं किया।[१] विंटरनिट्ज़ के अनुसार उनके इस कथन का अभिप्राय यह था कि जिससे प्रतीत हो कि जैन धर्म अनादि काल से चला आ रहा है और ब्राह्मणों का धर्म उसी का एक रूप है।[२] परन्तु अपने क्रियात्मक तथा सामाजिक जीवन में सहिष्णुता के लिये प्रसिद्ध, इन जैन मनीषियों की यह असहिष्णुता आश्चर्य में अवश्य डालती है।

कवि के ग्रन्थों पर पौराणिक प्रभाव—

हमारे कवि के काव्य-क्षेत्र में पदार्पण करने के समय अपभ्रंश भाषा का साहित्य उत्तरोत्तर गौरवान्वित हो रहा था। राम और कृष्ण की जैन कथाओं के प्रणेता चतुर्मुख एवं स्वयंभू प्रथम ही अपभ्रंश का शृंगार कर चुके थे। पुष्पदंत ने इसी परम्परा में अपने ग्रंथ रचे। उनके ग्रंथों पर यथेष्ट पौराणिक प्रभाव पड़ा है, जिसका अध्ययन निम्नलिखित शीर्षकों के अंतर्गत प्रस्तुत किया जा रहा है—

१—पौराणिक रचना शैली तथा काव्य-रूढ़ियों का प्रभाव।

२—पौराणिक पात्रों एवं कथानकों का ग्रहण।

१—पौराणिक रचना शैली तथा काव्य-रूढ़ियों का प्रभाव—

पुराण-लक्षण—पुराणादि ग्रंथ जैसे ही जैसे जन-सामान्य में लोकप्रिय बनते गये, वैसे ही वैसे उनकी रचना-शैली में एकरूपता भी आती गई। प्रायः सभी पुराणों की रचना एक ही शैली में हुई है। पुराणों के पंच-लक्षण बड़े प्रसिद्ध हैं। उनमें सर्ग (जगत् की सृष्टि), प्रतिसर्ग (सृष्टि का विस्तार, लोप एवं पुनः सृष्टि), वंश (देवताओं आदि की वंशावली), मन्वंतर (१४ मनुओं के समय में घटित महती घटनाएँ) तथा वंशानुक्रम (मुख्य राज-वंशों के इतिहास) के वर्णन अवश्य ही होने चाहिए।[३]

इसी के अनुरूप जैन पुराणकारों ने भी अपने पुराणों के लक्षण बताए हैं। आचार्य जिनसेन ने पुराणों में आठ बातों को आवश्यक बतलाया है। वे हैं—लोक, देश, नगर, राज्य, तीर्थ, दान, तप, गति-फल। वस्तुतः हिन्दू तथा जैन पुराणों के इन

---

(१) मपु० ६९।३।११ । विमलसूरि के पउम चरिय में भी वाल्मीकि को मिथ्यावादी कहा गया है। देखिए—हिस्ट्री आफ इंडियन लिटरेचर, भाग २, पृ० ४८३

(२) हि० आफ इंडियन लि०, भाग २ पृ० ४९७

(३) सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च
वंशानुचरितं चैव पुराणंपंचलक्षणम्। (हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास पृ० ४८३ से उद्धृत।)

लक्षणों में तत्वतः अधिक अन्तर नहीं है ।[1] सर्ग, प्रतिसर्ग के अन्तर्गत किया जाने वाला सृष्टि-विवेचन जैन पुराणों में लोक, देश, नगर एवं राज्य के रूप में किया जाता है। वंश के लिये उनके यहाँ तीर्थङ्करों के जीवन-चरित्र वर्णन करने का विधान है । यद्यपि मन्वतर के अनुरूप जैनों ने कोई पृथक् लक्षण नहीं रखा, परन्तु उनके पुराणों में १४ कुलकरों (मनुओं) द्वारा की जाने वाली समाज-व्यवस्था तथा जन-कल्याणकारी कार्यों का सविस्तार वर्णन अवश्य प्राप्त होता है ।[2]

प्रत्येक जैन-महापुरुष किसी न किसी राज-परिवार में ही जन्म लेते हैं। पुराणों में इन महापुरुषों के पूर्व-जन्मों अथवा पूर्व-पुरुषों की कथाओं में पौराणिक वंशानुक्रम का लक्षण देखा जा सकता है। दान एवं तप की महिमा दोनों ही मतों में बतलाई गई है। इसके अतिरिक्त कर्म की प्रधानता का संकेत करते हुए, उसके अनुसार ही गति तथा फल की प्राप्ति की बात भी दोनों ही स्थानों में मिलती है।

हमारे कवि के महापुराण में जैन-पुराणों के उपर्युक्त लक्षणों का यथासम्भव पालन किया गया है। कवि ने लोक (सृष्टि) के विभाग करके उसके जम्बू आदि द्वीपों, अंतर्द्वीपों, नदियों, पर्वतों, नगरों आदि के वर्णन किये हैं।[3] १४ कुलकरों द्वारा मानव सभ्यता के उत्थान-हित किये गये कार्यों का भी वर्णन उसमें है। इसके अतिरिक्त कवि ने जीव-धारियों की आयु-गणना (मपु० २।७), काल-विभाजन (मपु० २।८), धर्म की महत्ता (मपु० २।१७), नरक (मपु० ११।१३-२०) स्वर्ग (मपु० ११ २१-२६) आदि अनेक पौराणिक-साम्य विषयों के भी विवेचन किये हैं।

प्रबन्ध-ग्रन्थों को सम्वाद रूप में लिखने की प्रथा अति प्राचीन है। रामायण, महाभारत तथा पुराण इसी शैली में लिपि-बद्ध किये गये हैं। महाभारत एवं पुराणों के आदि वक्ता व्यास माने जाते हैं। उन्हीं से वैशम्पायन, लोमहर्षण आदि ऋषियों ने सुनकर अन्य व्यक्तियों को सुनाए। सारा महाभारत वैशम्पायन तथा जनमेजय के संवाद रूप में कहा गया है। पुराणों की कथा लोमहर्षण-पुत्र सूत उग्रश्रवा ने नैमिषारण्य में शौनकादि ऋषियों को सुनाई। इन संवादों के अन्तर्गत अन्यान्य पात्रों के संवाद भी होते रहते हैं। यही परम्परा प्राकृत मे विमलसूरि से होती हुई अपभ्रंश में स्वयंभू, पुष्पदंत आदि कवियों में प्रकट हुई है। जैन पुराणों के आदि वक्ता वर्धमान

---

(१) लोको देशः पुरं राज्यं तीर्थं दान तपो अन्वयम्
पुराणेष्वष्टधाख्येयं गतयः फलमित्यपि । महापुराण, जिनसेन पर्व—४ श्लोक ३

(२) देखिए—महापुराण (जिनसेन), चतुर्थ पर्व, श्लोक ३६।५०

(३) मपु० ११।३-७

कहे जाते हैं ।[१] मगध-राज श्रेणिक (बिम्बसार) की प्रार्थना पर गौतम गणधर कथा सुनाते हैं । पुष्पदंत के दो ग्रंथों-महापुराण एवं णायकुमार चरिउ में इसी संवाद शैली के दर्शन होते हैं । कवि का तृतीय ग्रंथ जसहर चरिउ निश्चय ही इसका अपवाद है ।

अतिरंजना-तत्व—

प्राचीन आलंकारिकों ने वस्तु-कथन की तीन शैलियाँ—तथ्य कथन, रूपक-कथन तथा अतिशयोक्ति-कथन निरूपित की हैं ।[२] इनमें तथ्य-कथन शैली वैज्ञानिक है । रूपक-कथन का निर्वाह वेदों में तथा अतिशयोक्ति-कथन का पुराणों में हुआ है । काव्य में अतिशयोक्ति अथवा अतिरंजना का बड़ा महत्व है । सामान्य को विशेष रूप से वर्णन करने में वस्तुतः अतिरंजना का ही आश्रय लिया जाता है । इसके मूल में जन-मानस को आकर्षित करने तथा मानव-जिज्ञासा को सतत जागरूक रखने का भाव निहित है । पुराणों की लोक-प्रियता की वृद्धि में इससे बड़ी सहायता मिली है ।

प्राकृत की अपेक्षा अपभ्रंश के प्रबन्ध-काव्यों में अतिरंजना तत्व को अधिक प्रधानता दी गई है । पुष्पदंत का समग्र काव्य इसी से प्रभावित है । कवि ने विशेष रूप से आदि तीर्थंकर ऋषभ के पंच-कल्याणक महोत्सव के वर्णन पूर्ण अतिरंजना के साथ किये हैं ।[३] इसके अतिरिक्त महाराज भरत का विशाल वाहिनी के साथ दिग्विजय[४], हनुमान द्वारा नंदन-वन विदारण[५], तथा राम-रावण युद्ध[६] के प्रसंगों में इसी शैली के भव्यरूप प्राप्त होते हैं । इस सम्बन्ध में णायकुमार चरिउ का पृथ्वी देवी का नख-शिख वर्णन (१।१७) तथा जसहर चरिउ के यौधेय देश (१।३) एवं देवी चंडमारि के वर्णन (१।१६) भी द्रष्टव्य हैं ।

कथानक-वैशिष्ट्य

पौराणिक रचना-शैली की एक विशेषता यह भी है कि उसमें प्रधान कथाओं के अन्तर्गत अनेक उप-कथाओं की सृष्टि की गई है । इन उपकथाओं में वीरता, नीति, वैराग्य आदि अनेक उदात्त विषयों का चित्रण किया गया है । पुष्पदंत के महापुराण में भी ऐसी उप-कथाएं प्रचुर संख्या में हैं, परन्तु उनके कारण मूल-कथा का

---

(१) वद्धमाण-मुह-कुहर-विणिग्गय । पउम चरिउ, १।२।१
एहउ वीर जिणिंदे वुत्तउ । मपु० २।४।७

(२) हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, भाग १, पृ० ४८७

(३) मपु० संधि ३, ७ ६, ३७ ।

(४) मपु० संधि १२-१५

(५) मपु० संधि ७६ ।

(६) मपु० संधि ७७-७८

सूत्र खोजना कठिन हो जाता है। आदि पुराण में महाबल-स्वयंबुद्ध (संधि २०), श्रीमती-वज्रजंघ (संधि २२-२६) तथा जय-सुलोचना (संधि २८-३६) की कथाएं इसी कोटि की हैं। णाय० तथा जस० के कथानक भी इसी प्रकार जटिलता से पूर्ण हैं।

पात्र-नियोजन

पुराणों की एक महत्वपूर्ण बात यह भी है कि उनमें श्रेष्ठ तथा उज्ज्वल चरित्रों की अत्यधिक उद्भावना की गई है। ये पात्र ऐश्वर्य तथा भोग-विलास में ही लिप्त नहीं रहते, वरन् जीवन की विषम परिस्थितियों और संघर्षों में अदम्य साहस के साथ अग्रसर होते हैं तथा मानव-मात्र के संमुख कर्मशील जीवन का आदर्श प्रस्तुत करते हैं। हमारे कवि के ग्रंथों में वर्णित महापुरुषों के जीवन-चरित इसी कोटि के हैं। वे संसार की नश्वरता एवं क्षणभंगुरता का आभास पाते ही निमिष-मात्र में अतुल राज्य-संपदा एवं वैभव का परित्याग करके कठोर तप और संयम का व्रत ले लेते हैं। इस प्रकार वे उच्चकोटि की साधना, शुचिता तथा सदाचार का आदर्श रखते हैं।

अन्य पौराणिक रूढ़ियाँ

जैन-ग्रंथों पर हिन्दू पुराणों की अन्य रूढ़ियों का प्रभाव भी परिलक्षित होता है। उदाहरणार्थ पुराणों में किसी महापुरुष द्वारा किये गये अद्भुत् पराक्रम के प्रदर्शन पर अथवा धर्म-संस्थापन का महत्वपूर्ण कार्य संपन्न होने पर, देवगण आकाश में अपने-अपने विमानों में बैठ कर उस कृत्य पर पुष्प-वृष्टि करते अथवा दुंदुभि बजाते हुए चित्रित किये जाते हैं। कवि के महापुराण में वसुदेव-समुद्र विजय युद्ध तथा कंस-वध के प्रसंगों पर देवताओं का ऐसा ही वर्णन किया गया है[1]।

पुराणों में अप्रिय कार्य पर शाप देने के प्रचुर वर्णन किये गये हैं। पुष्पदंत ने मणिमती द्वारा रावण को[2] तथा अतिमुक्तक द्वारा जीवंजसा (कंस-पत्नी) को[3] शाप दिये जाने का उल्लेख किया है।

राज-कन्याओं के हेतु योग्य तथा अभिलषित वर के निर्वाचन के लिये स्वयंवरों के आयोजन पुराणों में सामान्य रूप से अंकित किये गये हैं। इनमें कभी-कभी किसी कठिन कार्य द्वारा प्रत्याशी के पराक्रम की परीक्षा को भी सम्मिलित कर दिया जाता है। पुष्पदंत के ग्रंथों में तदनुरूप प्रसंगों की न्यूनता नहीं है। उन्होंने सुलोचना (मपु० संधि २८), गंधर्वदत्ता (मपु० संधि ८३), जीवंजसा (मपु संधि ८४) आदि के स्वयंवरों के वर्णन किये हैं।

---

(१) मपु० ८३।२२।५, ८६।६।१
(२) मपु० ७०।६
(३) मपु० ८४।१२

अन्य पौराणिक रूढ़ियों में कवि ने पूर्व-जन्म, भाग्यवाद, काम-रति-सौंदर्य, नख-शिख आदि के अतिरिक्त सरिताओं, पर्वतों, सन्ध्या आदि प्राकृतिक दृश्यों के सुन्दर वर्णन किये हैं।

२—पौराणिक पात्रों एवं कथानकों का ग्रहण—

(अ) पात्र—जैन धर्म ने पुराणों के अधिकांश लोक-प्रिय पात्रों को अपने धर्म-ग्रंथों में स्थान दिया है। हमारे कवि ने भी इन पात्रों को किस रूप में अपने ग्रंथों में ग्रहण किया है, इसका विवेचन हम कुछ विशिष्ट पात्रों के माध्यम से निम्न-लिखित पंक्तियों में प्रस्तुत करने का प्रयास करेंगे।

राम-लक्ष्मण—

जैन महापुरुषों में इन्हें क्रमशः अष्टम् बलदेव तथा अष्टम् वासुदेव माना गया है। पुराणों में बलदेव अथवा बलराम, रोहिणी के पुत्र हैं। दशरथ-पुत्र राम से इनके तादात्म्य का एक प्राचीन प्रमाण पतजलि द्वारा किये गये पाणिनि के भाष्य (सूत्र २।२।३४) में प्राप्त होता है। वहाँ राम और केशव के मंदिरों को क्रमशः बलराम तथा वासुदेव कृष्ण का माना है। पाणिनि-काल में इन मंदिरों में उत्सव होते थे।[१]

पुष्पदंत ने राम को बलराम से अभिन्न मान कर उनके लिये हलहर (हलधर, मपु० ७०।१३।१), बलहद्द, (बलभद्र ७४।५।३), हलाउह (हलायुध, मपु० ९६।६।४) आदि नामों का प्रयोग किया है। इसी प्रकार लक्ष्मण को भी कृष्ण के अनेक नामों से संबोधित किया है। यथा-महसूयण (मधुसूदन, मपु० ६९।९।१), जणद्दण (जनार्दन, मपु० ७०।१३।१), माहव (माधव, मपु० ७३।११।७), केसव (मपु० ७४।१३।८), पीयंबर (पीताम्बर, ७८।१५।१) आदि।

यद्यपि हमारे कवि ने कथानक के अंतर्गत राम के पूर्वजों में रघु का कहीं भी उल्लेख नहीं किया, फिर भी अनेक स्थलों पर उनके लिये रहुवइ (रघुपति, ७०.८।१३) रहुउल णाह (रघुकुल नाथ, मपु० ७१।४।४), राहव (राघव, मपु० ७२।४।१०), काकुत्थ (सूर्य-वंश की उपाधि, मपु० ७६।३।५) आदि नाम लिये हैं। लक्ष्मण को भी शेषशायी (मपु० ७३।९।१२ कहा गया है। राम के धनुष को वज्रावर्त (मपु० ७६।३५) तथा लक्ष्मण के शंख को पांचजन्य (मपु० ७६।३।९) कहा गया है। राम को गौर-वर्ण (मपु० ७८।१३।८) और लक्ष्मण को श्याम-वर्ण (मपु० ७८।१।२) अंकित किया गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि एक ओर तो राम-लक्ष्मण के लिये रामायणादि ग्रंथों में प्रयुक्त नामों का प्रयोग करता है, और दूसरी ओर उन पर बलराम तथा कृष्ण की, महाभारत-पुराणों में वर्णित, विशेषताओं का आरोप भी करता है।

---

(१) कलक्टेड वर्क्स आफ आर० जी० भंडारकर, खंड ४ पृ० १८

यही नहीं, कवि ने अन्य वलदेवों एवं वासुदेवों के लिए भी जिस नामावली का प्रयोग किया है, उससे भी उनके पौराणिक वलरामादि से कुछ सम्वन्ध होने का आभास मिलता है। इससे यह अनुमान होता है कि जैनों द्वारा अपने महापुरुषों को श्रेणी में वलदेव तथा वासुदेव जैसी पद-संज्ञा का ग्रहण वस्तुतः पुराणों के पराक्रमी वलदेव (वलराम) तथा वासुदेव (कृष्ण) को जैन धर्म में सम्मिलित करने के अभिप्राय से किया गया है।

सीता—सीता के जन्म के सम्वन्ध में कई कथाएँ प्रचलित हैं। महाभारत, हरिवंश पुराण, पउम चरिय (विमल सूरि) आदि रामायण ग्रन्थों में उन्हें जनक की पुत्री माना गया है। वाल्मीकि रामायण में उन्हें भूमिजा कहा गया है। देवी भागवत पुराण (९।१६), ब्रह्म वैवर्त पुराण (प्रकृति खंड, अध्याय १४) तथा गुणभद्र के उत्तर पुराण (पर्व ६८) में वे रावणात्मजा अंकित की गई है। तिब्बत, खोतान, हिन्देशिया, स्याम आदि विदेशों की राम-कथाओं में भी उन्हें रावण की पुत्री कहा गया है। भारत में सीता को रावणात्मजा मानने वाले ग्रन्थों में गुणभद्र का उत्तर पुराण प्राचीनतम ग्रन्थ है।[1]

पुष्पदंत ने इसी कथा का अनुसरण किया है।[2] परन्तु उन्होंने सीता को रावण की पुत्री जैसे आशय के नामों से सम्बोधित न करके सर्वत्र वइदेहि (वैदेही, मपु० ६९।२।४), जणय सुय (जनक सुता, मपु० ६९।१५।८), जणय तणय (जनक-तनया, मपु० ७३।१८।६) आदि पुराण व्यवहृत नामों से ही इंगित किया है। इसके अतिरिक्त कवि के कथा प्रसंग में, किसी वनपाल द्वारा सीता को प्राप्त कर, जनक उसका पालन करने के हेतु अपनी पत्नी वसुधा को सौंपते हैं। इससे स्पष्ट है कि कवि को वाल्मीकि द्वारा कथित सीता के भूमिजा होने का पता था और उसने इस तथ्य का समन्वय जनक-पत्नी वसुधा से कर दिया है।

रावण—जैन-मत मे रावण की गणना महापुरुषों में की गई है। वह पुलस्त्य का पुत्र तथा अष्टम् प्रति-वासुदेव है। पुष्पदंत उसे एक सिर तथा दो भुजाओं वाला मानते हुए भी वाल्मीकीय रामायण तथा अन्य पुराण-ग्रन्थों के प्रभाव के कारण दहमुह (दशमुख, मपु० ६९।१।१३), दहगीउ (दशग्रीव, मपु० ७०।१।१५), दससिर (दश-शीश, मपु० ७५।१।७), दसाणण (दशानन, मपु० ७०।७।६), वीसपाणि (मपु० ७१।४।२) आदि नामों से सम्बोधित करते हैं।

कवि ने रावण की उत्पत्ति विद्याधर-कुल में बतलाई है, परन्तु उसे माया-निश्चर भी कहा है, (मपु० ७६।८।२)। विद्याधर होने के कारण उसे अनेक विद्याएँ

(१) रामकथा, डॉ० कामिल बुल्के, पृ० २६६

(२) मपु० संधि ७०

सिद्ध हैं। वह विद्वान भी है। कवि ने उसकी मृत्यु पर सरस्वती द्वारा शास्त्र-पाठ न करने का उल्लेख किया है, (मपु० ७८।२३।४)। उसकी प्रसिद्धि सर्वत्र है। चन्द्रहास उसकी तलवार का नाम है, (मपु० ७७।२।८)। वाल्मीकि रामायण में रावण को चन्द्रहास शिव से प्राप्त होने का वर्णन है; (उत्तर काण्ड, सर्ग १६)। कवि ने उसे अत्यन्त कामुक तथा क्रोधी स्वभाव का चित्रित किया है।

हनुमान—हनुमान के प्रसिद्ध कार्य सीता की खोज तथा लंका-दहन हैं। पुष्प-दंत ने भी उनके इन्हीं कार्यों का चित्रण किया है। परन्तु कवि ने उन्हें वानर न मान कर अनेक सिद्धियों से सम्पन्न विद्याधर कहा है। वानरी नामक विद्या की सहायता से लङ्का में वे सीता के सम्मुख वानर-रूप में उपस्थित हो कर राम का सन्देश देते है। (मपु० ७३।२८।१८)

वाल्मीकि रामायण[1] में वर्णित उनके विडालाकार लघु-वानर के रूप में लङ्का-प्रवेश की कथा का समन्वय कवि ने उपर्युक्त रूप में किया है। उनकी सर्व-विदित स्वामि-भक्ति की बात भी कवि को ज्ञात थी, (णाय०, १।४)। महापुराण में उन्हें सामान्यतः अंजणेय (६९।२।७), कईसरु (कपीश्वर, ७३।१४।६), कइवरिंदु (कपिवरेन्द्र, ७३।२५।२), मारुइ (मारुति, ७४।५।) आदि कहा गया है।

कृष्ण—पुराणों में कृष्ण साक्षात् विष्णु के अवतार माने गये हैं। जैन धर्म ने इन्हें अपने महापुरुषों में नवम् वासुदेव का स्थान दिया है। इसके अतिरिक्त वे वसुदेव-देवकी के पुत्र तथा २२ वें तीर्थङ्कर नेमि (अरिष्ट नेमि) के चचेरे भ्राता भी हैं। अंधक वृष्णि उनके पितामह थे।[2] ईश्वरीय विभूति को पृथक् करके पुराणों के कृष्ण का पूर्ण प्रतिविम्ब पुष्पदंत के कृष्ण में परिलक्षित होता है। श्रीमद् भागवत के अनुरूप ही कवि ने भी उनकी बाल-लीलाओं का वर्णन किया है, (मपु० संधि ८५)। परन्तु कवि का लक्ष्य उनके महापुरुषोचित महत् कार्यों का चित्रण करना था, अतः उसने कृष्ण द्वारा पूतना, अरिष्ट, कालिय को परास्त करना, गोवर्धन उठाना एवं चाणूर, कंस आदि का वध करना ऐसे कार्यों का अत्यन्त मनोयोग से वर्णन किया है। परन्तु पुराणों से इतनी कथा ग्रहण करने पर भी कवि ने अपने धर्म के आग्रह के कारण, तीर्थङ्कर नेमि[3] को कृष्ण से उच्च स्थान दिया है।

---

(१) वाल्मीकीय रामायण, सुन्दर काण्ड २।४७

(२) भागवत पुराण (३ शता० ई०) १।१४।२५ तथा ३।१।२९ में अंधक वृष्णि आदि यादवों की जातियाँ कही गई है। देखिए—कलेक्टेड वर्क्स ऑफ आर० जी० भंडारकर, भाग ४ पृष्ठ ११।

(३) नेमि का उल्लेख यजुर्वेद (९।२५) तथा हरिवंश (१।३।६४।२९) में प्राप्त होता है। अन्य पुराणों ने सामान्यतः इनका उल्लेख नहीं किया।

यद्यपि कवि ने स्पष्टरूप से कहीं भी कृष्ण को विष्णु का अवतार नहीं माना, तो भी उसने कृष्ण के लिये अनेक ऐसे नामों का प्रयोग किया है, जिनसे विष्णु की अत्यंत सन्निकटता का बोध होता है। यजुर्वेद के पुरुष-सूक्त में रूपक द्वारा यज्ञ पुरुष विष्णु की श्री और लक्ष्मी दो पत्नियाँ मानी गई हैं।[1] पुराणों तक आते-आते वे एक रूप हो गईं। विष्णु पुराण में विष्णु के साथ श्री अथवा लक्ष्मी का वर्णन किया गया है।[2] पुष्पदंत द्वारा कृष्ण के लिए लच्छी कंत (मपु० ८५।६।२४), सिरिकंत (मपु० ८५।१०।३६),कमलावल्लहु (मपु० ८६।२०।७) आदि नामों का प्रयोग उनके (विष्णु के) साथ कृष्ण का तादात्म्य सिद्ध करता है। इसी प्रकार णारायण (मपु० ८५।२।३), गोप (मपु० ८८।६।१६), मुरारि (मपु० ८१। १२), महुसूयण (मधुसूदन, मपु० ८५।६।६), गरुडकेउ (मपु० ८६।३।६) आदि कृष्ण के नाम भी विष्णु की ओर ही संकेत करते हैं। ऋग्वेद में एक स्थान पर विष्णु के लिए गोप शब्द आया है।[3]

कृष्ण के पौराणिक नामों में कवि ने साम (श्याम, मपु० ८१।१।६), गोविंद (मपु० ८५।६।५), जणद्दण (जनार्दन मपु० ८५।६।३३), जादवणाहु (मपु० ८६।६।११), गोवाल (८८।६।११) आदि के सामान्य प्रयोग किये हैं। इसके अतिरिक्त गोवी हियय-हारि (गोपी-हृदय-हारि, मपु० ८५।६।२) तथा राहियामणोहरस्य (राधिकामनोहरस्य, मपु० ८८।१४।८) नाम भी महत्व के हैं। इस संबंध में उल्लेखनीय है कि सर्व-प्रथम हरिवंश पुराण में कृष्ण चरित्र को गोपियों के साथ संबद्ध किया गया है।[4] इसी प्रकार राधा का भी प्रथम उल्लेख ब्रह्मवैवर्त्त पुराण में प्राप्त होता है।[5]

त्रिदेव—कवि ने तीर्थङ्करों का उत्कर्ष बढ़ाने के हेतु, त्रिदेवों के पुराण-विहित स्वरूप का वर्णन करते हुए, जिन की श्रेष्ठता प्रतिपादित की है। त्रिदेवों की समस्त विशेषताओं के वर्णन में व्याज से जिन-वंदना का ही अर्थ लिया गया है। प्रत्येक देव के व्यक्तित्व की संक्षिप्त रूप रेखा इस प्रकार है—

ब्रह्मा—कवि ने ब्रह्मा को सृष्टि-कर्त्ता न मानते हुए भी, उन्हें सर्वत्र उन्हीं नामों से संबोधित किया है, जिनसे इसी अर्थ का बोध होता है। यथा—विधाता (मपु० ७३।२२।१४,, विहिणा (विधिना, जस० १।२४।७), विधि (मपु० ७४।११।५) आदि। इसके अतिरिक्ति उन्हें वेदांग वादिन, कमलयोनि, (मपु० १०।५।१०-१३) तथा हिरण्यगर्भ (मपु० ७।४।८) भी कहा गया है।

---

(१) श्रीश्चते लक्ष्मीश्च पत्न्यो। यजुर्वेद ३१।२२

(२) नित्यैव सा जगन्माता विष्णोः श्रीरनपायिनी। वि० पु० १।८।१५

(३) ऋग्वेद १।२२।१८

(४) सूर-सौरभ, डॉ० मुन्शीराम शर्मा, (२००६ वि०) पृ० ११२

(५) वही, पृ० १३१

विष्णु—विष्णु, क्षीर-समुद्र-वासी (मपु० ७२६।७) तथा अहिसयण (शेष-शायी मपु० ६०।१०।६) हैं। उनकी पत्नी रमा (मपु० ३६।५।५) हैं, एवं इसी कारण उन्हें सिरि रमण (मपु० २।३।७) भी कहा गया है। उविंदु (उपेन्द्र, मपु० ८६।१।२३) भी उनका नाम है। वे चक्र धारण करते हैं, (मपु० ३३।५।६) विणयासुय (विनितासुत—गरुड़, मपु० ७५।७।५) उनका वाहन है।

महेश—ये कैलाश-वासी हैं, (मपु० ७८।४।५)। उनकी जटाओं में गंगा, कर में त्रिशूल (णाय० २।३।१४), कंठ में गरल (मपु० १२।१२।१३), मस्तक पर चन्द्रमा (मपु० ३८।२१।८), गले में मुंड-माल तथा शरीर पर विषधर (मपु० १०।५।१) लिपटे हैं। गिरिवर सुइ (गिरिवर सुता, मपु० ६७।३।४) उनकी पत्नी हैं। वे तिलोयण (मपु० ६०।७।२) तथा चंदाणण (मपु० २।६।२०) भी हैं। हर-गण (मपु० ८२।८।१०) एवं शिव-तापस (मपु० ६३।११।१) उनकी सेवा में रहते हैं। शंभु, रुद्र, महादेव, महाकाल (मपु०१०।५।१-८), पसुपति (मपु० ६।२५। ११) आदि उनके अन्य नाम हैं।

इन्द्र—जैन पुराणों में इन्द्र को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। प्रत्येक जिन के पंच-कल्याणकों (गर्भ, जन्म, दीक्षा, कैवल्य तथा निर्वाण) के अवसर पर वे अन्य देवताओं के साथ अनिवार्यतः पधारते हैं तथा जिन-स्तुति करते हैं। इनकी संख्या ३२ मानी जाती है।

कवि ने इंद्र के लिए पुरंदर (मपु० ८८।२।१५), सुरवइ (सुरपति, मपु० २।१७।५); दससय णयण (मपु० ३।१०।६), दणु दमणु (मपु० २।३।७) आदि नामों के प्रयोग किए हैं। उनकी पत्नी शचि (मपु० ४०।६।४), आयुध-कुलिश (मपु० ४७।४।१२), तथा वाहन-ऐरावत (मपु० ६।१७।२७) है। रंभा (मपु० ६।१४।६), उव्वसि तथा तिलोत्तमा (मपु० ६।२६।३) उनकी अप्सराएं हैं।

उपर्युक्त प्रमुख पात्रों के अतिरिक्त कवि के ग्रन्थों में अन्य पौराणिक देवी-देवता, ऋषि-मुनि तथा ग्रह-नक्षत्रों के उल्लेख भी हुए हैं। इनमें से कुछ इस प्रकार हैं—

कामदेव— कंदप्प (मपु० १६।६।१२) कुसुमाउह (कुसुमायुध, मपु० ६।२४।१४), मदन (मपु० ३।२।४), मयरद्धउ (मकरध्वज मपु० ७८।३।३) आदि। रति उसकी पत्नी है, (जस० २।२२।७)।

यम— वइवसु (णाय० १।१४।६), काल (मपु० ३।१४।११), आदि। उनके पाश को कयंत पासु (मपु० ३८।२३।५) कहा गया है।

कुबेर— दविणवइ (द्रव्य-पति, जस० ३।१६।१३), वइसवण (मपु० २।३।६), जक्खाहिउ (यक्षाधिप, मपु० ३८।१०।१०) आदि।

शेष— पायाल राइणा (मपु० ८।१४।३), अहि (मपु० ६३।१।८) आदि।

बृहस्पति—सुरगुरु (मपु० ३८।८।६) तथा अंगिरा (मपु०४७।६।१३)। वरुण—समुद्देस (मपु० ३।१०।६) । भैरव—(मपु० ८७।४।१२)। अग्नि—सिहि (मपु० ३।१०।६) । सूर्य—(मपु० ८।२।२४)। चंद्र—मयलंछण (मपु० ३।६।५) । राहु—णेरि (मपु० ३।१४।११)। केतु—केउ (मपु० ४७।६।१३) । नारद—(मपु० ८८।४।३)। अर्जुन—पार्थ (मपु० ८७।७।४) । गणेश—(मपु० ९५।१४।८)। भरद्वाज—(मपु० ९५।८।१३) । शाण्डिल्य—(मपु० ९५।३।१)। पराशर—(मपु० ९५।६।३) । कपिल—(मपु० ९८।१।१२)। व्यास—(मपु० ९५।१०।११) । वाल्मीकि—(मपु० ९६।३।११)। कश्यप—(मपु० ५।२९।७) । सणत्कुमार—(मपु० ३।११।११)। सरस्वती—(जस० २।२८।१२) । गंगा—(मपु० ३।४।६)।

(आ) पौराणिक कथानकों का ग्रहण

जैसा हम पूर्व ही निर्देश कर चुके हैं, जैनों ने अपने ग्रंथों की प्रभावकता बढ़ाने के हेतु, पौराणिक पात्रों के साथ ही तत्संबंधित कथानकों को भी ग्रहण किया है। इन कथानकों का वर्णन तीन प्रकार से हुआ है। यथा—कुछ के सविस्तार वर्णन हैं, कुछ के संक्षिप्त तथा कुछ के केवल प्रसंग-वश उल्लेख मात्र किये गये हैं।

इन कथानकों का परिचय इस प्रकार है—

१—विस्तृत कथानक—पुष्पदंत के महापुराण में राम तथा कृष्ण के चरित्रों का वर्णन विस्तार से किया गया है।

कवि की राम-कथा के निम्नलिखित स्थलों में वाल्मीकि रामायण का स्पष्ट प्रभाव है—

दशरथ के चार पुत्र-राम, लक्ष्मण, भरत तथा शत्रुघ्न। (मपु० ६९।१२।८-१०)

जनक द्वारा सीता का पालन तथा राम से विवाह। लक्ष्मण का भी जनक के यहां विवाह। (महापुराण, ७०।६,१२,१३)

लंकेश रावण का मय-सुता मंदोदरी से विवाह। (मपु० ७०।६।१-२)

शूर्पणखा के सदृश चंद्रनखी की अवतारणा। भिन्न कथानक के साथ। (मपु० ७१।११)

मारीच का स्वर्ण-मृग बनकर राम को सीता से दूर ले जाना तथा रावण द्वारा छल से सीता-हरण। (मपु० संधि ७२)

सीता-विरह में व्याकुल राम का वनचारी मृगादिकों से सीता का पता पूछना। (मपु० ७३।४)

राम का सुग्रीव-हनुमान से मिलन और परस्पर मैत्री। हनुमान द्वारा सीता की खोज। समुद्र-लंघन। (मपु० ७३।७, १२)

लंका में रावण द्वारा सीता को अनेक प्रकार से फुसलाने की चेष्टा करना। सीता-विरह। (मपु० ७०।२०,७३।२४)

लंका में वानर-रूप में हनुमान द्वारा सीता को राम का संदेश देना।
(मपु० ७३।२५, २६)

वालि-वध (यहाँ लक्ष्मण द्वारा)। (मपु० संधि ७५)

राम द्वारा लंकेश के पास दूत भेजना (अंगद के स्थान पर हनुमान)
(मपु० ७४।११)

विभीषण का राम की शरण में आना। राम सेना (वानर-रूप में) का लंका प्रवेश। (मपु० ७६।५,६)

हनुमान द्वारा लंका-दहन। (मपु०७६।८)

राम-रावण युद्ध। रावण वध (राम के स्थान पर लक्ष्मण द्वारा)।
(मपु० संधि ७७,७८)

विभीषण का लंका का राजा होना। (मपु० ७८।२८)

कृष्ण चरित्र के जिस पक्ष का कवि के ग्रंथ में चित्रण हुआ है, उसका स्पष्ट आधार श्रीमद्भागवत प्रतीत होता है। महापुराण के निम्नलिखित स्थलों में भागवत की छाया परिलक्षित होती है—

अपने पिता उग्रसेन को कारागार में डाल कर कंस का स्वयं मथुरा का राजा होना। (मपु० ८४।१०)

देवकी पुत्र के हाथों अपनी मृत्यु होना जान कर; कंस द्वारा वसुदेव से उनकी सभी संतानों को प्राप्त करने का वचन लेना। (मपु० ८४।१४)

कारागार में कृष्ण जन्म। वसुदेव द्वारा कृष्ण को यमुना तट पर ले जाना और वहाँ नंद को उन्हें देकर बदले में नंद-पुत्री लेना। (मपु० ८५।३)

नंद-यशोदा द्वारा कृष्ण का लालन-पालन। (मपु० ८५।५-६)

कंस का पूतना, अरिष्ट आदि को भेज कर कृष्ण-वध की चेष्टा करना। कृष्ण द्वारा सबका परास्त होना। (मपु० ८५।९-१२)

कृष्ण के अलौकिक कार्य—कालिय-दमन, गोवर्धन-धारण तथा जल-वृष्टि से गोपों की रक्षा। (मपु० ८५।१६, ८६।१—३)

मथुरा में कृष्ण द्वारा चाणूर तथा कंस-वध। (मपु० ८६।७, ८)

उग्रसेन का मथुरा का पुनः राजा होना। (मपु० ८६।१०)

जरासंध-वध। (मपु० ८८।१५)

कृष्ण का द्वारका जाना। (मपु० ८७।६)

२—संक्षिप्त कथानक

महाभारत तथा अन्य पुराणों की कुछ कथाएँ संक्षेप-रूप से महापुराण में इस कौशल से सम्मिलित की गई है कि ग्रन्थ के मुख्य कथा-प्रवाह में किसी प्रकार का गतिरोध न हो सके। उल्लेखनीय कथाएँ इस प्रकार हैं—

कर्ण-जन्म-कथा (मपु० ८२।५)
पाण्डव-कथा (मपु० ६९।८—१०)
शिशुपाल-वध (मपु० ६०।७)
राजा सगर की कथा तथा गंगावतरण (मपु० संधि २६)
वलि-वामन अवतार-कथा (मपु० ८६।१६—१८)
परशुराम-सहस्रवाहु कथा (मपु० संधि ६५)

३—अन्य कथानकों के उल्लेख

कवि ने आधिकारिक कथाओं के वर्णनीय स्थलों को प्रभावशाली बनाने के उद्देश्य से यत्र-तत्र पौराणिक पात्रों, कथानकों तथा मान्यताओं के प्रासंगिक उल्लेख किए हैं। समस्त रचनाओं में ऐसे उल्लेखों की संख्या अत्यधिक है। उदाहरणार्थ कुछ प्रसंग प्रस्तुत किए जाते हैं—

पराशर-सत्यवती से व्यास का जन्म। (मपु० ६८।६)
व्यास द्वारा विचित्र वीर्य की स्त्रियों से समागम। (मपु० ६।८)
दुर्योधन द्वारा कृष्ण का परामर्श न मानना। (जस० १।६।८)
अर्जुन का द्रोण को वाण से वेधना। (मपु० ११।६।२)
वृहस्पति का शुक्राचार्य से पराजित होना। (णाय० १।४।२)
शंकर का काम-दहन (णाय० ६।७।४)
राहु का चन्द्रमा को ग्रसना। (मपु० ८५।२२।११)
विष्णु का नृसिंह अवतार। (मपु० ८६।६।१२)
विष्णु का मत्स्यावतार। (जस० ३।५।१—२)
देवासुरों द्वारा समुद्र-मंथन। (णाय० १।४।३—१०)
नल, नहुष, वेणु, मान्धाता, जीमूतवाहन के उल्लेख। (णाय० १।६।१०)
नारद का व्यक्तित्व। (मपु० ७१।१—३)
स्वप्न के कुप्रभाव से बचने के लिए आटे के कुक्कुट की बलि देना।[1]
(जस० २।६।१२)

इसके अतिरिक्त कवि ने रूप-सौन्दर्य में काम को, दाम्पत्य-स्नेह में राम-सीता को, प्रभु-भक्ति में हनुमान को, वैभव-विलास में इंद्र को, शुचिता में गंगा तथा भीष्म को, विद्या में वृहस्पति को, धर्म में युधिष्ठिर को तथा त्याग में कर्ण को आदर्श माना है। (णाय० १।४।१—६)

यह सम्पूर्ण विवेचन, कवि पर यथेष्ट पौराणिक प्रभाव सिद्ध करता है।

---

(१) नारायणीय उपनिषद् में भी आटे के जीवों की बलि देने का उल्लेख है। देखिए—कलक्टेड वर्क्स ऑफ आर० जी० भंडारकर, खण्ड ४ पृ० ५०

अध्याय ६

जैन धर्म तथा कवि के काव्य में उसका स्वरूप

जैन धर्म की प्राचीनता

प्राचीन काल से ही भारत में दो प्रकार की विचार-धाराएँ प्रवाहित रहीं हैं। एक ने ज्ञान के संरक्षित स्वरूप अथवा वेदों का अनुगमन किया। यह वर्णाश्रम परंपरा है। इसमें, आचार्यों के मतानुसार, प्रत्येक वर्ण; प्रत्येक जाति, स्त्री-पुरुष तथा विभिन्न आश्रमों (गृहस्थ, वानप्रस्थ आदि) के व्यक्तियों के लिए धर्म का विधान पृथक् है। दूसरी विचारधारा इसके विपरीत है। उसमें प्राणि-मात्र को धर्म का समान अधिकारी माना गया है। यह श्रमण परम्परा है। ईसा की प्रथम शताब्दी के पश्चात् सृजन होने वाले साहित्य में श्रमण शब्द प्रायः दिगम्बर जैन साधुओं के लिए प्रयुक्त हुआ मिलता है।[1] श्रमण तपस्या द्वारा अपने में समस्त प्रकार की शारीरिक तथा यौगिक वेदनाओं को समता पूर्वक सहन करने की शक्ति को जगाने का परिश्रम करते हैं।[2] उनकी साधना का मूल आधार सम्यग्दर्शन है।

श्रमण शब्द उपनिषदों में भी आया है।[3] जैन धर्म का विकास इसी श्रमण परम्परा में हुआ है।

जैन मतावलम्बी अपने धर्म को अति प्राचीन मानते हैं। उनके अनुसार इस अनादि-अनन्त सृष्टि के कालचक्र में अवसर्पिणी तथा उत्सर्पिणी नामक दो कलायें हैं।[4] इनमें से प्रत्येक में जन-कल्याणकारी २४ तीर्थङ्करों का आविर्भाव होता है। वर्तमान अवसर्पिणी कला में ऋषभ आदि तीर्थंकर हो चुके हैं।

जैनेतर धर्म-ग्रन्थों में तीर्थंकरों के उल्लेखों द्वारा जैन धर्म की प्राचीनता पर बहुत कुछ प्रकाश पडता है। ऋग्वेद की ऋचा १०।१६६।१ में आद्य तीर्थंकर ऋषभ तथा १०।१७८।१ में २२ वें तीर्थंकर अरिष्ट नेमि के उल्लेख प्राप्त होते हैं। अथर्ववेद

---

(१) पंचास्तिकाय समयसार २, नीतिसार २६-३५, दर्शन पाहुड २७, सूत्र पाहुड १, दीर्घ निकाय वस्तुजातसुत्त १—३२। देखिए—अनेकान्त, वर्ष १२ किरण २ पृ० ७०।

(२) परित्यज्य नृपो राज्यं श्रमणो जायते महान्।
तपसा प्राप्य सम्बन्धं तपो हि श्रम उच्यते।। पद्म चरित, रविषेण, ६-२१२

(३) प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास, रांगेय राघव, पृ० १६७

(४) अवसर्पिणी में धर्म की अवनति अथा उत्सर्पिणी में धर्म की उन्नति होती है—
वड्ढंतेहिं होइ उच्छप्पिणि, ओहट्टंतएहिं अवसप्पिणि। (मपु० २।८।५)

की ऋचा ११।५।२४—२६ तथा गोपथ ब्राह्मण पूर्व २।८ में स्वयंभू काश्यप के वर्णन हैं, जिन्हें ऋषभ से मिलाने का यत्न किया गया है।[1] यजुर्वेद में भी ऋषभ को धर्म-प्रवर्तकों में श्रेष्ठ कहा गया है। उसमें अजित (द्वितीय तीर्थंकर), नेमि आदि के निर्देश भी प्राप्त होते हैं।[2]

इस विवेचन से जैन धर्म की प्राचीनता के साथ ही तीर्थङ्करों के प्रभावशाली व्यक्तित्व का भी पता लगता है। इसी कारण अन्य धर्मों के ग्रन्थों में उन्हें स्मरण किया गया है। भागवत पुराण (५।२८) में ऋषभ तथा उनके ज्येष्ठ पुत्र भरत का विस्तृत विवरण है। इसके अतिरिक्त मार्कण्डेय, कूर्म, अग्नि, वायु, ब्रह्माण्ड, वाराह, लिंग, विष्णु, स्कंद आदि पुराणों में ऋषभ के माता-पिता (नाभि-मरुदेवी) तथा उनके द्वारा भरत को हिमवत् प्रदेश के दक्षिण का भाग दिये जाने के उल्लेख प्राप्त होते हैं। भरत के नाम पर ही उक्त प्रदेश का नाम भारत वर्ष प्रसिद्ध हुआ।[3] पद्म पुराण में एक छद्मवेश-धारी दिगंबर पुरुष द्वारा राजा वेन को उपदेश देने का वर्णन

---

(१) अनेकान्त, अप्रैल १९५२, पृ० १२०-१२१

(२) प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास, पृ० ३११

(३) हिमाह्वं दक्षिणं वर्षं भरताय पिता ददौ।
तस्मात्तु भारतं वर्षं तस्य नाम्ना महात्मना। मार्कण्डेय पु० ५०।४१
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रः शताग्रजः
सो मिषिच्यर्षभः पुत्रं भरतं पृथिवीपतिः। कूर्म पु० ४१।३८
ऋषभो मरुदेव्यां च ऋषभाद् भरतोऽभवत्
ऋषभोदात्तश्रीपुत्रे शाल्यग्रामे हरिं गतः।
भरताद् भारतं वर्षं भरतात् सुमतिस्त्वभूत्। अग्नि पु० १०।११-१२
हिमाह्वदक्षिणं वर्षं भरताय न्यवेदयत्।
तस्माद् भारतंवर्षं तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः। वायु० पूर्वार्ध ३३।५२
नाभिर्मरुदेव्यां पुत्रमजनयत् ऋषभनामानं तस्य भरतः पुत्रश्च तावग्रजः तस्य भरतस्य पिता ऋषभः हेमाद्रेर्दक्षिणं वर्षं महद् भारतं नाम शशास। वाराह पु० ७४
हिमाद्रेर्दक्षिणं वर्षं भरताय न्यवेदयत्। लिंग पु० ४७।२३-२४
नाभेः पुत्रश्च ऋषभः ऋषभाद् भरतोऽभवत्
तस्य नाम्ना त्विदं वर्षं भारतं चेति कीर्त्यते। स्कंद पु० माहेश्वर खंडके कौमार खंड ३७।५७
तथा ब्रह्माण्ड पुराण पूर्वार्ध १४।५९-६०,
विष्णु पुराण द्वितीयांश १।२८
महापुराण, जिनसेन भाग १ भूमिका पृ० २८ से उद्धृत।

है।[1] महाभारत (आदि पर्व) में एक क्षपणक (जैन-साधु) तथा शान्ति पर्व में जैन-दर्शन के सप्तभंगी नय के उल्लेख हैं।

ऐतिहासिक प्रमाणों द्वारा भी जैन धर्म की प्राचीनता सिद्ध होती है। ईसा से २४००-२००० वर्ष पूर्व की हड़प्पा में प्राप्त मूर्तियों के अवयव-संस्थानों के अध्ययन के उपरान्त उन्हें जैन तीर्थङ्कर अथवा ख्याति प्राप्त तपोमहिमायुक्त जैन-संतों की प्रतिमाएं होने का अनुमान किया गया है।[२]

दिल्ली के अशोक-स्तंभ (२७५ ई० पू०) में जैन धर्म के णिग्गंठ (निग्रंथ) शब्द का उल्लेख किया गया हैं। इसके अनुसार सम्राट् अशोक ने निग्रंथ-मत के लिये धर्म-महामात्य की नियुक्ति की थी।[3]

भारत-अभियान के समय सिकंदर ने तक्षशिला में दिगंवर जैनोंको देखा था। उनमें से कालोनस अथवा कल्याण नामक जैन महात्मा तो फारस तक उसके साथ गये थे।[४] मेगस्थनीज के विवरण से ज्ञात होता है कि ईसा पू०४ शताब्दी में बड़े-बड़े राजा अपने दूतों द्वारा वनों में निवास करने वाले श्रमण अथवा जैन-मुनियों से अनेक विषयों का ज्ञान प्राप्त करते थे।[५] मथुरा के कंकाली टीले में लगभग ११० प्राचीन जैन-शिला लेख मिले हैं, जिन्हें कुशानकालीन माना गया है।[६]

बौद्ध धर्म के महावग्ग, महपरिनिर्वाणसुत्त आदि ग्रंथों में जैन धर्म संबंधी अनेक बातें मिलती हैं। इससे स्पष्ट होता है कि जैन धर्म. बौद्ध धर्म से पूर्व भारत में प्रचलित था। बुद्ध के छः महान् विरोधी थे—पूर्ण कश्यप, अजितकेश, गोशाल, कात्यायन, निग्रंथ नातपुत्त और संजय। इनमें निग्रंथ नातपुत, अन्तिम जैन तीर्थंकर महावीर का ही नाम है। कल्प सूत्र, उत्तराध्ययन आदि जैन ग्रंथों में महावीर नातिपुत्र ही कहे गये हैं। नातक क्षत्रियों का एक जाति-विभाग है।

उपर्युक्त प्रमाण जैन धर्म को भारत का एक अति प्राचीन धर्म सिद्ध करते हैं। यद्यपि वेदों में ऋषभ का उल्लेख प्राप्त होता है, परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से उनके विषय में कुछ भी कहना कठिन है। वर्धमान महावीर तो गौतम बुद्ध के समकालीन तथा सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक महापुरुष थे। उनसे भी २५० वर्ष पूर्व २३ वें तीर्थंकर

---

(१) संक्षिप्त पद्म पुराण, गीता प्रेस, गोरख पुर पृ, २६०
(२) अनेकान्त, जनवरी १९५७ में टी० एन० रामचंद्रन का लेख-हड़प्पा और जैन धर्म।
(३) जैन शासन, सुमेरु चंद्र दिवाकर, पृ० २९०
(४) वही।
(५) जैन गजट, भाग १९ पृ० २१६
(६) जैन शासन, पृ० २९१

पार्श्व नाथ का अभ्युदय हुआ था।[1] इनकी भी ऐतिहासिकता सर्वमान्य है।[2] इस प्रकार जैन धर्म के अस्तित्व को कम से कम महावीर तथा पार्श्व से पूर्व का तो माना ही जा सकता है।

साम्प्रदायिक विकास

जैन धर्म प्राचीन अवश्य है, परन्तु उसके साम्प्रदायिक विकास का ऐतिहासिक विवरण हमें महावीर के निर्वाण के पश्चात् ही प्राप्त होता है। सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन काल में (महावीर निर्वाण की द्वितीय शताब्दी) मगध में १२ वर्ष का दुर्भिक्ष पड़ा। इससे पीड़ित हो कर मगध के तत्कालीन जैन आचार्य भद्रबाहु अपने अनेक शिष्यों सहित कर्णाट देश चले गये। कहा जाता है कि सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य भी सिंहासन त्यागकर उनके साथ गये थे।[3] मगध के शेष जैन-मतावलम्बियों के नेता स्थूलभद्र हुए।

कालान्तर में, महावीर की वाणी (द्वादशांग) के लुप्त हो जाने के भय से, आचार्य स्थूलभद्र को उन्हें सुव्यवस्थित करने की आवश्यकता जान पड़ी। इस उद्देश्य से उन्होंने महावीर निर्वाण के १६० वर्ष पश्चात् (३८७ ई०पू०) पाटलिपुत्र में श्रमण-संघ की एक सभा बुलाई। इस सभा ने तत्कालीन प्रचलित सिद्धान्तों का संकलन ११ अंगों में किया। शेष १२ वें अंग के १४ भागों में से अन्तिम ४ पूर्व ही नष्ट हो चुके थे, अतः उपलब्ध अंश को संकलित कर लिया गया। इसे पाटलिपुत्र वाचना कहा गया।

पाटलिपुत्र सभा के पर्याप्त समय बाद जब आचार्य भद्रबाहु मगध लौटे तो उन्हें वहाँ धार्मिक बातों में बड़ा परिवर्तन दिखाई दिया। वहाँ का जैन-मंडल दिगंबरी भूषा त्याग कर अब वस्त्र पहनने लगा था। भद्रबाहु को इससे बड़ा क्षोभ हुआ और उनके दिगम्बर सम्प्रदाय ने पाटलिपुत्र-वाचना को मानना अस्वीकार कर दिया। वे पूर्ववत् महावीर के सिद्धान्तों का कठोरता के साथ पालन करते रहे। सम्भवतः इसी समय से जैन धर्म में दिगम्बर तथा श्वेताम्बर सम्प्रदाय उठ खड़े हुए।[4]

कुछ समय पश्चात् श्वेताम्बरों का पूर्वोक्त संकलन भी काल-कवलित हो गया। पुनः महावीर निर्वाण की ६ ठी शताब्दी में आचार्य स्कंदिल की अध्यक्षता में एक श्रमण-सभा मथुरा में हुई। इसमें अवशिष्ट सिद्धान्तों को पुनर्व्यवस्थित किया गया।

---

(१) पार्श्वेश तीर्थ संताने पंचाशद्द्विशताब्दके
तदभ्यंतरवर्त्यायुर्महावीरो ऽत्र जातवान। महापुराण, जिनसेन ७४।२७६

(२) एंशेंट इण्डिया, आर० सी० मजुमदार (बनारस, १९५२) पृ० १७६-१७७

(३) इंसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका, भाग १२ पृ० ८६८-८६९

(४) एंशेंट इण्डिया, आर० सी० मजुमदार, पृ० १७८-१८० तथा हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० २४७-२४८

इसे माथुरी-वाचना कहते हैं। एक अन्य सभा वलभी-काठियावाड़ में ईसा की ६ ठी शताब्दी में आचार्य देवर्धिगणि की अध्यक्षता में हुई, जिसमें अन्तिम बार ११ अंगों का पुनरुद्धार हुआ।

दिगम्बरों की मान्यतानुसार जैन धर्म के समस्त अंग महावीर-निर्वाण की कुछ शताब्दियों के भीतर ही नष्ट हो गये थे, अतः उन्होंने इन अंगों को नहीं माना।

दिगबर-श्वेताम्बर-यापनीय-सम्प्रदाय—

प्राचीन जैन धर्म में सम्प्रदायवाद के दर्शन नहीं होते। वर्धमान महावीर तक तो वह आर्हत धर्म के रूप में अविच्छिन्न रहा, परन्तु उनके निर्वाण के पश्चात् उसमें मुख्यतः दिगम्बर तथा श्वेताम्बर सम्प्रदाय उठ खड़े हुए। इन दोनों सम्प्रदायों के बीच समन्वय तथा सहिष्णुता की प्रवृत्ति को लेकर एक अन्य यापनीय सम्प्रदाय भी कुछ काल तक जैन धर्म के अंतर्गत प्रचलित रहा।

दिगम्बर सम्प्रदाय में नग्न जैन गुरुओं की पूजा होती है तथा उसके साधु भी नग्न ही रहते हैं। श्वेताम्बर सम्प्रदाय के साधु श्वेत वस्त्र-धारी तीर्थङ्करों की पूजा करते तथा स्वयं श्वेत वस्त्र धारण करते हैं। सामान्यतः दोनों ही सम्प्रदाय २४ तीर्थङ्करों को अपना धर्म-प्रवर्तक मानते हैं। दोनों के मंदिरों में उनकी मूर्तियाँ भी स्थापित हैं, परन्तु उनमें वही वस्त्र-धारण करने का भेद है।

चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन-काल में मगध जैन धर्म का मुख्य केन्द्र था। हरिषेण (१५ वीं शताब्दी) के कथा-कोश के अनुसार, इस समय के दुर्भिक्ष में, सिंधु देश के साधु वहाँ के श्रावकों के अनुरोध से अर्ध-फालक (वस्त्र-खंड) धारण करने लगे थे।[1] पश्चात् वलभी के राजा के कथनानुसार उन्होंने पूर्णतः वस्त्र-धारण करना प्रारम्भ कर दिया। देवसेन ने वलभी में ही वि० सं० १३६ में श्वेत पट-संघ की उत्पत्ति बतलाई है। दर्शन सार में इसका उल्लेख है।[2] इस प्रकार दुर्भिक्ष के कारण ही कुछ ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गई कि जैन धर्म दिगम्बर तथा श्वेताम्बर सम्प्रदायों में विभक्त हो गया।

पार्श्वनाथ तथा महावीर के सिद्धान्तों में कुछ अन्तर मिलता है। श्वेताम्बर साहित्य में महावीर का धर्म अचेल (वस्त्र-रहित) तथा पार्श्व का अचेल-सचेल बतलाया गया है। पार्श्व स्वयं तो नग्न ही रहते थे, परन्तु उन्होंने विशेष परिस्थितियों में (यथा-

---

(१) अनेकान्त, वर्ष १४, किरण ११-१२ पृ० ३२०

(२) छत्तीसे वारिस सए विक्कम रायस्स मरणपत्तस्स
सोरट्ठे वलहोए उप्पण्णो सेवडो संघो। दर्शन सार ११
(अनेकान्त, वर्ष १४, किरण ११-१२ पृ० ३२०)

लज्जा, जुगुप्सा तथा शीत के कारण) अपने अनुयायियों को वस्त्रादि धारण करने की अनुमति दे रखी थी। पश्चात् वे अनुयायी श्वेताम्बर कहलाने लगे।[१]

जैन धर्म के अन्तर्गत यापनीय अथवा आपुलीय सम्प्रदाय अपेक्षाकृत अधिक सहिष्णुता तथा समन्वय की भावना लेकर विकसित हुआ। इसका प्राचीनतम उल्लेख दर्शन सार ग्रंथ में उपलब्ध होता है।[२] उसमे वि० सं० २०५ में इसकी उत्पत्ति का संकेत किया गया है। इस प्रकार यापनीय संघ का विकास दिगम्बर-श्वेताम्बर उत्पत्ति के लगभग ६०-७० वर्ष पश्चात् हुआ।

यापनीय मत के सिद्धान्त दिगम्बरों के अधिक निकट हैं। यापनीय मुनि, दिगम्बर मुनियों की भाँति नग्न रहते थे। वे पाणि-तल भोजी थे (हाथ पर लेकर भोजन करते थे) तथा नग्न प्रतिमाओं को पूजते थे।[3] एकरूपता के कारण यापनीयों द्वारा प्रतिष्ठित मूर्तियाँ दिगम्बरों द्वारा भी पूजी जाती थीं। बेलगांव के दोड्डवस्ति के जैन मंदिर में नेमिनाथ की मूर्ति के निकट प्राप्त एक लेख के अनुसार, उस मंदिर का निर्माण वि० सं० १०७० में यापनीय संघ के पारिसैया नामक व्यक्ति के द्वारा हुआ था।[४] इस मंदिर की प्रतिमा आज तक दिगम्बरों द्वारा पूजी जाती है।

अमोघवृत्ति नामक व्याकरण ग्रंथ के रचयिता शाकटायन अथवा पाल्यकीर्ति यापनीय मत को मानते थे। उनके ग्रंथ से विदित होता है कि उस मत में श्वेताम्बरों की भाँति आवश्यक, छेदसूत्र, दशवैकालिक आदि का भी पठन-पाठन होता था।[५] इसके अतिरिक्त वे स्त्री को उसी भव में मोक्ष मिलना तथा केवली द्वारा भोजन करना आदि बातें भी मानते थे।[६] विमलसूरि के पउम चरिय का प्रारम्भ तो दिगम्बरों के अनुरूप है, परन्तु आगे उसमें ऐसी अनेक बातें प्राप्त होती हैं, जो दिगम्बरों और श्वेताम्बरों दोनों के प्रतिकूल पड़ती हैं। जैसे जिन-माता द्वारा देखे जाने वाले स्वप्नों की संख्या दिग० में १६ तथा श्वे० में १४ हैं। पउम चरिय में १५ स्वप्नों का उल्लेख है इसी कारण विमलसूरि को यापनीय-सिद्धान्तों से संबद्ध होने का अनुमान किया जाता है।[७]

---

(१) अनेकान्त, वर्ष १३, किरण १२ पृ० ३२२-३२३

(२) कल्लाणे वरणयरे दुण्णिसए पंचउत्तरे जादे
जावणिय संघ भावो सिरिकलसादो हु सेवडदो। दर्शन सार २९
(जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ५६ से उद्धृत).

(३) जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ५९

(४) वही, पृ० ५७

(५) जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ५९

(६) वही, पृ० १५७

(७) वही, पृ० १०१

संक्षेप में, यापनीय मत की स्थिति दिगम्बर-श्वेता० के मध्य में है। उनका साहित्य स्थूल दृष्टि से दिग० के अधिक निकट होते हुए भी, श्वेताम्बरों की कुछ बातों को निज में समाविष्ट करता चला है। इस प्रकार साम्प्रदायिक कटुता के परिहार का बहुत कुछ प्रयत्न इस मत में किया गया है।

महाकवि स्वयभू तथा उनके पुत्र त्रिभुवन भी यापनीय मतानुयायी थे।[1] उन्होंने पउम चरिउ की रचना गुणभद्र के उत्तर पुराण के आधार पर न करके, विमल सूरि के पउम चरिय के आदर्श पर की है। इनके अतिरिक्त, भगवती आराधना के कर्त्ता शिवार्य, आराधना की विजयोदया टीका के कर्त्ता अपराजित तथा तत्वार्थ सूत्र-कार उमास्वाति भी यापनीय मत के माने जाते हैं।[2]

यापनीय मत की लोक-प्रियता कर्नाटक तथा उसके निकटवर्ती प्रदेशों में अधिक थी। कदंब वंशी राजा श्रीकृष्ण वर्मा (५ वीं शता०) के युवराज देव वर्मा [3], राष्ट्रकूट प्रभूत वर्ष [4] तथा अन्य राजाओं के दान-पत्रों से प्रकट होता है कि उन राजाओं ने यापनीय मत के साधुओं को भूमि-दान दिये थे, परंतु श्वेताम्बर तथा दिगम्बर की अपेक्षा यह मत अधिक व्यापक नहीं हुआ। उसका अन्तिम उल्लेख वि० स० १४५१ के एक शिलालेख में मिलता है, जो कागवाड़े के जैन मंदिर के भौंहिरे में है।[5] प्रतीत होता है कि विद्वान प्रचारकों के अभाव में यह मत शनैः-शनैः क्षीण होता गया, यहाँ तक कि आज उसका एक भी अनुयायी शेष नहीं है।

भारत में जैन धर्म का प्रसार

भारतीय इतिहास का मध्य-काल, वस्तुतः जैन धर्म के विकास का स्वर्ण-युग है। ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों से लेकर लगभग १३ वीं शताब्दी तक देश के विभिन्न भागों में इसका व्यापक प्रसार हुआ। दक्षिण में राजाश्रय के कारण उसे बड़ी सहायता मिली। पश्चिम में भी वही हुआ, परन्तु उत्तर में प्रमुखतः व्यापारी-वर्ग ने ही उसे प्रश्रय दिया।

दक्षिण के अनेक राज-वंश या तो स्वयं जैन मतानुयायी थे, अथवा वे जैन धर्म पर बड़ी श्रद्धा रखते थे। पाण्ड्य राजाओं ने तो उसे राज-धर्म के रूप में स्वीकार कर लिया था। तमिल ग्रन्थ शिलप्पडिकारम् से ज्ञात होता है कि प्राचीन चेर राजा भी

(१) महापुराण, भाग १ पृ० ६
(२) जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ५३४, ७३ तथा ५३३
(३) जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, पृ० ६७४
(४) इण्डियन एंटीक्वेरी, जि० १२ पृ० १३-१६
(५) जैन दर्शन, वर्ष ४ अंक ७ में प्रो० ए० एन० उपाध्ये का लेख-यापनीय संघ

जैन ही थे। चोल राजा भी बीच-बीच में उसका पोषण करते थे, परन्तु अन्त में वे शैव हो गये। ईसा की प्रथम शताब्दी के पल्लव राजा भी जैन थे।[1]

कन्नड़ तथा तमिल भाषाओं का प्रायः समस्त प्राचीन साहित्य जैन विद्वानों द्वारा रचा गया है। कन्नड़ प्रदेश का प्राचीन कदम्ब राज-वंश तो निश्चय ही जैन मतावलम्बी था। दिगम्बरों का आदि सिद्धान्त ग्रन्थ षट्खंडागम इसी प्रदेश के बनवासि नामक स्थान में आचार्य-द्वय पुष्पदंत-भूतबलि द्वारा रचा गया था। १० वीं शताब्दी में अनेक जैन विद्वान् कन्नड़ प्रदेश में हुए, जिनमें पंप, पोन्न तथा रन्न अत्यन्त प्रसिद्ध थे। गंगराज मारिसिंह भी प्रसिद्ध जैन था। ६७६ ई० में उसने सल्लेखना व्रत धारण करते हुए अपने जीवन का अन्त किया था।[2] उसके मन्त्री चामुण्ड राय ने चामुण्ड पुराण नामक जैन ग्रन्थ रचा और उसी ने मैसूर प्रान्त के श्रवण वेलगोल स्थान पर गोम्मटेश्वर (बाहुबलि) की ५७ फीट ऊँची एक विशाल प्रतिमा का निर्माण ६७८-८४ के बीच कराया था। चालुक्य राज तैलप, यद्यपि राजनीतिक दृष्टि से शैव था, तो भी उसे जैन धर्म का अनुयायी माना जाता है।[3]

यद्यपि राष्ट्रकूट स्वयं जैन न थे, तथापि उन्होंने जैन धर्म को विकसित होने के लिए अधिकाधिक सुविधाएँ दीं। सम्राट् अमोघ आदिपुराण-रचयिता जिनसेन का परम भक्त था। गुण भद्र ने उत्तर पुराण की प्रशस्ति में इसका संकेत किया है।[4] शाकटायन ने अपने जैन व्याकरण का नाम—अमोघवृत्ति सम्राट् के नाम पर ही रखा था। धवला तथा जय धवला टीकाएँ भी अमोघ की उपाधि—अतिशय धवल—के उपलक्ष में नामांकित की गईं थीं। इसी प्रकार कृष्ण (द्वितीय), इन्द्र (तृतीय) तथा इन्द्र (चतुर्थ) भी जैन मत के प्रति श्रद्धा रखते थे।[5]

राष्ट्रकूटों के अनेक सामन्त भी जैन धर्मानुयायी थे। सौनदत्ति के रट्ट शासक तथा बनवासि के बंकेय भी जैन थे। बंकेय-पुत्र- लोकादित्य की राजधानी बंकापुर उस समय जैन धर्म का प्रमुख केन्द्र थी। ८९८ ई० में वहां जिनसेन के महापुराण की पूजा हुई थी।[6]

---

(१) अनेकान्त, वर्ष १२, किरण ३ पृ० ७६

(२) दि एज ऑफ इम्पीरियल कन्नौज, भारतीय विद्या भवन, पृ० २८६

(३) वही, पृ० २९०

(४) उत्तर पुराण, भारतीय ज्ञानपीठ, प्रशस्ति ६

(५) जर्नल ऑफ बाम्बे ब्रांच ऑफ रायल एशियाटिक सोसायटी, भाग १० पृ० १८२। आर्कलाजिकल सर्वे रिपोर्ट, १९०५-६ पृ० १२१-१२२ तथा इण्डियन एण्टीक्वेरी भाग २३ पृ० १२४

(६) आदि पुराण—जिनसेन, प्रस्तावना पृ० ४२

देश के पूर्वी प्रदेशों में भी जैन धर्म की व्यापकता के प्रमाण मिलते हैं। मगध तो जैनों का अत्यन्त प्राचीन क्षेत्र रहा है। महावीर आदि तीर्थङ्करों के जन्म उसी प्रदेश में हुए थे। यही कारण है कि उस प्रदेश की भर्त्सना वैदिक आचार्यों द्वारा की गई है। याज्ञवल्क्य ने काशी, कोशल, विदेह तथा मगध-वासियों को भ्रष्ट अथवा भिन्न मतावलम्बी कहा है। उधर की यात्रा का भी वर्जन किया है।[1] स्मृति साहित्य में भी मगध-यात्रा का निषेध किया गया है तथा जाने वाले के लिए उचित प्रायश्चित करने का विधान भी रखा गया है।[2]

वंग प्रदेश में भी जैन संस्कृति के प्राचीन चिह्न मिलते हैं। पुरातन ग्रन्थों में ताम्रलिप्ति (वर्तमान मेदिनीपुर का तामलुक), कोटिवर्ष (दीनाजपुर का वाणगढ़) तथा पुण्ड्रवर्धन (बोगड़ा का महास्थान) में जैन-संघों के उल्लेख प्राप्त होते हैं।[3] बंगाल के सप्तशती ब्राह्मण तथा पुण्ड्र जाति के लोग प्राचीन समय से जैन थे। जैन धर्म के २४ में से २२ तीर्थंकरों ने मगध तथा बंगाल में निर्वाण-लाभ किया।

भारत के पश्चिमी तथा मध्यवर्ती प्रदेशों में भी जैन धर्म अत्यन्त व्यापक हुआ। गुजरात के गुर्जर-सोलंकी नरेश जैन धर्म के अनन्य पोषक रहे हैं। सौराष्ट्र का गिरिनगर एक प्राचीन जैन-तीर्थ रहा है।

राजस्थान में जैन धर्म की प्रसिद्धि के प्रमाण वहाँ के शास्त्र-भंडार तथा प्राचीन मन्दिर हैं। जैसलमेर, आमेर आदि के शास्त्र-भंडारों में सहस्रों जैन ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं। जैनों का सबसे प्राचीन शिलालेख, जो सं० ८४ का है, राजस्थान के वड़ाली नामक स्थान में प्राप्त हुआ है।[4] सांगानेर का संगही मन्दिर अपनी कला के लिए प्रसिद्ध हैं। आबू के जैन मन्दिर तो सबसे बढ़कर हैं।

बुन्देलखण्ड में चन्देल-राजाओं के समय जैनों को पर्याप्त प्रश्रय मिला। खजुराहो के जैन मन्दिरों की ख्याति देश भर में है। वहाँ के एक शिलालेख (९५५ ई०) द्वारा ज्ञात होता है कि चन्देल नरेश धंग द्वारा सम्मानित पाहिल नामक धर्मात्मा ने जिन-मन्दिर के लिए अनेक दान दिए।[5] धारा नरेश मुंज भी जैन विद्वानों का आदर करता था। सुभाषित रत्नसंदोह के कर्त्ता अमित गति (सं० १०५०) उसी के दरबार में थे।

---

(१) दि ग्लोरीज़ ऑफ मगध, जे० एन० समद्दर, पृ० ६

(२) अंग वंग कलिंगेषु सौराष्ट्रे मगधेषु च
तीर्थयात्रा विना गच्छन् पुःसंस्कारमर्हति। (अनेकान्त, वर्ष १२ किरण २ पृ० ४६)

(३) अनेकान्त, वर्ष १२ किरण २ पृ० ४५

(४) अनेकान्त, वर्ष १२ किरण ५ पृ० १५५

(५) एपिग्राफिका इंडिका, १।१३५—३६

कान्यकुब्ज के प्रतिहार राजाओं द्वारा भी जैन-मत को सहायता प्राप्त हुई। वत्सराज ने कन्नौज में एक जैन मन्दिर का निर्माण करवाया, जिसमें वर्धमान की स्वर्ण प्रतिमा स्थापित की गई थी। उसने ग्वालियर, मथुरा आदि स्थानों में भी मन्दिर बनवाये। उसका पुत्र नागभट्ट (द्वितीय) तो स्वयं जैन हो गया था।[1]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि अनुकूल परिस्थितियों के अनुसार जैन धर्म देश के प्रायः समस्त भागों में फैला। समाज में जैन-मत के प्रति आदर तथा श्रद्धा का जो भाव उत्पन्न हुआ, उसका मुख्य कारण जैन मुनियों का सदाचारपूर्ण आदर्श जीवन था। उनसे आकृष्ट होकर एक ओर व्यापारी वर्ग प्रचुर धन-राशि मठों-मन्दिरों के निर्माण में लगा देता था, दूसरी ओर राज-वर्ग जैन-विद्वानों को आश्रय तथा अन्य प्रकार की सहायता देता था।

कवि के काव्य में जैन दर्शन और सिद्धान्त

गत पृष्ठों में भारत में जैन धर्म के प्रसार की जो रूप-रेखा प्रस्तुत की गई है, उससे स्पष्ट होता है कि हमारे कवि को जैन-साहित्य की रचना करने में कितना अनुकूल वातावरण प्राप्त हुआ होगा।

पुष्पदन्त की काव्य-रचना का प्रधान उद्देश्य जिन-भक्ति का प्रचार करना है। इस उद्देश्य की पूर्ति-हेतु कवि ने स्थल-स्थल पर मुख्य कथानक को विराम देकर जैन-सिद्धान्तों की व्याख्या की है। इन सिद्धान्तों का विवेचन इतना विस्तृत है कि वह स्वयं किसी पृथक् ग्रन्थ का विषय बन सकता है। किन्तु प्रस्तुत निबंध की सीमाओं के अन्तर्गत रहते हुए, हम कवि के उन विचारों की सामान्य रूपरेखा उपस्थित करने का प्रयत्न करेंगे।

पदार्थ—संसार में प्रत्येक पदार्थ के दो रूप होते हैं—शाश्वत तथा अशाश्वत। प्रथम के कारण वह नित्य और द्वितीय के कारण वह अनित्य प्रतीत होता है। इसी आधार पर पदार्थ की तीन मूल विशेषताएँ-उत्पाद व्यय ध्रौव्य-मानी गई हैं। इनमें स्थूल दृष्टि से भिन्नता भले ही प्रतीत हो, किन्तु पारस्परिक सहयोग के अनुसार इनमें अन्तर नहीं है।

इस प्रकार पदार्थ एक दूसरे से संबंधित हैं। किसी पदार्थ विशेष की सत्ता तबतक नहीं मानी जा सकती, जब तक कि उसके अन्य संबंधों के ज्ञान का अनुभव न किया जाय। इसीलिये जब मानव का ध्यान किया जाता है, तब मानवेतर सृष्टि का भी स्मरण आ जाता है। पुण्य का विचार करते ही पाप की ओर भी दृष्टि जाना स्वाभाविक है। भगवान महावीर ने इसी कारण कहा है कि जो व्यक्ति किसी वस्तु की समस्त विशेषताएँ जानता है, वह सब वस्तुओं को जानता है। जो सब वस्तुओं को जानता है, उसे केवल एक ही वस्तु का ज्ञान है :—

---

(१) दि एज आफ इम्पीरियल कन्नौज, पृ० २८९

जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ।

जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ। आचारांग सूत्र, १।३।४।१२२

पदार्थों की एक रूपता के कारण प्रत्येक प्राणी अपनी शक्ति के अनुसार उनका अनुभव करता है, अतः एक ही पदार्थ के विषय में भिन्न-भिन्न मत हो जाते हैं। इस स्थिति में सत्य का अन्वेषण कठिन हो जाता है, इसलिये जैन दर्शन ने वास्तविकता को समझने के लिये एक मध्यम-मार्गी सिद्धान्त उपस्थित किया है, जिसके द्वारा किसी भी पदार्थ के विषय में भ्रमात्मक कारणों का परिहार हो जाता है। इसे सप्तभंगी नय अथवा स्याद्वाद कहते हैं। यही जैन-दर्शन का मेरुदण्ड है।

अनिर्वचनीयता स्याद्वाद का एक विकल्प है। वस्तु किसी दृष्टि से एक प्रकार की होती है तथा किसी दृष्टि से दूसरे प्रकार की, अतः उसके शेष अनेक धर्मों को गौण बनाते हुए, गुण विशेष को प्रमुख बना कर प्रतिपादन करना स्याद्वाद है। स्याद्वाद के सात रूप इस प्रकार होते हैं—[1]

१—स्यात् अस्ति—कथंचित् है।

२—स्यान्नास्ति—कथंचित् नहीं है।

३—स्यादस्ति च नास्तिच—कथंचित् है और कथंचित् नहीं है।

४—स्यात् अवक्तव्यम्—कथंचित् वर्णनातीत है।

५—स्यादस्ति च अवक्तव्यम् च—कथंचित् है और अवक्तव्य भी है। (१।४)

६—स्यान्नास्ति च अवक्तव्यम् च—कथंचित् नहीं है और अवक्तव्य भी है। (२।४)

७—स्यादस्ति च नास्ति च अवक्तव्यम् च—कथंचित् है, नहीं भी है और अवक्तव्य भी है। (३।४)

इन सातों भंगों द्वारा प्रत्येक पदार्थ की अनेकान्तिकता सिद्ध होती है। पुष्पदंत ने महापुराण[1] तथा णाय०[2] में इसका उल्लेख किया है।

तत्व मीमांसा

गुण तथा पर्याय से विशिष्ट वस्तु को द्रव्य कहते हैं।[3] गुण दृष्टि से द्रव्य नित्य होता है और पर्याय दृष्टि से अनित्य। विस्तार की दृष्टि से द्रव्य एकदेशव्यापी तथा बहुदेशव्यापी—दो प्रकार के होते हैं। प्रथम में काल की गणना होती है। द्वितीय

---

(१) णय सत्तभंगिविहिरसणियउ। मपु० ३।२।७

(२) चउदह पुव्विल्ल दुवाल संगि
जिण वयण विणिगय सत्तभंगि। णाय० १।१।६

(३) गुण पर्यायवद् द्रव्यम्। तत्वार्थ सूत्र ५।३७

कोटि में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म तथा आकाश द्रव्य हैं। सत्ता तथा प्रदेशों के कारण द्वितीय कोटि के द्रव्य अस्तिकाय कहलाते हैं।[1]

सब द्रव्यों की अवस्था परिवर्तन करने में काल उदासीन निमित्त होता है। जीव आत्मा का पर्याय है। प्रत्यक्ष होने पर भी अनुभव से जाना जा सकता है। शरीर उसका वंदीगृह है.। प्रत्येक जीव अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन आदि गुणों से पूर्ण माना जाता है, परन्तु कर्मों के आवरण के कारण उसके इन गुणों का विकास नहीं हो पाता। कवि ने जीव के संसारी और मुक्त दो भेद बतलाए हैं।[2] जीव का शरीर से संबंध अवश्य है, परन्तु दोनों ही भिन्न हैं। जैसे तेल में चंपक पुष्प को डालने से उसकी सुगंध पृथक् हो जाती है, परन्तु पुष्प बना रहता है, वैसे ही देह से आत्मा भिन्न हो जाता है।[3]

रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श गुणों से युक्त चेतना-रहित मूर्त पदार्थ पुद्गल कहलाता है। इसके अणु और स्कन्ध दो भेद होते हैं। अस्तिकाय द्रव्यों को अवकाश देने वाला पदार्थ आकाश है। जीव तथा पुद्गल की गति में सहायता देने वाला द्रव्य धर्म है। यह जीव को गति प्रदान करने में स्वयं असमर्थ है, केवल उसको सहायता देता है। जिस द्रव्य में स्थिति हेतुत्व गुण हो उसे अधर्म कहते हैं। इसके अभाव में जीवों में निरंतर गति बनी रहती है।

कर्म सिद्धान्त

मनुष्य के आत्म-विकास में जिस शक्ति के कारण बाधा उपस्थित होती है, उसे कर्म कहते हैं। प्रत्येक आत्मा अनंत ज्ञान, सुख, वीर्यादि शक्तियों का आधार है, परन्तु अनादि काल से उसके साथ कर्म-मल लिप्त रहता है। इसी कारण उसकी स्वाभाविक शक्तियां विकसित नहीं हो पातीं। दूसरे शब्दों में पुद्गल का परमाणु-पुंज आकर्षित होकर आत्मा के साथ मिल जाता है, यही कर्म है।

कर्म का आत्मा से सम्पर्क होने से जो अवस्था उत्पन्न होती है, वह बंध है। राग-द्वेष से युक्त मनुष्य का आत्मा पुद्गल-पुंज को अपनी ओर आकर्षित करता है। कवि का कथन है कि शंभु तथा ब्रह्मा भी कर्म से निम्न रहते हैं। संसार में कर्म विपाक अति बलवान है। जिस प्रकार चुम्बक लोह को अपनी

---

(१) णाय० १।१२।२ तथा मपु० ८६।७।१-२ द्रष्टव्य—आउट लाइन आफ जैन फिलासफी, मोहन लाल मेहता, (जैन मिशन सोसायटी, बंगलोर, १९५४) पृ० २७-२८

(२) सभवाभव जीव दुभेय होंति। मपु० २०।९।३

(३) चम्पयवासु वि लग्गउ तेल्लहो, एम गंधु जिह भिण्णउ फुल्लहो।
तिह देहहो जीवहो भिण्णत्तणु। जस० ३।२१।१५-१६

ओर खींचता है, उसी प्रकार कर्म-युक्त जीव अनेक पर्यायों की ओर जाते हैं।[१] पंचेन्द्रिय सुखों के कारण असंख्य कर्मों का आश्रव होता है।[२]

कर्मों के मुख्य आठ भेद होते हैं—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अंतराय, वेदनीय, आयु, नाम तथा गोत्र। कवि ने इनके भी अनेक विभेदों का वर्णन किया है।[३] आत्मा का बंध करने वाले इन कर्मों के आश्रव को अवरुद्ध करने के हेतु साधक को संवर की आवश्यकता होती है। कवि कहता है कि जो संवर का आचरण नहीं करते, वे पापों से भर जाते हैं और उनके ऊपर वज्र के समान दुःखों का असह्य अशनिपात होता है।[४] संवर द्वारा आश्रव के समस्त द्वारों का निरोध होकर, नवीन कर्मों का प्रवेश रुक जाता है और पुराने कर्म क्रमशः क्षीण होते चले जाते हैं, यही निर्जरा है।[५] कर्मों का पूर्ण क्षय ही मोक्ष है। मोहनीय कर्मों के नाश होने पर केवल ज्ञान उत्पन्न होता है। कवि का कथन है कि तप की ज्वाला से जीव कंचन के समान उज्ज्वल हो जाता है और केवल ज्ञान की स्थिति में पहुँच कर उसके समस्त मल छूट जाते हैं।[६]

जैन-दर्शन के अनुसार आत्म-विकास की १४ अवस्थाएं होती हैं, जिनके द्वारा आत्मा शनैः-शनैः कर्म-बंधन से मुक्त होता हुआ, अंत में पूर्ण निर्मल हो जाता है। इन्हें गुणस्थान कहते हैं। इनकी प्रत्येक अवस्था में पाप-वृत्ति का क्षय तथा पुण्य-वृत्ति का उत्तरोत्तर विकास होता जाता है। कवि ने इनका सविस्तार वर्णन किया है।[७]

आचार मीमांसा

जैन-मत में आचार को अत्यधिक महत्व दिया गया है। जैनाचार्य जहाँ एक ओर मानव जीवन की नश्वरता, संसार की क्षणभंगुरता तथा जीव द्वारा किये गये पापों का फल भोगने के लिये नरक आदि की विभीषिका का उल्लेख करते हैं, वहाँ वे मनुष्यों को इनके कष्टों से बचने के लिये धर्म-सम्मत सदाचार के पथ पर चलने का उपदेश भी देते हैं।

---

(१) संभुवि वंभुवि कम्मायत्तउ, कम्म विवाउ लोइ वलवंतउ।
लोहु व कड्ढएण कढ्ढिज्जइ, जीउ सकम्मि चउगइ णिज्जइ। जस० ३।२२।११-१२

(२) पंचिंदिय सुहि मणु चोयंतहु, तहु आसवइ कम्मु अतवंतहु। मपु० ७।१३।३

(३) मपु० ७।१३ तथा ११।३०-३२

(४) मपु० ७।१४।१-२

(५) मपु० ७।१४।१२-१३

(६) ढोइय णीसासहिं मुणि तणु मूसहिं खर तव जलणें तत्तउ।
जीविउ हेमुज्जलु थक्कइ केवलु वहु कम्ममलें चत्तउ॥ मपु० ७।१५।११-१२

(७) मपु० ११।२६।६-१५

जीव को मोक्ष प्राप्त करने के हेतु तीन मुख्य साधनों का आश्रय लेना आवश्यक है। ये हैं—सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र। कवि ने अनेक स्थलों पर इनका उल्लेख किया है।[1] जिस गुण के विकास से सत्य की प्रतीति होती है, वह सम्यक् दर्शन हैं। नय तथा प्रमाण से जीवादि तत्वों का बोध सम्यक् ज्ञान है, एवं सम्यक् ज्ञान पूर्वक कापायिक भाव या राग-द्वेष की निवृत्ति से जो स्वरूप प्राप्त होता है, वही सम्यक् चारित्र है। इनमें से सम्यक् दर्शन को उत्कृष्ट मान कर उसे कर्णधार कहा गया है।[2] सम्यग्दर्शन संपन्न व्यक्ति चांडाल-पुत्र होने पर भी देव तुल्य हैं।[3] कवि ने गुरु-सेवा तथा शास्त्राभ्यास द्वारा अन्य मतों की मूर्खता का बोध करके सम्यग्दर्शन की दृढ़ता प्राप्त करने का उल्लेख किया है।[4] जैसे सैन्य-विहीन नृप के रथ पर लगी हुई ध्वजा निरर्थक होती है, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन के बिना दुर्धर तपश्चरण भी निरर्थक होता है।[5]

सम्यग्दर्शन तथा सम्यक् ज्ञान को प्राप्त करने के पश्चात् ही सम्यक् चारित्र की आराधना संभव है। इसके सकल-विकल दो भेद हैं। गृह-त्यागी मुनियों का चारित्र सकल है और परिग्रही गृहस्थों का विकल। सकल चारित्रानुगामी मुनि पंच महाव्रत (अहिंसा, अस्तेय, सत्य, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह) का पालन करते हैं तथा विकल चारित्र वाले गृहस्थ अणुव्रत, गुणव्रत तथा शिक्षाव्रत का। कवि ने इनका अनेक स्थलों पर विवेचन किया है।[6]

जैन-धर्म में तपस्वी मुनि के लिये अत्यन्त कठोर साधनाओं का विधान है। कवि उनका विवेचन करता हुआ कहता है कि साधु ज्ञान-अंकुश द्वारा कुपथगामी होने से बचता है। मन को वश में करके पाप का नाश कर सकता है।

उसका कर्त्तव्य है कि एक-दो ग्रास आहार लेकर, चांद्रायण व्रत-साधना करते हुए विचरण करे। शून्य आवास, श्मशान आदि ही उसके आगार हैं। मशक-दंशन, क्षुधा, तृष्णा, शोक, अप्रिय वचन, शीत-उष्ण आदि की ओर ध्यान न देते हुए वह सत्पथ पर अग्रसर हो। उसे तृण-कंचन समवत् समझना चाहिए। इस प्रकार उसे अपने संचित कर्मों को क्षीण करना चाहिए।[7]

---

(१) मपु० १८।१०।३, ८१।७।६, ९२।१७।१०, णाय० १।१२।४, जस० ३।१७।३
(२) समीचीन धर्म-शास्त्र, समन्त भद्र (संपादक-जुगुल किशोर मुख्तार) १।३१
(३) वही, १।२८
(४) जस० ४।८।९-१६
(५) जस० ४।९।१-२
(६) मपु० १८।७, ६।४।७, णाय० १।१२।३
(७) मपु० ७।१६

कवि ने अपनी रचनाओं में मुनियों के व्यक्तित्व के, बडी निष्ठा के साथ, चित्रण किये हैं।[1]

विकल अथवा सागार धर्म अपेक्षाकृत सरल है। कवि ने अणुव्रत के अतिरिक्त रात्रि-भोजन, मधु, मदिरा, मांस तथा पंचुम्बर फलों (वट, पीपल, पकॅर, उदुम्बर, काकोदुम्बर) का त्याग भी आवश्यक बतलाया है। श्रावक (गृहस्थ) को दश-दिशा प्रमाण, भोगोपभोग की संख्या का निश्चय, कुशास्त्र-श्रवण-वर्जन, वर्षा-काल में गमन-निषेध तथा जीव-घातक आजीविका का त्याग करना चाहिए। उसे अष्टमी और चतुर्दशी के दिन स्त्री से पृथक् हो कर उपवास पूर्वक एकान्तवास करना तथा नीरस आहार लेना चाहिए।[2] अन्यत्र कवि कहता है कि श्रावक को कुगुरु, कुदेव एव कुधर्म से विमुख होकर अन्त समय में सल्लेखना द्वारा शरीर त्याग करना चाहिए।[3] श्रावक व्रत का पालन करके कोई भी मनुष्य अच्युत स्वर्ग प्राप्त कर सकता है[4]।

नश्वर जगत्

जैन धर्म ने मानव को मोह से दूर रखने के हेतु, उसे शरीर तथा संसार की नश्वरता का बोध कराने का बारम्बार प्रयास किया है। हमारा कवि मानव-शरीर को दुःख की गठरी कहता है। उसका कथन है कि लावण्य क्षण में विनष्ट हो जाता है। यौवन करतल-जल की भांति गमनशील है। नारी का सौंदर्य भी अस्थायी है। मृत होने पर उसे तृण पर ही रखा जाता हैं।[5] एक स्थान पर वृद्धावस्था का आलंकारिक वर्णन करते हुए कवि कहता है कि शुभ्र केश मानो दुष्ट काल-अग्नि द्वारा जलाये हुए हुए तारुण्य-वन की भस्म हैं।[6]

संसार के विषय में कवि कहता है कि यहां परमाणु मात्र भी सुख नहीं है।[7] यहां की सभी सुखद दिखाई देने वाली वस्तुएँ वस्तुतः दुःख देने वाली हैं।[8] समस्त संसार नाशवान ही दिखाई देता है।[9] अतः इसे तृणवत् ही मानना चाहिए।[10]

---

(१) जस० ३।१७।५ १६ तथा णाय० ६।४।४-६

(२) जस० ३।३०-३१

(३) अन्तकालि सल्लेहणमरणि, अवसु मरेव्वउ णिज्जियकरणि। जस० ३।३१।१२

(४ सावयवयहलेण सोलहमउ सग्गु लहइ माणुसु दुहविरमउ। मपु० ११।१०।४

(५) मपु ८।१।१०-११

(६) तारुण्णि रण्णि दड्ढं खलेण, उग्गि लग्गि कालाणलेण। जस० १।२८।१

(७) परमाणुय परमाणु ण पेक्खमि, संसारियहु सोक्खुकि अक्खमि। मपु० ७।११।१०

(८) मपु० ६।१५।४

(९) णासणसीलु सव्वु जगु पेच्छिवि। मपु० ६२।७।४

(१०) तणसमाणु मेइणियलु मण्णिवि। मपु० १००।१।६

जिन-भक्ति

जिन-भक्ति जैन धर्म का महत्वपूर्ण अङ्ग है। वीतरागी सिद्ध महात्माओं के गुणों पर श्रद्धापूर्वक अनुराग रखते हुए, आत्म-विकास करना ही जिन-भक्ति है। इन सिद्धात्माओं को तीर्थङ्कर, आप्त, स्वयंभू, अर्हत, जिन आदि अनेक नामों से सम्बोधित किया जाता है। साधना द्वारा कर्म-मल को नष्ट कर डालने के कारण उन्हें जिन कहा जाता है।

जिन-भक्ति से शुद्धात्मवृत्ति का उदय होता है। परन्तु वीतरागी जिनदेव को उनके प्रति की गई स्तुति, पूजा, वन्दना आदि से कोई प्रयोजन नहीं होता, क्योंकि राग का लेशमात्र भी उनमें नहीं है। न तो पूजादि से उनमें किसी नवीन हर्ष का संचार होता है और न निन्दा से वे अप्रसन्न ही होते हैं। फिर भी उनके पुण्य-गुणों का स्मरण चित्त को पाप-मल से अवश्य पवित्र करता है।[1]

आत्मोन्नति ही जिन-भक्ति का प्रधान उद्देश्य है। समन्तभद्र का कथन है कि स्तुति के समय तथा स्थान पर स्तुत्य चाहे उपस्थित हो अथवा न हो एवं फल-प्राप्ति भी चाहे सीधी उसके द्वारा होती हो अथवा न होती हो, परन्तु आत्म-साधना में तत्पर साधु स्तोता की भक्ति कुशल परिणाम का कारण अवश्य होती है।[2] पुष्पदंत ने भी जिन को स्तुति-निन्दा से दूर रहने वाला कहा है।[3]

स्तुति द्वारा गुणों का स्मरण किया जाता है। जिन के गुण स्मरण से पाप स्वयं दूर भागते हैं तथा उसके परिणाम-स्वरूप आत्मा में पवित्रता का संचार होता है। निरन्तर इसी भक्ति-साधना का अवलम्बन करता हुआ, भक्त एक दिन स्वयं उस पद को प्राप्त कर लेता है। यद्यपि इस कार्य में जिन की कोई इच्छा नहीं होती, परन्तु निमित्त कारण होने से ही उन्हें प्रदाता कहा जाता है।

जिन—जैन धर्म के पूज्य पुरुषों में जिन का सर्वोच्च स्थान माना जाता है। यद्यपि वेद-उपनिषदों के समान, उन्हें जगत्-सृष्टा के रूप में नहीं माना जाता, परन्तु कठोर साधना द्वारा कर्म-मल तथा कषायों को नष्ट करके अनन्त शक्ति, अनन्त ज्ञान

---

(१) न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे न निंदया नाथ विवान्तवैरे।
तथा पि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः पुनाति चित्तं दुरितांजनेभ्यः।
स्वयंभू स्तोत्र ५७

(२) स्तुतिः स्तोतुः साधोः कुशलपरिणामाय स तदा
भवेन्मा वा स्तुत्यः फलमपि ततस्तस्य च सतः।
किमेवं स्वाधीन्याज्जगति सुलभे श्रायसपथे
स्तुयान्न त्वा विद्वान्सततमभिपूज्यं नमिजिनम्॥, स्वयंभू स्तोत्र, ११६

(३) नहि संता संसारयं। मपु० ४०।१।१२

तथा अनन्त शान्ति से पूर्ण आत्मत्व को प्राप्त करने के कारण, जैन-भक्तों ने जिन के लिए उन सभी विशेषणों का प्रयोग किया है, जो वेद-पुराणादि में सामान्यतः ईश्वर के लिए प्रयुक्त होते हैं।

जिन उच्च राज-कुल (इक्ष्वाकु, हरिवंश आदि) में जन्म लेते हैं। तीर्थङ्कर होने के तीसरे पूर्व भव में वे तीर्थङ्कर नाम-कर्म प्राप्त करके, दूसरे भव में देव-आयु पूर्ण करते हैं, तत्पश्चात् मनुष्य-जन्म लेते हैं। इसी भव में वे तीर्थङ्कर पद-लाभ करते हैं। अपने जीवन के प्रारम्भिक दिनों में राज-भोग करते हैं, परन्तु संसार की नश्वरता का बोध होते ही क्षण मात्र में समस्त सुखों को त्याग कर मुनि-दीक्षा ले लेते हैं। कठोर तप-साधना के उपरान्त उन्हें केवल ज्ञान की उपलब्धि होती है। इस अवसर पर इन्द्रादि देवता उनकी स्तुति करते हैं तथा उनका पवित्र उपदेश श्रवण करने के लिये समवसरण का निर्माण करते हैं। इसी समय उनमें अष्ट-प्रातिहार्य[1] की विभूति उदय होती है। अन्त में अपनी आयु पूर्ण करके वे निर्वाण प्राप्त करते हैं।

पुष्पदंत का काव्य जिनेन्द्र-भक्ति से पूर्ण प्लावित है। उसमें भक्ति के प्रायः सभी अंगों का स्वरूप प्राप्त होता है। कवि ने ऋषभ-जन्म के अवसर पर इन्द्रादि देवों द्वारा की गई पूजा का अत्यन्त भव्य वर्णन किया है।[2] उनके समस्त काव्य में स्तुतियों की संख्या बहुत अधिक है। इनमें जिन के अनेक गुणों का स्मरण किया गया है। यद्यपि गुण-कीर्तन में प्रयुक्त हुए विशेषणों की संख्या अत्यधिक है, तो भी निम्नलिखित वर्गों के अंतर्गत उनका स्वरूप देखा जा सकता है—

कर्म-कलंक तथा दोषों पर विजय के सूचक—

जरा-मरण नष्ट करने वाले (मपु० २१।१४-५)
कषाय-रोग-शोक-वर्जन करने वाले (मपु० ३८।१६।२)
जिन-दृष्टि में नारी-रूप नहीं रमता (मपु०४६।१।६) आदि

लोक-हित-सूचक—

अनिमित्त जग-मित्र (मपु० ४२।१०।८)
शत कल्याण-आलय (मपु० ५३।१।३)
सर्व भूत-पालक (मपु० ४५।१।६) आदि

ज्ञानादि गुणैश्वर्य व्यंजक—

शुभ शील-गुण-निवास (मपु० १।१।५)
मोक्ष-मार्ग-प्रदायक (मपु० ३८।१६।८) आदि

---

(१) आठ प्रातिहार्य ये हैं—भामण्डल, सिंहासन, अशोकवृक्ष, पुष्प-वृष्टि, मनोहर दिव्य-ध्वनि, श्वेत छत्र, चमर तथा दुंदुभि-निनाद, स्तुति विद्या, ६

(२) मपु० ३।१४।१-१०

अन्य गुणों के परिचायक--

अहिंसा के निवास तथा स्वभाव से सौम्य (मपु० २७।१४।४)
चिंतामणि-कल्पवृक्ष के समान (मपु० १६।८।४)
कुनय को विनष्ट करने वाले (मपु० ५३।१।४) आदि

अपने आराध्य की सर्वश्रेष्ठता का भाव सदैव ध्यान में रखना, सच्ची भक्ति की आवश्यक भूमिका है। कवि ने जिन को भी सभी दृष्टियों से श्रेष्ठ माना है। उसका कथन है कि गगन-मण्डल तथा जिन के गुणों का कोई पार नहीं है।[1] जहाँ शेष अपनी सहस्र जिह्वाओं से गुणगान करते हैं, वहाँ कवि अपनी एक जिह्वा से उन्हीं गुणों का वर्णन कैसे कर सकता है ?[2] यह प्रयत्न तो जलनिधि को चुल्लू द्वारा नापने जैसा है।[3] कवि ने ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि देवताओं से जिन की श्रेष्ठता प्रतिपादित की है।[4] जिस प्रकार तुलसी विनय पत्रिका में कहते हैं कि—'राम सौं बड़ो है कौन मों सों कौन छोटो'—उसी प्रकार पुष्पदंत भी जिन से बड़ा किसी को भी नहीं मानते।[5]

अपनी आन्तरिक चित्तवृत्ति को जिन के प्रति लगाये रहने के उद्देश्य से, कवि मन को उद्‌बोधित करता है।[6] साथ ही वह शरीर के समस्त अंगों की सार्थकता तभी मानता है, जब वे श्रद्धा के साथ जिन के प्रति लगे रहें। वह कहता है कि नेत्र वही हैं जो जिन का दर्शन करें, कण्ठ वही है जो केवल जिन-स्तुति गावे। वे कान धन्य हैं, जो केवल जिन-वाणी सुनते हैं तथा कर वही हैं जो जिन-सेवा करते हैं। इसी प्रसंग में आगे कवि कहता है कि ज्ञानी वही है जो जिन का ही ध्यान करे, सुकवि वही है जो जिन-स्तुति करे, काव्य वही है जो जिन के विषय में हो, जिह्वा वही है जो अहर्निश जिन का नाम ले, मन वही है जो जिन-चरणों में लीन रहे, धन वही है जो जिन की पूजा में व्यय हो तथा शीश वही है जो जिन के सम्मुख प्रणम्य हो।[7] पवित्र जीवन का इससे बढ़कर आदर्श और क्या हो सकता है ?

जगत् के पंचभूतों तथा चराचर प्राणियों के ऊपर जिन का आधिपत्य घोषित करते हुए कवि कहता है कि जिन जहाँ-जहाँ विचरण करते हैं, वहाँ वहाँ दुग्ध-

---

(१) गयणयलहु अवरवि तुह गुणाहं पारु कोवि कि पेक्खइ। मपु० ४१।१४।११
(२) मपु० ४१।१।१७-१८
(३) मपु० ३।१८।१२-१३
(४) मपु० १०।५।१-१७
(५) मपु० ४।२
(६) मपु० ७।१८।१७
(७) मपु० १०।७।१२-१८

तरंगिणी प्रवाहित होने लगती है तथा मार्ग के कंटक, तृण, पत्थर, धूलादि बाधाएँ स्वमेव नष्ट हो जाती हैं।[1] जिन का नाम स्मरण करने से सर्प भी नहीं काटते, मत्त गज नष्ट हो जाते हैं, सिंह ठहर जाते हैं पद-शृंखलाएँ टूट जाती हैं, अग्नि नहीं जलाती तथा अजेय सेना भी प्रभाव-हीन हो जाती है।[2] जिन के दर्शनमात्र से संचित मल नष्ट हो जाते हैं, कुदृष्टि के स्थान पर सन्मति उत्पन्न होती है, उपशम सम्पन्न होता है एवं परापर भेद समाप्त हो जाता है।[3]

कवि ने जिन भक्ति द्वारा पशुओं को भी सुरेन्द्र-पद सुलभ होना कहा है। परन्तु उनसे विमुख होने पर जीव आवागमन के बंधन में पड़ा रहता है और दुखी होता है।[4] अतः समस्त दुःखों के शमन-हेतु जिन-शासन में भक्ति करना आवश्यक है।[5]

कवि ने जिन के स्वरूप का अत्यंत उदात्त वर्णन किया है। न उनके शरीर पर आभूषण हैं, न समीप नारी है। न कर में चाप है, न चक्र है, न खड्ग है, न शूल है, न कृपाण है। आप अहिंसा के निवास तथा स्वभाव से सौम्य हैं। उनमें न दंभ है, न डंभ है, न वित्त है और न लोभ ही है। आप की दृष्टि में राजा-रंक सब समान हैं। आपको न छत्र चाहिए न सिंहासन। आप सदैव गर्व-रहित और उदासीन हैं।[6]

कवि के ग्रंथों के प्रायः सभी सत्पात्र जिन भक्त हैं अथवा अपने जीवन के किसी न किसी अवसर पर जिन-भक्ति का प्रदर्शन अवश्य करते हैं। राम, सुग्रीव, हनुमान आदि सभी जिन-पूजक हैं।[7]

भरत मंत्री के आवास पर रहते हुए काव्य-रचना करने वाले कवि पुष्पदंत का वास्तविक जीवन भले ही तुलसी, सूर, मीरा आदि भक्तों के सदृश न हो, परन्तु अपने आराध्य जिन, तथा उनके धर्म के प्रति उनमें अटूट श्रद्धा तथा विश्वास है, इससे इनकार नहीं किया जा सकता। कवि स्वयं धर्म-प्राण है और उसके कथन का एक-एक शब्द सद्धर्म का संदेश देता है। कहीं-कहीं हमारा भावुक कवि भक्ति-सरिता में

---

(१) मपु० १०।२।१६-१७

(२) मपु० १६।८।७-१२ तथा ३३।११

(३) मपु० ३२।१५।७-१०

(४ मपु ३७।१२।७-१० तथा १०।१।६

(५) मपु० ७।८।२

(६) मपु ६७।२४।१-६

(७) मपु० ७०।१३।७-८, ७६।१०।१२,७३।८

अवगाहन करते-करते इतना विभोर हो जाता है कि संसार के प्रपंच को त्याग कर ऐसे स्थान पर जाने की कामना करता है, जहाँ न नींद हो, न भूख हो, न भोग-रति हो, न शरीर सुख हो और न नारी दर्शन हो।[1] कवि, निर्वाण-भूमि-वर रमणी-शिर-चूड़ामणि अर्थात् जिन की भक्ति का अभिलाषी है।[2] क्योंकि उसका विश्वास है कि जिन-गुण-चिंतन से चाण्डाल भी मुक्ति पा जाते हैं।[3] कवि अपनी जीवन-लीला की समाप्ति ऋषि-चरण-मूल सल्लेखनाव्रत के पवित्र विधान का आचरण करते हुए समाधि-मरण द्वारा करना चाहता है। इस प्रकार कवि के जीवन तथा मृत्यु के दोनों छोर धर्म-सूत्र से बंधे हुए हैं।

अहिंसा

अहिंसा जैन धर्म का प्राण है। जैनचार्यों ने पूर्ण अहिंसक पुरुष को परब्रह्म परमात्मा की संज्ञा दी है।[4] कषाय तथा प्रमाद के निमित्त से किसी के प्राणों का घात करना हिंसा है।[5] परन्तु मन में किसी के घात का विचारमात्र आना भी जैन-मत में हिंसा माना जाता है। इसीलिए हिंसा के भाव तथा द्रव्य-दो भेद किये गये हैं। पुष्पदंत के जसहर चरिउ में महाराज यशोधर द्वारा जीवित कुक्कुट के स्थान पर आटे के कुक्कुट की बलि देने के कारण भाव-हिंसा उत्पन्न हुई, अतः मरणोपरान्त उन्हें नरक-यातना भोगनी पड़ी।[6]

जैन धर्म संसार की प्रत्येक वस्तु में जीव-स्थिति मानता है। अहिंसा को परम धर्म मानते हुये उसमें मानव-मात्र को अत्यन्त सावधानी से रहने के विधान प्रस्तुत किये गये हैं। प्रत्येक श्रावक अथवा गृहस्थ के लिये अणुव्रत[7] का जो विधान है, उनमें अहिंसा को सर्वप्रथम स्थान दिया गया है। अहिंसक रहने के लिये यत्न-पूर्वक मद्य, मांस, मधु आदि का त्याग आवश्यक बतलाया गया है। इसके अतिरिक्त मूलक (मूली आदि), आर्द्रशृंग (अदरक), नवनीत, नीम के पुष्प तथा केतकी पुष्प भी त्याज्य माने गये हैं। क्योंकि इनमें भी जीव रहते हैं।[8]

मुनि-दीक्षा प्राप्त व्यक्तियों के लिये तो अहिंसा का सर्वदेशीय पालन करना आवश्यक है। उनके पंच महाव्रतों में भी अहिंसा सर्वप्रथम है। जैन-मुनि ऐसा नहीं

---

(१) जहिं णिद्द ण भुक्ख ण भोयरइ देहु ण पंचिंदियहं सुहु।
जहिं कहिं मि ण दीसइ णारिमुहुं तहो देसहो लहु लेहि महु। णाय० ११।१०-११

(२) मपु० ४३।११।११-१३ (३) मपु० ५३।१।६

(४) अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं। स्वयंभू स्तोत्र, ११९

(५) पुरुषार्थ सिद्धोपाय अमृत चन्द्र, ४३ तथा तत्वार्थ सूत्र ७।१३

(६) कारिम कुक्कुडेण णिहएण वि तुहुं भमिओ सि दुब्भवो। जस० ४।१८।१

(७) अणुव्रत ५ हैं—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह।

(८) समीचीन धर्मशास्त्र, ४।१६

कटवाते वरन् स्वयं ही उनका लुंचन करते हैं। वे दंशन करते हुए मशक को अथवा शरीर से लिपटे हुए सर्प को भी नहीं हटाते।[1] निशाभोजन तो मुनि तथा गृहस्थ दोनों के लिये वर्जित है।

हमारे कवि ने अहिंसा में ही धर्म की स्थिति मानी है।[2] उसने हिंसा को सर्वथा त्याज्य बतलाया है। कवि की जसहर चरिउ रचना का एक उद्देश्य हिंसा के ऊपर अहिंसा की विजय का निरूपण करना भी है। इसके भैरवानंद कापालिक, देवी कात्यायिनी आदि पात्र अन्त में जैन-मत में दीक्षित होकर अहिंसा व्रत धारण करते हुए चित्रित किये गये हैं। मपु० में भी २२ वें तीर्थंकर नेमि अपने विवाह के भोज के लिये अनेक पशुओं को वलि दिये जाने का समाचार सुनकर इतने विह्वल हो जाते हैं कि स्वयं विवाह न करके वैराग्य धारण कर लेते हैं।[3]

कवि ने हिंसा के खंडन के लिये अपना लक्ष्य मुख्यतः उन ब्राह्मणों को बनाया है, जो यज्ञों में पशु-वलि करते हैं तथा मांस-भक्षण करते हैं। उसका कथन है कि जड़ जीव पशु-वध को धर्म मानकर कर चण्डिका को मांस का भोग लगाते हैं। कौल मदिरा पीते हैं। परन्तु पशु वलि करने वाले को यमराज कभी क्षमा नहीं करते। वधिक भावी जन्म में स्वयं पशु होता है तथा दूसरों द्वारा वह भी उसी भांति मारा जाता है। पूर्वकृत कर्म आगे-आगे दौड़ते हैं। जो जैसा करता है, वैसा पाता है। यदि पशु का मांस खाने अथवा वारुणी-पान करने से स्वर्ग तथा मोक्ष मिलता है, तो फिर धर्म क्या है? इससे अच्छा है कि वधिक की पूजा करनी चाहिए।[4] गाय हरिण आदि निरीह पशुओं का ये ब्राह्मण वध कराते हैं तथा राजा की राज-वृत्ति का प्रदर्शन करते हैं। पितृ-पक्ष पर द्विज पंडित मांस खाते हैं। इस प्रकार हिंसा-दंभ तो इनसे पूर्णतः लिपटे हैं, तब देह को जल से धोने से क्या होगा? कहीं अंगार दूध से धोने से श्वेत हो सकता है?[5]

जसहर चरिउ में राजमाता अपने पुत्र यशोधर से कहती है कि जगत् में धर्म का मूल वेद-मार्ग है। राजाओं को उसी का अनुसरण करना चाहिए। वेद में देव-तुष्टि के लिये पशु-वलि करना उचित माना गया है और इसके करने वाले स्वर्ग के अधिकारी होते हैं। इसके उत्तर में यशोधर कहता है कि यह सर्वथा अनुचित है क्योंकि हिंसा-मार्ग के पथिक महापापी होते हैं।[6]

---

(१) मपु० ३८।६।१-११

(२) जहिंअहिंसि तहिं धम्म णिरुत्तउ। म पु० २८।२१।८

(३) मपु० ८८।२४, ८९।१

(४) मपु० ७।७।६-१२

(५) मपु० ७।८।९-१३

(६) जस० २।१५-१६

कवि कहता है कि चाहे कोई पुण्य-अर्जन-हेतु मंत्र-पूजित खड्ग से पशु-बलि करे, यज्ञ करे अथवा अनेक दुर्धर तपों का आचरण करे, परन्तु जीव-दया के बिना सब निष्फल है। कोटि शास्त्रों का सार यही है कि जो पाप है, वह हिंसा है, जो धर्म है वह अहिंसा है।[1] शान्ति के नाम पर संसार में कितनी हिंसा होती है। मूर्ख पत्थर की नौका द्वारा सरिता पार करना चाहते हैं।[2]

कवि ने प्राणि-वध को आत्म-वध के समान माना है।[3] इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि केवल अपने के आग्रह से ही नहीं, वरन् आत्मोन्नति तथा मानवता के विचार से अहिंसा को श्रेष्ठ मानता है। उस पर कवि का अखंड विश्वास है। जिन तथा मुनियों के स्तवन में कवि ने उनके अहिंसा-गुण का बारम्बार स्मरण किया है। उन्हें साक्षात् अहिंसा की मूर्ति अंकित किया है। यही नहीं कवि ने हाथी जैसे पशु को अहिंसा व्रत का पालन करते हुए चित्रित किया है।[4] उसने लंका में भी अहिंसा का प्रभाव दिखलाया है।[5]

जैन धर्म में अहिंसा के पालन करने का जितना कठोर विधान है, उतना अन्य धर्मों में कठिनता से प्राप्त होगा। संभवतः यही देखकर डॉ० राधाकृष्णन ने लिखा है कि समस्त भारतीय धर्मों में जैन धर्म ही ऐसा है, जिसमें अहिंसा का अत्यन्त दृढ़ता के साथ पालन करने का उपदेश दिया गया है।[6]

परमत-खंडन

कवि ने अपने काव्य में जहाँ जैन धर्म के सिद्धान्तों का दृढ़ता के साथ प्रतिपादन किया है, वहाँ उसने अन्य मतों का खंडन भी किया है। इन मतों में प्रमुख हैं—वैदिक, सांख्य, चार्वाक, बौद्ध तथा कौल। कवि ने इन मतों का संक्षिप्त विवेचन करके, तर्कों द्वारा उनकी अप्रामाणिकता सिद्ध की है।

निम्नलिखित पंक्तियों में कवि द्वारा किये गये उक्त मतों के खंडन का संक्षिप्त स्वरूप प्रस्तुत किया जाता है—

वैदिक मत—कवि ने जिन वैदिक मान्यताओं का विरोध किया है, उनमें ईश्वर का निर्गुण-सगुण रूप, ईश्वर का सृष्टि-कर्तृत्व तथा याज्ञिकी हिंसा प्रमुख हैं।

सृष्टि-कर्तृत्व के विषय में कवि का कथन है कि अल्पज्ञ ही ईश्वर द्वारा जगत्

---

(१) जस० २।१८

(२) किं होइ हिंस जगि संतियरि, सिलणावइ मूढ़ तरंति नदि। जस० २।१५।१४

(३) पाणिवहु भडारिए अप्पवहु। जस० २।१४।६

(४) मपु० ६४।४।२-६

(५) मपु० ७३।१४।१३

(६) इंडियन फिलासफी, पृ० ४२५

की सृष्टि होना बतलाते हैं। यदि वह (ईश्वर) अरूप है, तो वह स्वयं अमूर्त होकर मूर्त सृष्टि की रचना कैसे कर सकता है ? यदि वह निष्काम है अथवा उसे धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष की इच्छा नहीं है, तो अपनी इच्छा से ही सृष्टि रचकर उसे क्या मिलता है ? निष्कलुष को हर्ष-विषाद होना ही नहीं चाहिए।[1]

अन्यत्र कवि प्रश्न करता है कि यदि ईश्वर इस भुवन-तल का निमित्त है, तो उसके विशेष गुण क्या हैं ? यदि वह नित्य है तो परिणाम सिद्ध नहीं हो सकता और निष्परिणाम के कर्म-सिद्धि कैसे होगी ?[2] जगत् यदि ईश्वर की प्रेरणा से चलता है, तो तप-भावना आदि से क्या लाभ ?[3] अतः ब्रह्मा, विष्णु अथवा महेश-इनमें से कोई भी सृष्टि का कर्त्ता नहीं हो सकता। जैसे बिना हाथी के उसका कुल नहीं होता, वैसे ही बिना मानव के उसकी जाति कैसे हो सकती है ? अतः यह जगत् अनिधन, अनादि सिद्ध हो जाता है।[4]

निर्गुण ब्रह्म के संबंध में कवि का कथन है कि निर्गुण किस प्रकार संकोच-विस्तार करता है ? कैसे त्रिभुवन का संहार करता है ? कैसे स्वयं पढ़ता-पढ़ाता है ? कैसे मोक्ष मार्ग दिखलाता है ? कैसे अष्टांग धारण करता है ? कैसे किसी परिणाम पर पहुँचता है ? कैसे गाता-नाचता है ? जब निर्गुण न मरता है, न जन्म लेता है, तब वह जीव को संसार यात्रा के लिये कैसे प्रेरित करता है ?[5]

इसी प्रकार मुक्त-आत्मा के प्रति कवि का तर्क यह है कि जैसे सिक्थ (भात) पुनः धान के रूप में तथा घृत पुनः दुग्ध के रूप में परिवर्तित नहीं हो सकते, उसी प्रकार सिद्धात्मा एक बार शरीर को त्याग कर पुनः सांसारिक जन्म-मरण के चक्र में नहीं आते।[6]

वैदिक हिंसा के सम्बन्ध में कवि के विचारों का कुछ विवेचन पूर्वोक्त अहिंसा प्रकरण में हम कर चुके हैं। यहाँ हम विशेष रूप से वेद-ब्राह्मणों के खंडन के संदर्भ में तत्सम्बन्धित अन्य विचारों को प्रस्तुत कर रहे हैं।

वेदों के विषय में कवि कहता है कि विद् धातु (प्राकृत-विउ) का अर्थ (जानना) सर्वविदित है, अतः वेद का अर्थ ज्ञान भी हुआ। इस प्रकार ज्ञान के आगार वेदों को जीव-दया की शिक्षा देनी चाहिए अस्तु, वे ग्रन्थ जो हिंसा का उपदेश देते हैं, वेद न कहे

---

(१) मपु २०।१।६-१४

(२) मपु० २०।२।३-४

(३) जइ जाइ जीउ सिउपेरणाइ, तो किं कयायइ तवभावणाइ। मपु० २०।३।२

(४) जिह सिवु तिह बंभु ण विण्हु अत्थि, विणुहत्थिउलेण णहोइ हत्थि।
विणु णर संताणे मणुउ केम, अणिहणु अणाइ जगु सिद्धु एम। मपु० २०।३।७-८

(५) णाय० ६।६।४-११

(६) णाय० ६।७।१-२

जाकर करवाल कहे जाने चाहिए।[1] इसीलिये वह वैदिक मत की उपयोगिता मूढ़ मनुष्यों के लिये बतलाता है।[2]

समाज में ब्राह्मणों के अत्यन्त प्रभावशाली होने के कारण ही जैन धर्म ने अपने यहां ब्राह्मणों की सृष्टि की है। परन्तु वे उन्हीं को ब्राह्मण मानते हैं, जो जैन धर्मानुसार आचरण करते हैं। भरत चक्रवर्ती ने सर्वप्रथम आचार-निष्ठ व्यक्तियों को पृथक् कर, उन्हें ब्राह्मण संज्ञा से अभिहित किया तथा उनके व्रत-साधन एवं कर्त्तव्यों को निश्चित किया।[3] पश्चात् एक समय भरत ने अपने पिता ऋषभ से इन ब्राह्मणों के भविष्य के सम्बन्ध में प्रश्न किया। उत्तर में ऋषभ ने कहा कि हा पुत्र, तुमने यह क्या किया? ये ब्राह्मण आगे चल कर अपनी मर्यादा का विस्मरण कर मृग-वध करेंगे तथा उनका मांस भक्षण करेंगे। यज्ञ में सोम-पान करेंगे। वे गो, अग्नि, पृथ्वी, पवन, वनस्पति आदि को देवता मान कर पूजेंगे। पुराणों की रचना करेंगे। वे धीवरी पुत्र व्यास तथा गर्दभी पुत्र दुर्वासा[4] को पूर्ण सत्ता सौंप देंगे।[5]

इस प्रकार वैदिक वर्णाश्रम-व्यवस्था के अनुरूप ही जैनों ने अपने धर्म में भी ब्राह्मणों की सृष्टि करली, परन्तु इससे उन्हें कोई संतोष नहीं हुआ। वे पूर्ववत् वेदों तथा ब्राह्मणों को समाज-शत्रु ही घोषित करते रहे। कवि निःसंकोच वेदों का अनुसरण करने वाले व्यक्तियों को अज्ञानी तथा घोर तमाच्छादित पथ पर गमन करने वाले कहता है।[6]

उसकी दृष्टि में ब्राह्मण सदैव असत्य भाषी, मिथ्या दृष्टि वाले तथा साधु-वेश में पापिष्ठ होते हैं।[7]

महापुराण में मुण्डसालायण नामक ब्राह्मण द्वारा गो दान, भूमि-दान एवं कन्या-दान की श्रेष्ठता तथा उसके फल से विष्णु-लोक प्राप्त होने की बात सुनकर राज-मंत्री सत्यकीर्ति कहता है कि कहां कामुक कहां परलोक-वृत्ति, कहां नीम कहां आम? ब्राह्मण की मति कुविवेक-पूर्ण होती है। जो भूमि तथा स्वर्ण मांगते हैं, कामासक्त होकर कन्या-दान कराते हैं, पेट पोट कर रुदन करते हैं एवं पीपल का स्पर्श

---

(१) मपु० २६।७।१०-१२

(२) लोइयवेइय मूढ़त्तणाइं। णाय० ४।८।३

(३) मपु० १६।५-६

(४) दुर्वासा के गर्दभी-पुत्र होने का उल्लेख हिन्दू पुराणों में नहीं मिलता। सम्भवतः धार्मिक विरोध के कारण कवि ने ऐसा कहा है।

(५) मपु० १६।१०।१-१३

(६) वेय धम्मवेहाविय माणव, तमतमपहम्मि जाइ सतामस्। जस० ३।१६।१०

(७) मपु० ८३।१६।११-१२, ६०।२, ४८।२१

कर निज को शुद्ध मानते हैं, वे बार-बार भव-सागर में गिरते हैं।[१] गंगा-जल से उनके दोष कभी नहीं धुल सकते।[२]

कवि अन्यत्र भी कहता है कि जो गाय तृण चरते हुए अभोज्य खाती है, उसके स्पर्श से शुद्धि कैसे हो सकती है? जल शरीर से मिल कर मूत्र बनता है, वह पवित्र कैसे है? प्राणि-वध करने वाले की क्या यह धूर्तता नहीं है कि कुत्सित दान के द्वारा वह स्वर्ग प्राप्त होने की बात कहता है। अतः इन ब्राह्मणों को दान न देकर, उस सुपात्र को देना चाहिये जो ज्ञानवान हो।[३]

ब्राह्मणों के अन्य विश्वासों का खण्डन करता हुआ कवि कहता है कि वे अग्नि में हवन करके स्वर्ग तथा मोक्ष के मार्ग पर गमन करना चाहते हैं। पितृ-पक्ष में मांस-भक्षण करते हैं। इस प्रकार हिंसा तथा दम्भ से पूर्ण शरीर को जल से धोने से क्या लाभ?[४] वह पूछता है कि यदि मीन-भक्षी तथा स्नान से शुद्ध होने वाले वक और ब्राह्मण पूज्य-पद प्राप्त कर लेंगे, तो संयम का आचरण करने वाले मुनियों की क्या दशा होगी? उनकी कौन वन्दना करेगा?[५]

कवि ब्राह्मण ग्रंथ-कर्त्ताओं की भी निंदा करता है। उसके अनुसार कुमारिल भट्ट के वचन अति अशुद्ध तथा धर्म-विपरीत हैं।[६] वाल्मीकि तथा व्यास भी कुमार्ग-कूप में डालने वाले हैं।[७]

ब्राह्मणों के सामान्य विश्वासों, उनकी धर्म-पुस्तकों एवं उनके विद्वानों के विरोध के साथ कवि ने उनके देवताओं की आलोचना भी की है। शिव के सम्बन्ध में वह कहता है कि एक ओर वे मदन-दहन करते हैं, दूसरी ओर महिलासक्त भी हैं। ज्ञानवन्त भी हैं और मदिरा-पान भी करते हैं। निष्पाप होते हुए ब्रह्मा का शिरच्छेदन भी करते हैं। सदय होकर शूल धारण करते हैं। कपाल से ही उन्हें क्यों सन्तोष होता है? अस्थि-माल धारण करके तथा भस्म लगा कर भी वे पवित्र रहते हैं। लिंगवेश रखकर भी रोष-पूर्ण रहते हैं। जड़ मति पिशाचों से प्रलाप करते हैं।[८] कवि का कथन

---

(१) मपु० ४८।१८

(२) गंगाजलु दोसेण ण छिप्पइ, भो भो भरहि गासु दिय जडमइ। मपु० ६८।७।१८

(३) मपु० ४८।५।२-६

(४) मपु० ७।८।६-१३

(५) मीण गिलंतु ण्हंतु जइ सुज्झइ ता कंको महामुणी।
वंदिज्जइ चरंतु णइतीरिं किं किज्जइ परोमुणी। जस० ३।३०। १-२

(६) वयणु कुमारिल भट्ट हो केरउ, अइ असुद्ध धम्महो विवरेरउ। जस० ३।८।११

(७) वम्मीय वासु वयणिहि णडिउ, अण्णाणु कुमग्ग कूवि पडिउ। मपु० ६९।३।११

(८) णाय० ६।७।४-१२

है कि जो शिव नृत्य-गान करते, डमरू बजाते, पार्वती के समीप रहते तथा त्रिपुर आदि रिपुवर्ग को विदीर्ण करते हैं, वे मानव-समुदाय को संसार-सागर से कैसे पार कर सकते हैं ?[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन-विद्वान् वैदिक मत तथा उसके अनुयायी ब्राह्मणों के कितने उग्र विरोधी हैं। यही नहीं, तीर्थंकर आदि महापुरुष भी कभी ब्राह्मण-कुल में जन्म नहीं लेते। वर्धमान महावीर के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वे पहले एक ब्राह्मणी के गर्भ में आ गये थे, परन्तु परम्परा के विपरीत तीर्थंकर की उत्पत्ति ब्राह्मण-कुल में किस प्रकार हो ? यह देख कर इन्द्र ने उनके जीव को क्षत्राणी त्रिशला के गर्भ में पहुँचा दिया।[2]

अनेक जैनाचार्यों ने ब्राह्मणों की गणना नीचकुल में की है। भद्रबाहु के कल्प-सूत्र में उन्हें इसी प्रकार चित्रित किया गया है।[3]

सांख्य दर्शन—सांख्य दर्शन के सिद्धान्तों का प्रवर्तन करने वाले कपिल थे। सांख्य के अनुसार प्रकृति और पुरुष के संयोग से ही सृष्टि उत्पन्न होती है। तत्व मीमांसा के अनुसार इसके २५ तत्व होते हैं।[4] इन तत्वों का ज्ञान प्राप्त करके कोई भी व्यक्ति मुक्त हो सकता है।[5] द्विविध मूल तत्वों में प्रकृति जड़ात्मिका है एवं सत्व, रज तथा तम गुणों से समन्वित है। पुरुष साक्षात् चैतन्य-रूप होते हुए भी वस्तुतः निष्क्रिय है। अंध-पंगु के दृष्टान्त के अनुसार जड़-प्रकृति निष्क्रिय चेतन के संयोग से सृष्टि का कार्य संपादित करती है।

हमारे कवि ने सांख्य-सिद्धान्त का खंडन करते हुए कहा है कि एक ही तत्व नित्य है, ऐसा क्यों माना जाता है ? जब एक देता है, तो अन्य (जड़) कैसे लेते हैं ?

---

(१) णच्चइ देउ गेयसरु गायइ, माहिलउ माणइ वज्जउ वायइ।
डहइ पुरइं रिउवग्गु वियारइ, एहउ कि संसारहु तारइ।

मपु० ६५।१२।६-७

(२) हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता, डॉ० बेनी प्रसाद (हिन्दुस्तानी एकेडमी, प्रयाग, १९३१) पृ० २७३

(३) वही, पृ० २७२

(४) कवि ने इन तत्वों को इस प्रकार गिनाया है—
भूयइं पंच पंच गुणइं पंचिंदियइं पंच तनमत्तउ।
मणुहंकारबुद्धि पसरु कहिं पयईए पुरिसु संजुत्तउ।

णाय० ८।१०।१२-१३

(५ भारतीय दर्शन, बलदेव उपाध्याय (बनारस, १९४५) पृ० ३१८

जब एक स्थित है, तो अन्य कैसे दौड़ते हैं ? एक मरता है, तो अन्य कैसे जीवित रहते हैं ? यदि पुरुष को नित्य कहा जाता है, तो वह किस प्रकार बाल्यावस्था, युवावस्था और तत्पश्चात् वृद्धावस्था प्राप्त करता है ? नित्य वस्तु में त्रस-स्थावर जीव होते हैं, यह भेद कैसे हुआ ? कहा जाता है कि यह संसार पुरुष की क्रीड़ा-भूमि है, परन्तु यहां उसके दर्शन कहीं नहीं प्राप्त होते । विचारणीय है कि क्रिया-विहीन, निर्मल तथा शुद्ध सांख्य का पुरुष, प्रकृति से कैसे बद्ध होता है ? निष्क्रिय के शरीर, मन, वचन आदि किस प्रकार होते हैं ? फिर, क्रिया-विहीन अनेक भवों (जन्मों) को कैसे ग्रहण करता है ? पाप भी उसे कैसे बांध सकते हैं ? इस प्रलाप से मुक्ति पाना ही अच्छा है ।[1]

अन्यत्र कवि कहता है कि कणाद (वैशेषिक दर्शन के आचार्य), कपिल, सुगत (बौद्ध), द्विज शिष्य (किसी अन्य दर्शन के प्रवर्तक) आदि कुमतिशील हैं, जो लोगों को अपने-अपने सिद्धान्तों की ओर आकर्षित करते है ।[2]

चार्वाक दर्शन—इसका प्राचीन नाम लोकायत है ।[3] इसके प्रवर्तक बृहस्पति थे । चार्वाक सिद्धान्त शुद्ध भौतिकवादी हैं । इसके अनुसार लोक ही आत्मा की क्रीड़ा-भूमि है । शरीर ही आत्मा है । अतः जब तक शरीर है, तब तक सुख-प्राप्ति की चेष्टा करनी चाहिए । इसके सम्बन्ध में निम्नलिखित श्लोक बड़ा ही प्रसिद्ध है :—

यावज्जीवेत सुखं जीवेत ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत ।
भस्मी भूतस्य देहस्य पुनरागमनम् कुतः ।[4]

ब्राह्मण, बौद्ध, जैन आदि मतों के आचार्यों ने इस भौतिक-वादी मत के सिद्धान्तों का विरोध किया है ।[5]

ग्रीक दर्शन के डिमाक्रिटस (४६० ई० पू०), एपुकुरिअस (३४२ ई० पू०) एवं लूक्रेशियस (९५ ई० पू०) आदि विद्वान् भी चार्वाकों की भांति भौतिक-वादी हैं ।[6]

---

(१) णाय० ६।१०।३-११

(२ एम लोउ मोहिउ कुमईसहिं, कणयर कविल सुगय दियसीसहिं ।
णाय० ६।११।७

(३) भारतीय दर्शन पृ० ११६ .

(४) वही, पृ० १३२

(५) रामायण (वाल्मीकि) अयोध्या काण्ड, १००।३८; सद्धर्म पुण्डरीक में (परिच्छेद १३). इस शास्त्र के पढ़ने-पढ़ाने का निषेध किया गया है ।
(भारतीय दर्शन पृ० ११७) । आदि पुराण (जिनसेन, ५।७३) में इसे मूर्खों का प्रलाप कहा है ।

६) भारतीय दर्शन, पृ० १३३

जैन, बौद्ध, न्याय आदि दर्शन जहाँ अनुमान को प्रमाण मानकर चले हैं, वहाँ चार्वाक केवल प्रत्यक्ष को प्रमाण मानते हैं। उनकी दृष्टि में यह स्थूल जगत् ही सत् है, अन्य सब कुछ मिथ्या है। वे इस जगत् में केवल पृथ्वी, जल, अग्नि तथा वायु-ये चार तत्व ही मानते हैं। इन्हीं से सम्पूर्ण सृष्टि का निर्माण हुआ है। जब ये भूत-चतुष्टय एक विशेष मात्रा में सम्मिलित होते हैं, तो आप से आप उसमें चैतन्य का आविर्भाव हो जाता है जैसे गुड़, जल आदि पदार्थों में मदिरा के गुण न होते हुए भी, एक साथ सम्मिलित किये जाने पर रासायनिक क्रिया द्वारा उनमे मद्य-शक्ति आ जाती है, वैसे ही भूतचतुष्टय में चैतन्य की उत्पत्ति होती है।

चार्वाक पूर्णतः बुद्धिवादी थे। अपने तर्कों द्वारा वे अन्य मतों का खण्डन किया करते थे। अतः उन्हें वैतण्डिक भी कहा गया है।[1]

हमारे कवि ने अपने तीनों ग्रंथों में चार्वाक-मत का खण्डन किया है। महापुराण में राजा महाबल के मंत्री स्वयंबुद्ध, णायकुमार चरिउ में मुनि पिहिताश्रव तथा जसहर चरिउ मे एक जैन मुनि इसकी निंदा करते हैं।

मपु० में राजा महाबल का मंत्री महामति चार्वाक सिद्धान्त का परिपोषण करता हुआ कहता है कि पृथ्वी, जल, अग्नि तथा पवन—ये चार पदार्थ अनिधन, अनादि तथा अहेतुक हैं। जब ये चारों सम्मिलित होते हैं, तो उनमें चैतन्य जीव की उत्पत्ति उसी प्रकार हो जाती है, जैसे गुड़, जल आदि पदार्थों में मद्य-शक्ति। शरीर-शरीर में कोई भेद नहीं है। जो जब तक जीवित रहता है, कर्म करता है।[2]

इसका खण्डन करते हुए राजा का अन्य मंत्री स्वयंबुद्ध कहता है कि भूत-चतुष्टय के सम्मिलन मात्र से जीव (चैतन्य) किसी भी प्रकार उत्पन्न नहीं हो सकता। यदि ऐसा हो तो औषधियों के क्वाथ (काढ़ा) से किसी पात्र में भी जीव-शरीर उत्पन्न हो जाते, परन्तु ऐसा नहीं होता।[3]

---

(१) भारतीय दर्शन पृ० ११६।
पुष्पदंत ने भी चार्वाक को वैतण्डिक कहा है—
(अ) वइतंडिय पंडिय कव्वु कवहि, अणिबद्धु असंबद्धउं काइं चवहि।
मपु० २०।१८।७
(आ) उवकु सरीरु कि ण किर पहवइ, कि वइतंडिउ पंडिउ विलवइ।
णाय० ९।५।६

(२) मपु० २०।१७

(३ विणु जीवें कहि भूयइं मिलंति, णाणाकारेण य परिणवंति।
जइ परिणवंति भायहिं कुडेउ, तो कायपिंडि सरीरु होइ।
मपु० २०।१८।१०-११

णाय० में कहा गया है कि जल और अग्नि में स्वभावतः विरोध होता है, तब वे किस प्रकार एक ही भाव से एक साथ स्थित हो सकते हैं। इसी प्रकार पवन चपल तथा पृथ्वी जड़ रूप से स्थित है। हा, वृहस्पति ने यह कैसी भ्रम लगाई है ?[1]

जस० में तलवर (कोतवाल) तथा मुनि के संवाद में चार्वाक सिद्धान्तों का उल्लेख प्राप्त होता है। तलवर का कथन है कि मैं किसी धर्म, गुण तथा मोक्ष को नहीं जानता। मैं केवल पंचेन्द्रिय-सुख को ही सब कुछ मानता हूँ।[2]

इसके उत्तर में मुनि कहते हैं कि इस संसार में मनुष्य को अनेक योनियों में भ्रमण करते हुए जीवन-मरण के दुःखों तथा स्वकृत पापों को भोगना अनिवार्य है। मैं उन्हें जानता हूँ। इसी कारण मैं इंद्रिय-सुखों से विरक्त होकर इस निर्जन में निवास करते हुए भिक्षा-वृत्ति करता हूँ।[3]

आगे शरीर तथा जीव को अभिन्न मानने वाले सिद्धान्त का खण्डन करते हुए मुनि कहते हैं कि जीव का आधार भूत शरीर है, जो अचेतन होते हुए भी वृषभ द्वारा खींचे जाने वाले शकट की भांति चेतन दृष्टिगत होता है। परन्तु जिस प्रकार वृषभ के विना शकट नहीं चल सकता, उसी प्रकार यह पुद्गल शरीर भी चेतन (जीव) विना नही चल सकता। इस प्रकार जीव तथा शरीर भिन्न सिद्ध होते हैं।[4]

तलवर पुनः पुष्प-गंध की अभिन्नता का उदाहरण देता हुआ शरीर के नाश के साथ आत्मा के अभाव का उल्लेख करता है। मुनि उसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि आत्मा तथा शरीर की भिन्नता प्रत्यक्ष सिद्ध है, जैसे चंपक-पुष्प तैल में डालने से उसकी सुगंध तो पृथक् हो जाती है, परन्तु पुष्प का अस्तित्व वना रहता है। इसी प्रकार आत्मा और शरीर भी अपना पृथक् अस्तित्व रखते हैं।[5]

कोतवाल ने इसी सम्बन्ध में यह युक्ति उपस्थित की कि क्या शरीर में प्रवेश करते हुए आत्मा को किसी ने देखा है ? यह शरीर तो शोणित-शुक्र रूप में गर्भान्तर में ही वृद्धिगत होता है। उसके भ्रम का परिहार करते हुये मुनि कहते हैं कि अपने अमूर्त्तत्व गुण के कारण वस्तुतः जीव दिखाई नहीं देता, परन्तु इसी कारण क्या उसका अभाव हो जाता है ? नहीं, जैसे दूर से आया हुआ शब्द नेत्रों द्वारा दृष्टिगत न होते

---

(१) जलजलणहं विरोहु ससहावें, ताइं थंतिं किह इक्कें भावें।
पवणु चवलु महि थक्क थिरत्तें, हा किं भंखिउ सुरगुरु पुत्तें।
णाय० ६।११।१-२

(२) जस० ३।१६।३

(३) जस० ३।२०।७-८

(४) जस० ३।२१।१-४

(५) जस० ३।२१।१२-१६

हुए भी कानों द्वारा ज्ञात किया जाता है, वैसे ही आत्मा का अनुमान से ज्ञान होना निश्चित है।[१] जिस इंद्रिय का जो विषय है, वह उसी के द्वारा ज्ञात होता है। स्थूल इंद्रियाँ सूक्ष्म विषय का ज्ञान कदापि नहीं कर सकतीं। जीव का प्रत्यक्ष केवल ज्ञान द्वारा ही संभव है।[२] यदि शरीर को आत्मा मानें तो शरीर जड़ होने से आत्मा भी जड़ होगा। इस अवस्था में शैया-स्पर्श, रसास्वाद आदि का ज्ञान किसको होगा ?[३]

इसी प्रकार वृहस्पति का यह कथन कि जो नेत्रों द्वारा दृष्टिगोचर हो, वही प्रमाणभूत है, कवि के विचार से पूर्णतः निस्सार है। वह कहता है कि गृह में पितादिक द्वारा रखा हुआ द्रव्य जब दृष्टिगत नहीं होता, तो क्या समझ लिया जाय कि उसका अस्तित्व ही नहीं है?[४]

कवि आत्मा-शरीर के भेद को और स्पष्ट करता हुआ कहता है कि प्रत्यक्ष-वादी (चार्वाक), परमाणु आदि पदार्थ एवं इंद्रियों के विषय यथा गीत-वाद्य, कामिनी के स्तन-युगलों के स्पर्श, शत्रु के खड्गादिक घात इत्यादि के अनुभव भी न करते होंगे, ऐसे व्यक्ति कच्छप-रोम का दुशाला ओढ़ते तथा आकाश कुसुमों का मुकुट रखे, वन्ध्या-पुत्र से वार्तालाप करते हैं अर्थात् उनके समस्त व्यापार असम्भाव्य हैं।[५]

नैरात्मवाद-क्षणिकवाद—जगत् की समस्त दुष्प्रवृत्तियों के मूल में आत्मवाद को कारण मानते हुए, बुद्ध ने आत्मा की पृथक् सत्ता ही नहीं मानी है। उनके अनुसार आत्मा केवल पंच-स्कन्धों (रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान) का समुच्चय मात्र है। ये स्कन्ध क्षण भर भी स्थायी नहीं रहते। ये प्रवाहित जल अथवा जलती हुई दीप-शिखा की भांति प्रतिक्षण परिणाम प्राप्त करते रहते हैं। हीनयान के अंतर्गत ये दार्शनिक तथ्य नैरात्म्यवाद तथा परिणामवाद कहलाते हैं।[६] यूनान के हिरेक्लिटस तथा फ्रांस के बर्गसों जैसे तत्वज्ञों ने बौद्ध परिणामवाद के आधार पर अपने दार्शनिक सिद्धान्तों का निरूपण करके पर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त की है।[७] मूल रूप में इन्हीं सिद्धान्तों

---

(१) जस० ३।२२।१-५

(२) जस० ३।२।६-७

(३) जस० ३।२३।५-६

(४) सुरगुरु लोयणेहिं जं पिच्छइ इच्छइ तं समपतयं।
जो ण णिवद्द घरम्मि पिरपुरिसणिहाण घरंपि णिवडयं।
जस० ।२४।१-२

(५) जस० ३।२४।४-६

(६) भारतीय दर्शन, पृ० १८४-१८६

(७) हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, भाग १ पृ० ४४८

को मानते हुए अन्य बौद्ध दार्शनिकों ने शून्यवाद, विज्ञानवाद, क्षणिकवाद आदि की चर्चा की है।

महापुराण में राजा महाबल के मंत्रियों में संभिन्नमति नामक मंत्री क्षणिकवाद का समर्थन करता है।[1] अन्य शतमति नामक मंत्री जगत् को मायावी, स्वप्नवत् तथा इंद्रजाल कहता है।[2] महाबल का जिन-धर्म-निष्ठ मंत्री स्वयंबुद्ध उसका खण्डन करता है। इसी प्रकार णायकुमार चरिउ तथा जसहर चरिउ में जैन मुनि उक्त सिद्धान्तों का खण्डन करते है।

कवि की रचनाओं में बौद्ध सिद्धान्तों के विरोध में जो तर्क उपस्थित गये किये हैं, उनका सार इस प्रकार है—

यदि जगत् को क्षणभंगुर मान लिया जाये, तो किसी व्यक्ति द्वारा रखी हुई वस्तु उसे प्राप्त न हो कर अन्य व्यक्ति को प्राप्त होनी चाहिए। इसी प्रकार द्रव्य को क्षणस्थायी मानने से वासना (जिसके द्वारा पूर्व रखी वस्तु का स्मरण होता है) का भी अस्तित्व नहीं रह जाता।[3]

जगत् में यदि कार्य-कारण कुछ भी नहीं हैं, तो वज्र-पात से भय क्यों होता है।[4] कुछ परिस्थितियों में कार्य-कारण सम्बन्ध ऐसा होता है कि कारण की उपस्थिति में ही कार्य सम्पन्न होता है, जैसे दुग्ध तथा गौ एवं काजल तथा दीपक। इनमें यदि कारण गौ तथा दीपक का विनाश हो जाय, तो दुग्ध और काजल का कार्य होना संभव नहीं। इसी प्रकार यदि क्षण-क्षण में जीव उत्पन्न होते हैं, तो बाहर गया हुआ व्यक्ति पुनः गृह कैसे लौटेगा ? वैसे ही अन्य को रखी हुई वस्तु अन्य को ज्ञात ही न होगी। परन्तु ऐसा नहीं होता। यदि सब कुछ क्षण-विनाशी है, तो इंद्रिय-निग्रह, चीवर-धारण, व्रत-पालन, शिर-मुंडन आदि का क्या प्रयोजन है ?[5]

कवि का कथन है कि जो आत्मा को विज्ञान स्कन्ध का संघात मानता है, वह बुद्ध भट्टारक साहसी ही कहा जायेगा।[6] जैनाचार्य हेमचंद्र ने भी क्षणिकवादी बौद्धों को महासाहसिक कहा है।[7]

---

(१) मपु० २०।१९।८-१०
(२) मायण्हिव सिविणय इंदजालु। मपु० २०।२०।७
(३) मपु० २०।२०।४-५
(४) जइ णत्थि किं पि कारणु ण कज्जु, तो किं बीहहि जइ पडइ वज्जु। मपु० २०।२१।५
(५) णाय० ९।५।७-१३
(६) जस० ३।२५।१६-१७
(७) भारतीय दर्शन, पृ० २२५

कौलाचार—शैव-शाक्त तंत्र के अन्तर्गत कौलाचार का बड़ा महत्व है। कौल वह है जो शक्ति को शिव के साथ मिलन कराने में समर्थ होता है अर्थात् योग-क्रिया द्वारा कुण्डलिनी को जाग्रत कर सहस्रार-स्थित शिव से मिलाता है। कुण्डलिनी ही कौलाचार या वामाचार का मूल अवलम्ब है।[1]

कौलों के दो मत प्रसिद्ध रहे हैं—पूर्व कौल तथा उत्तर कौल। पूर्व कौल श्रीचक्र के भीतर स्थित योनि की पूजा करते थे। उत्तर कौल तरुणी की प्रत्यक्ष योनि के पूजक थे तथा अपनी साधना में पंच मकारों (मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा तथा मैथुन) का प्रयोग करते थे। जन-साधारण में तांत्रिक विधि-विधानों के प्रति कुत्सित भावना उत्पन्न करने का श्रेय इन्हीं को है।[2]

कौलों अथवा कापालिकों को धर्म और सदाचार से कोई सम्बन्ध न था। येन केन प्रकारेण सर्व-भोग करना ही इनका लक्ष्य था।[3] ये भैरव-चामुण्डा की पूजा करते, नर-मुण्डों की माला धारण करते, देवी की तुष्टि के लिये नर-पशु की बलि देते तथा हवन में नर-मांस की आहुति देते थे। इनका दावा था कि ये आकाश में नक्षत्रों का मार्ग रोक सकते हैं तथा असंभव का संभव कर दिखा सकते हैं।

१० वीं शताब्दी तक के अनेक ग्रंथों में इन कापालिकों के वर्णन प्राप्त होते हैं। भवभूति के 'मालती माधव' में अघोर घंट, कृष्ण मिश्र के 'प्रबोध चन्द्रोदय नाटक' में सोम सिद्धान्त तथा राज शेखर की 'कर्पूर मंजरी' मे भैरवानन्द सरीखे कापालिकों के अद्भुत चरित्र वर्णन किये गये हैं।

हमारे कवि के जसहर चरिउ ग्रंथ का कापालिक भैरवानन्द कर्पूर मंजरी के भैरवानन्द से अनेक बातों में मिलता-जुलता है।[4] वह दोनों कानों को ढंकने वाली रंग-बिरंगी टोपी लगाये, कानों में मुद्रा धारण किये, हाथ में ३२ अंगुल का दण्ड उछालता हुआ, गले में योग-पट्ट डाले, पगों में पावड़ी पहने, नगिना का तड़-तड़ शब्द करता हुआ, नर-कपाल लिये राजा मारिदत्त की राज-सभा में आता है।[5]

भैरवानन्द आत्म-प्रशंसा करता हुआ कहता है कि मैंने चारों युग देखे हैं। राम-रावण युद्ध, महाभारत आदि मेरे सम्मुख हुए हैं। मैं चिरंजीव हूँ। समस्त विद्याएं मुझे सिद्ध हैं। तंत्र-मंत्र तो मेरे आगे चलते हैं।[6] वह राजा मारिदत्त को

---

(१) भारतीय दर्शन, पृ० ५४१

(२) वही, पृ० ५४०

(३) भारत की प्राचीन संस्कृति, राम जी उपाध्याय, पृ० १२१-१२२

(४) भारतीय विद्या, मई १९४७ पृ० १२१-१२२ में डॉ० भायाणी का लेख।

(५) जस० १ । ६ । ४-७

(६) जस० १ । ६ । ८-१५

आकाशगामिनी विद्या सिद्ध कराने के लिये देवी के सम्मुख मनुष्य-सहित अनेक जीव-मिथुनों की बलि देने का प्रस्ताव रखता है।[1]

जसहर चरिउ का सम्पूर्ण कथानक इस हिंसा-प्रस्ताव के खण्डन में ही समाप्त होता है। क्षुल्लक अभयरुचि को अपने पूर्व जन्म में केवल कृत्रिम कुक्कुट की बलि देने के कारण अनेक जन्मों में कितनी भीषण यातनाएं भोगनी पड़ीं—यह वृत्तान्त सुनकर भैरवानन्द हिंसा-वृत्ति को त्यागकर अन्य पात्रों के साथ ही जिनदीक्षा ग्रहण कर लेता है। इस ग्रंथ में कवि का प्रधान उद्देश्य कौल सम्प्रदाय की हिंसा-वृत्ति के ऊपर जैन मत की अहिंसा की विजय निरूपित करना है। कापालिकों के वर्णन करने वाले इस काल के प्रायः सभी ग्रंथ जन-साधारण की, इन कौलों के प्रति, व्यापक घृणा के ही परिचायक हैं।

श्वेताम्बर जैन—कवि स्वयं दिगम्बर सम्प्रदाय का था। अतः उसने अपनी रचनाओं में केवल उन्हीं सिद्धान्तों का विवेचन किया है, जो उसके सम्प्रदाय के अनुरूप हैं। परन्तु यथावसर उसने श्वेताम्बर सम्प्रदाय के विश्वासों का खण्डन भी किया है।

णायकुमार चरिउ में उसने कैवल्य प्राप्त श्वेताम्बर मुनियों के वस्त्र धारण करने तथा रात्रि-भोजन करने की आलोचना की है—

अंबरु परिहइ भोयणु भुंजइ, भुवण णाणु पभणंतु ण लज्जइ।

णाय० ९।५।५

इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि ने अपनी रचनाओं में तत्कालीन प्रचलित प्रायः सभी मत-मतान्तरों का खण्डन करते हुए, जिन-धर्म को ही एकमात्र कल्याण-कारी मार्ग बतलाया है। स्पष्ट है कि इस प्रयास के मूल में कवि का उद्देश्य यह था कि स्वधर्मानुयायी किसी भी प्रकार अन्य धर्मों की ओर आकर्षित न हों।

जन्मान्तरवाद

अति प्राचीन समय से पुनर्जन्म पर भारत का विश्वास रहा है। सर्व-प्रथम उपनिषदों में इसका उल्लेख प्राप्त होता है।[2] गीता में भी कहा गया है कि जिस प्रकार मनुष्य जीर्ण वस्त्र त्याग कर नवीन धारण करता है, उसी प्रकार आत्मा जीर्ण शरीरों को त्याग कर नवीन शरीर धारण करता है।[3]

---

(१) जस० १।७।७-१०

(२) अथास्यायमितर आत्मा कृतकृत्यो वयोगतः प्रैति।
स इतः प्रयन्नेव पुनर्जायते तदस्य तृतीयं जन्म॥

ऐतरेयोपनिषद्, अ० २।४

(३) वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि। तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही। गी० २।२२

अनेक भारतीय विद्वानों ने जन्मान्तर वाद को भारत की एक विशेषता बतलाई है।[1] जैन धर्म पर भी इसका अत्यधिक प्रभाव पड़ा है। जैन आगम ग्रंथों की कथाओं में बारम्बार पुनर्जन्म के उल्लेख किये गये हैं।[2]

हमारे कवि की समस्त रचनाओं के वस्तु-विन्यास का मुख्य आधार यही जन्मान्तर वाद है। प्रत्येक जैन महापुरुष अथवा पात्र के जीवन-चरित्र के साथ-साथ उसके अनेक पूर्व-जन्मों की गाथाएं भी अनिवार्यतः वर्णित की गई हैं। वस्तुतः जन्मान्तर वाद को इतना महत्व देने का प्रधान कारण यह है कि इसके द्वारा जैन आचार्य जन-साधारण को यह बतलाना चाहते थे कि अमुक कार्य करने से भावी जीवन में अमुक प्रकार का सुख अथवा दुःख भोगना पड़ता है।

ऋषभ देव एक स्थान पर कहते है कि जीव चतुर्कषाय (क्रोध, मान, माया तथा लोभ) में आसक्त तथा मिथ्या संयम के वश में होकर अनेक जन्म धारण करके इस संसार में विचरण करता है।[3]

इस प्रकार जैन धर्म ने जन्मान्तर वाद के सहारे जन-समुदाय को दुष्कर्म से विमुख करके धर्म तथा सदाचार के पथ की ओर प्रेरित किया है। परन्तु कहना न होगा कि काव्य-कला की दृष्टि से यह प्रयत्न कथानक को जटिल बनाकर मूल कथा की रोचकता तथा प्रवाह में व्यवधान अवश्य उत्पन्न कर देता है। कवि ने स्थल-स्थल पर छंद-परिवर्तन के द्वारा इस दोष का परिहार करने की चेष्टा की है।

---

(१) हमारी साहित्यिक समस्याएं, डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ६०-६१
(२) इण्डियन लिटरेचर, एम० विंटरनिट्ज, भाग २, पृ० ४५३
(३) चउ कसाय रस रसिय ओ मिच्छा संजमवसियओ।
णाणाजम्मु वियारए आहिंडइ संसारए। मपु० ७।५।१-२

अध्याय

७

वस्तु वर्णन

सामान्यतः काव्य में वस्तु-वर्णन की दो शैलियाँ प्रचलित रही हैं। प्रथम है वस्तु परिगणन शैली, जिसमें वर्णनीय विषय से सम्बन्धित वस्तुओं की नामावली मात्र प्रस्तुत करके ही कवि-कर्म की इतिश्री मान ली जाती है। दूसरे प्रकार की शैली में वर्णनीय वस्तु का बिम्ब ग्रहण कराने की चेष्टा की जाती है। श्रेष्ठ काव्य-रचना में द्वितीय शैली को ही महत्व दिया जाता है।

वस्तु-वर्णन काव्य का आवश्यक अंग है। उसके द्वारा कवि के व्यापक अनुभव तथा अन्वीक्षण-शक्ति का पता लगता है। यदि वर्णन कुशलता से किया जाता है तो काव्य का इतिवृत्तात्मक अंश पर्याप्त सरस हो जाता है।

हमारे कवि के वस्तु-वर्णन में दोनों ही शैलियों के दर्शन होते हैं। परन्तु वर्णन चाहे देश-नगर का हो, चाहे युद्ध-स्थल का, हर स्थान पर कवि का हृदय साथ रहता प्रतीत होता है। इसी कारण उसके अनेक वर्णन मनोरम तथा स्वाभाविक बन गये हैं।

प्रस्तुत अध्याय में हम कवि के वस्तु-वर्णन के विविध रूपों की चर्चा करेंगे।

प्रकृति-वर्णन

प्रकृति का मानव से घनिष्ठ सम्बन्ध है। वह मानव की सहचरी मानी गई है। मानव के समस्त क्रिया-कलाप प्रकृति पर ही आधारित रहते हैं। इस कारण प्रकृति-चित्रण काव्य का अनिवार्य अंग माना गया है।

पुष्पदंत के काव्य में प्रकृति को महत्व-पूर्ण स्थान दिया गया है। अवसर के अनुकूल कवि ने अपने काव्य को उसके विविध रूपों द्वारा अलंकृत करने का प्रयत्न किया है।

सर्वप्रथम हम महापुराण के मगध-वर्णन को लेते हैं। कवि वहाँ की वन-शोभा का वर्णन इन शब्दों में करता है—

अंकुरियइं णवपल्लव घणाइं, कुसुमिय फलियइं णंदणवणाइं ।
जहिं कोइलु हिंडइ कसणपिंडु वणलच्छिहे णं कज्जलकरंडु ।
जहिं उड्डिय भमरावलि विहाइ, पवरिंदणीलमेहलिय णाइ ।
ओयरिय सरोवरि हंसपंति, चल धवल णाइं सप्पुरिसकित्ति ।
जहिं सलिलइं मारुयपेल्लियाइं, रविसोसभएण व हल्लियाइं ।
(मपु० ११२।१-५)

मगध का नन्दन वन पुष्पों तथा फलों से लदा है । नवीन पल्लव अंकुरित हो रहे हैं । जहां कृष्ण-वर्ण की कोयल इधर-उधर उड़ रही है, मानों वन-लक्ष्मी का कज्जल-करंड है । जहां उड़ती हुई भ्रमरावली भूमि को नील वर्ण का बना रही है । सरोवरों में से हंस-समूह अवतीर्ण होकर ऐसे प्रतीत होते हैं, मानों सत्पुरुष की धवल कीर्ति उड़ रही है । जहां वायु द्वारा आन्दोलित होता हुआ जल ऐसा प्रतीत होता है, मानों रवि के शोषण-भय से व्याकुल हो ।

अब गंगा-वर्णन देखिए । कवि ने महाराज भरत की विजय-यात्रा के प्रसंग में बड़े मनोयोग के साथ गंगा के सौन्दर्य का अंकन किया है । प्रतीत होता है कि कवि उसकी शोभा पर अत्यंत मुग्ध था । कुछ स्थल प्रस्तुत हैं :--

घत्ता—पंडुर गंगाणइ महियलि घोलइ किंणरसरसुहमंतहो ।
अवलोइय राएं छुडु छुडु आएं साडी ण हिमवंत हो ॥
(मपु० १२।५।२९-३०)

णं सिहरिधरारोहणणिसेणि, णं रिसहणाहजसरयणखाणि ।
णिम्मल णावइ जिणणाहवाय, मयरंकिय णं वम्महवडाय ।
णं विसमविडप्पभउत्तसंति, धरणीयलि लीणी चंदकंति ।
णं णिद्धधोयकलहोयकुहिणि, णंकित्तिहि केरी लहुय बहिणि ।
गिरिरायसिहरपीवरथणाहि, णं हारावलि वसुहंगणाहि ।
वियलियकंदरदरिवडिय सच्छ, धरणिहरवरिंदहु णाइं कच्छ ।
सिय कुडिल तह जि णं भूइरेह, णं चयकच्छटि्टजयविजयसोह ।
आयासहु पडिय धरित्तिणाइ, सुरविच्छिय णं पियमहि पियाइ ।
पवसलइ वलइ परिभमइ ठाइ, णियठाणभंसभीताइ णाइं ।
णिग्गय णयवम्मीयहु सवेय, विसपडर णाइं णाइणि सुसेय ।
हंसावलिपवलवि इण्णसोह, उत्तरदिसिणारिहि णाइं वाह

घत्ता—वहुरयणणिहाणहु तुट्टु सुलीणहु धवलविमलमंथरगइ ।
सायरभत्तारहु सइं गंभीरहु मिलिय णं दिय गंगागइ ।
(मपु० १२।६।१-१३)

अर्थात पाण्डुर गंगा मधुर स्वर करती हुई भूमि पर बहती है। भरत को वह हिमवंत की साड़ी के समान प्रतीत हुई। गंगा मानों पर्वतारोहण की नसेनी (सीढ़ी) है, ऋषभनाथ के यश की रत्न-राशि है, जिन की निर्मल वाणी है, मकरांकित मन्मथ-पट है, राहु के भय से भूमि पर आई हुई चंद्रकान्ति है, अति निर्मल रौप्य-मार्ग है, कीर्ति की लघु भगिनी है, वसुधानारी की हारावली है, धरणिधर करिंद की स्वच्छ कक्षा है, उसी की श्वेत कुटिल भस्म-रेखा है, चक्रवर्ती सम्राट् का विजय-लेख है, आकाश से धरित्री पर आई हुई प्रिया है जो निज स्थान-त्याग की चिंता में परिभ्रमित होती है, विष-प्रचुर श्वेत नागिन के समान वल्मीक से निकली है। गंगा मानों उत्तर दिग्वधू की बाहु है जिस पर हंस-पंक्ति रूपी वलय शोभा दे रही है। धवल विमल मंथर गति वाली गंगा मानों वह रत्न-निधान, सुन्दर सलोने तथा गम्भीर सागर-भर्त्ता से मिलने के लिये जा रही है।

दूसरे कड़वक में कवि कहता है—

जहिं मच्छपुच्छपरियत्तियाइं, सिप्पिउट्टुच्छलियइं मोत्तियाइं।
घेप्पंति तिसाहय गीयएहिं, जलबिंदु भणिवि वप्पीहएहिं।
जलरिट्ठहिं पिज्जइ जलु सुसेउ, तमपुंजहिं णावइ चंदतेउ।
सोहइ रत्तुप्पलदलरईइ, पुणु सो ज्जि णाइं संझारईइ।
जहिं कीरउलइं कीलारयाइं, दहिकुट्टिमि णावइ मरगयाइं।

(मपु० १२।७।१-५)

अर्थात् जिस गंगा में मत्स्यों के पुच्छ से अभिहित तथा उछलती हुई सिप्पियाँ मौतियों के सदृश प्रतीत होती हैं, जहाँ तृष्णाहत कंठ वाले पपीहे गंगा-जल को सामान्य जल-बिंदु कह कर छोड़ देते हैं, जहाँ तम-पुंज में ज्योत्स्ना के समान श्वेत जल को काक-समूह पीते हैं रक्त कमल-दल जहाँ संध्या-राग के समान शोभित होते हैं, जहाँ क्रीड़ा करते हुए शुक-समूह दही के फर्श पर मरकत मणियों के समान प्रतीत होते हैं।

अब नारी के रूप में गंगा का सौंदर्य देखिए—

झसणयणी विब्भमणाहिगहिर, णवकुसुमविमीसयभमरचिहुर।
मज्जंतकुंभिकुंभत्थणाल, सेवाल णील णेत्तंचलाल।
पडविडविगलिय महुघुसिणपिंग, चलजल भंगावलिवलितरंग।
सियधोलमाणडिंडीरचीर, पवणुद्धयतारतुसारहार।
वित्थिण्ण मणोहर पुलिणरमण, णइ णाइं विलासिणि मंदगमण।

(मपु० १२।८।२-६)

अर्थात् मत्स्य रूपी नेत्रों वाली, आवर्त रूपी गंभीर नाभि वाली, नवकुसुम-मिश्रित भ्रमर रूपी केश वाली, मज्जन करते हुए हाथियों के कुंभस्थल के समान

स्तन वाली, शैवाल के समान नील चंचल नेत्र वाली, तटस्थित विटपों से झरते हुए मधु रूपी कुंकुम से पिंग वर्ण वाली, चंचल जलतरंग रूपी वलि वाली, श्वेत प्रवाहित फेन रूपी वस्त्र वाली, पवनोद्धत शुभ्र तुषार रूपी हार वाली, तथा अपने मनोहर विस्तीर्ण पुलिनों से रमण करती हुई गंगा मंथर-गति-गामिनी रूपवती तरुणी के समान शोभित होती है।

कवि के गंगावतरण प्रसंग में प्रकृति के उग्र रूप के दर्शन होते हैं। यहाँ कवि की भाषा भी भावानुगमन करती हुई चलती है—

सविसइं विसिविवरइं पइसरंति, फणिफुक्कारिहिं दरोमंति।
गिरिकंदर दरि सर सरि भरंति, दिस णहयलु थलु जलु जलुकरंति।
उत्तुंगतरंगहिं णहि मिलंति, वियडयरसिलायल पक्खलंति।
कच्छवमच्छोह समुच्छलंति, हंसावलि कलरव कलयलंति।
पत्रिउलजलवलयहिं चलवलंति, कड्ढिय गंगाणइ खलखलंति।

(मपु० ३८।१२।४-८)

यमुना का वर्णन करता हुआ कवि कहता है कि गंघनतमा यामिनी मानो मंथर वारि गामिनी कालिंदी के रूप में महीतल पर स्थित है। उसकी नीलिमा के विषय में वह कहता है कि यमुना मानों नारायण (वासुदेव) के शरीर की प्रभा-पंक्ति है, अंजनगिरिवरेन्द्र की कान्ता है, भूमि पर कस्तूरी की रेखा है, उसकी तरंगें वृद्धावस्था की वलीयुक्त देह है, गिरिरूपी गज की दान-रेखा है, कंस राज की जीवित मर्यादा है, वसुधा पर अवत्तीर्ण मेघमाला है अथवा मोतियों से शोभित श्याम बाला है—

दुवई—ता कालिंदि तेहिं अवलोइय मंथरवारिगामिणी।
णं सरिरूवु धरिवि थिय महियलि घणतमजोणि जामिणी।
णारायणतणुपहपंती विव, अंजणगिरिवरिंदकंती विव।
महिमयणाहिरइय रेहा इव, बहुतरंग जरढयलेहा इव।
महिहरदंतिदाणरेहा इव, कंसरायजीवियमेरा इव।
वसुहणिलीणमेहमाला इव, साम समुत्ताहल बाला इव।

(मपु० ८५।२।१-५)

अब लंका के समुद्र का दृश्य देखिए। उसमें रौद्र रूप से तरंगें उठ रही हैं। नौकाओं के समूह जा रहे हैं। अथाह जल-राशि पर चन्द्रमा प्रतिबिम्बित हो रहा है। मत्स्य-समूह के पारस्परिक संघट्टन से शुक्तिकाएं टूट रही हैं। मुक्ता-सदृश जल-बिंदु-राशि नभाच्छादित होकर किरणों का अवरोध कर रही है। इधर-उधर दौड़ते मगरों के कारण आंदोलित जल में विशाल लहरें उठ रही हैं। शोभमान तट पर गर्जन करते हुए हाथियों के समूह स्नान कर रहे हैं। कवि ने समुद्र-तट का वास्तविक चित्र उपस्थित कर दिया है—

तओ तेण जंतेण दिट्ठो समुद्दो, पधावंत कल्लोलमाला रउद्दो।
जलुम्मग्गणिम्मग्ग बोहित्थवंदो, अथाहंभपब्भारसंकंत चंदो।
झसप्फोड फुट्टंत सिप्पीसमूहो, णहुच्छित्तमुत्ताहलो भासुरोहो।
दिसाढुक्कणक्कुग्गयंतं करालो, चलुप्पिच्छपल्हत्थवेला विसालो।
पवालंकुरुक्केर राहिल्लरुहो, पगज्जंत मज्जंत मायंगजूहो।

(मपु० ७३।१२।३-७)

हिमालय प्रदेश का वर्णन करता हुआ कवि कहता है कि कहीं नाना फलों वाले वृक्ष हैं, कहीं वानर किलकारी भरते हुए दौड़ रहे हैं, कहीं रति-रत सारस हैं, कहीं तपस्वी तप कर रहे हैं, कहीं निर्झर झर रहे हैं, कहीं जल-पूरित कंदराएं हैं, कहीं फल-भार से नमित वल्लरियां हैं और कही भोले-भाले शबर देखते ही भागते हैं—

णाणामहिरुह फलरसहरइं, कत्थइ किलिगिलियइं वाणरइं।
कत्थइ रइरत्तइं सारसइं, कत्थइ तवतत्तइं तावसइं।
कत्थइ झरझरियइं णिज्झरइं, कत्थइ जलभरियइं कंदरइं।
कत्थइ वीणियवेल्लीहलइं, दिट्ठइं भज्जंतइं णाहलइं।

(मपु० १५।१६-६)

इसी प्रकार कैलाश पर्वत पर देव-खेचर समूह विचरण कर रहे हैं, निर्झर से झरता हुआ जल भर रहा है, गंधर्व अग्नि में सुगंधित द्रव्य जला कर ताप रहे हैं, तरु-समूह के कारण नीलिमा छाई है, कपि निनाद कर रहे हैं। कैलाश गगन मण्डल को छूता हुआ ऐसा प्रतीत होता है मानो महि रूपी कामिनी अपनी भुजा उठा कर स्वर्ग की ओर संकेत कर रही है—

सुरणियरहिं खयरहिं परियरिउ, णिज्झरझरंतवारिहिं भरिउ।
गंधव्वहिं भव्वहिं सेवियउ, सिहिजालहिं चवलहिं तावियउ।
तरुजालहिं णीलहिं छाइयउ, कइबुक्कारेहिं णिणाइयउ।
घत्ता—सो महिहरपवरु दीसइ गयणंगणि लग्गउ।
णं महिकामिणिहि भुयदंडु पदंसियसग्गउ।

(मपु० १५।१६।६-१०)

कवि ने सूर्योदय के वर्णन कई स्थलों पर किये हैं। ऋषभ-विवाह के अवसर पर रात्रि में नृत्य गान महोत्सव होता है। आनन्द उल्लास के उसी वातावरण में प्रातःकाल होता है। कवि के शब्दों में उसका वर्णन देखिए—

घत्ता—उट्ठिउ रविबिंबु दियहसिरिए अरुणकिरणमालाफुरिउ।
उययइरि महारायहु उवरि णवरत्तउं छत्तु व धरिउ॥

(मपु० ४।१८।१३-१४)

जंभेट्टिया—ससिपायाहया दुक्खं पिव गया।
अलिरवरसणिया रुयइ व मिसिणिया॥
दंसइ पविमलं ओसंसुयजलं।
तं पसरियकरो पुसइ व तमिहरो॥
णं सोहइ दीविय जंबुदीउ, णहमहिसरावपुडि दिण्णु दीउ।
अद्भुग्गमंतु णं लोयणयणु, णं एंतहु सेसहु सीसरयणु।
णं वाडविग्गि णहसायरासु, णं दिसणिसियरिमुहमासगासु।
णं ताहि जि केरउ अहरबिंबु णं णिसिवहुहि पयमग्गु तंबु।
णं वासरविडवंकुरु विणित्तु, णं जगकरंडि पवलउ णिहित्तु।
(मपु० ४।१६।१-९)

अर्थात् अरुण किरण-माला से स्फुरित दिवस की शोभा दर्शनीय है, रवि-बिम्ब उदय हुआ मानो उदयगिरि महाराज के ऊपर नवीन रक्त-वर्ण का छत्र स्थापित है। अलि-रव की रसिक कमलिनी, शशि-पाद से आहत तथा दुःख से संतप्त हो रुदन करती है। उसके विमल अश्रु (कमल-पत्र पर) स्पष्ट दर्शित हैं। बाल सूर्य अपनी प्रसरित किरणों से उसका मार्जन करता है। आगे कवि कहता है कि मानो जंबूद्वीप दीप्तिमान है, मानो नभ-महिषी का दीपक है, मानो लोक-नयन है, मानो शेष का शीश-रत्न है, मानो नभ-सागर की वाडवाग्नि है, मानो दिशा-निशाचरी के मुख में मांस-ग्रास है अथवा उसी का अधर-बिम्ब है, मानो निशा-वधू का ताम्र पद-मार्ग है, मानो दिवस रूपी वृक्ष का अंकुर विनिर्गत है।

उपर्युक्त वर्णन में बाल सूर्य के लिये दिशानिशाचरी के मुख के मांस-ग्रास की उत्प्रेक्षा कुछ खटकती अवश्य है। वर्णन को अलंकृत बनाने वाले चमत्कार-विधान के कारण सौंदर्य-चेतना का कुंठित होना स्वाभाविक ही होता है। आगे चल कर केशव ने भी अपने काव्य में इसी प्रकार के प्रयोग किये हैं।[1] कहना न होगा कि ऐसे उपमान काव्य-प्रसंग में रसाभास उत्पन्न कर देते हैं।

सूर्योदय का एक अन्य वर्णन मपु० १६।२६।३-१३ में भी है।

संध्या का वर्णन भी द्रष्टव्य है। कवि कहता है कि सन्ध्या मानो रति का निलय है, मानो पश्चिम दिशा रूपी वधू का कुंकुम-तिलक है, मानो स्वर्ग-लक्ष्मी का माणिक्य पतित हुआ है, मानो नभ-सरोवर का रक्त कमल है, मानो दिन-पुरुष मूर्च्छित हुआ है अथवा मकरध्वज का राग-पुंज है। सूर्य का अर्धबिम्ब जलनिधि के जल में डूब चुका है, मानो दिन-कुंजर का कुंभस्थल दृष्टिगोचर हो रहा है, मानो सागर के जल में दिवस-नारी का गर्भ चू पड़ा है, अथवा लक्ष्मी का कनक-वर्ण [illegible] हो जल-निमग्न हो रहा है—

(१) केशवदास, डॉ० हीरालाल दीक्षित (सं० २०११) पृ० १३४

रत्तउ दीसइ णं रइहि णिलउ, णं वरुणासावहुघुसिणतिलउ ।
णं सग्गलच्छिमाणिक्कु ढलिउ, रत्तुप्पलु णं णहसरहु घुलिउ ।
णं मुक्कउ जिणगुणमुद्धएण, णियराय पुंजु मयरद्धएण ।
थढढउ जलणिहिजलि पइट्ठु, णं दिसिकुंजरकुंभयलु दिट्ठु ।
हुउ णियच्छविरंजियसायरंभु, णं दिणसिरिणारिहि तणउगब्भु ।
....

लच्छीहि भरंतिहि कणयवण्णु, णिच्छुट्टवि कलसु व जलि णिमण्णु ।
(मपु० ४।१५।५-११)

दिवस-रात्रि के संधि-स्थल का अन्य वर्णन कवि ने मपु० १६।२३-२४ में किया है । इसी प्रकार मपु० २८।३४ में रणभूमि तथा सन्ध्या के दृश्यों का साम्य उपस्थित किया गया है ।

अब चन्द्रोदय-वर्णन देखिए । कवि ने अनेक उपमानों द्वारा वर्णन को अलंकृत किया है—

ता उइउ चंदु सुरवइ दिसाइ, सिरिकलसु व पइसारिउ णिसाइ ।
सइं भवणालउं पइसंतियाइ, तारादंतुरउ हसंतियाइ ।
णं पोमाकरयलल्हसिउ पोमु, णं तिहुयणसिरिलायण्णधामु ।
सुरउब्भवविसमसमावहारु, तरुणीयणविलुलिय सेयहारु ।
णं अमयबिंदुसंदोहु रुंदु, जसवेल्लिहि केरउ णाइं कंदु ।
माणियतारासयवत्तफंसु, णं णहसरि सुत्तउ रायहंसु ।
आयासरंगि ससहावगीढु, णं कामएव अहिसेयवीढु ।
णं यंदहु धरियउ धवलछत्तु, तहे विइ णं दप्पणु णिहित्तु ।
घत्ता—वरतारातंदुल घिविवि सिरि ससि परिवट्टुलु रइणिलउ ।
दिसिरमणिइ णिसिहि वयंसियाह णावइ दहिएं कउ तिलउ ।
(मपु० ४ । १६ । ८-१६)

अर्थात् पूर्व दिशा में तब चन्द्र उदय हुआ । मानो निशा ने श्रीकलश निकाला है । स्वयं भवन में प्रवेश करते हुए ताराओं रूपी दांतों से हंसती जा रही है, मानो लक्ष्मी के कर से पतित पद्म है, मानो त्रिभुवनश्री का लावण्यधाम है; सुरत के विषम श्रम को शान्त करने वाला है, तरुणी के उरस्थल पर विलुलित स्वेद-हार है मानो विस्तीर्ण अमृतबिन्दु का पुंज है, मानो यश-वल्लरी का कंद है । मानो नभ-सरोवर में सोता हुआ राजहंस है, मानो इन्द्र का धवल छत्र है अथवा शची का दर्पण है । मानो दिशा रमणी ने निशा को दधि-तिलक लगा कर तारा रूपी तंदुल बिखरा दिये हैं ।

चन्द्रोदय का एक अन्य वर्णन जसहर चरिउ (२ । २ । ५-१०) में भी है। इसी प्रसंग में धवल रात्रि का चित्रांकन करते हुए कवि कहता है कि शशि रूपी घट के ज्योत्स्ना रूपी क्षीर से स्नान करके समस्त भुवन रौप्य-रंजित हो गया है, मानो तुषार-हारावलि छाई है—

ससिघड गलिएं जोण्हाखीरिं, भुवणं ण्हायं पिव गंभीरिं।
दीसइ धवलं रुप्पयरइयं, णं तुसारहारावलिछइयं।

(जस० २ । ३ । १-२)

कवि का ऋतु-वर्णन भी परंपरा-भुक्त है। उसने मुख्यतः वसंत, पावस तथा शरद् के वर्णन किये हैं।

वसंत के आगमन पर कवि का कथन है कि अंकुरित, कुसुमित तथा पल्लवित होता हुआ मधुमास विलसित है। इस समय जहाँ अचेतन तरु तक विकसित हो जाते हैं, वहाँ चेतन मनुष्य क्यों न प्रफुल्लित हों? आगे कवि आम्र, चम्पक, अशोक, मंदार तथा पलाश के वृक्षों के प्रति अनेक उत्प्रेक्षाएं उपस्थित करता हुआ कहता है कि कानन में पलाश के विकसित होते ही पथिक जनों में विरहाग्नि जलने लगी, मल्लिका के विकसित होते ही रमणियों में रति-लोभ का संचार होने लगा, शीघ्र ही भ्रमर रूपी विट-समूह में मद की वृद्धि होने लगी और वे चुम्बन करके वेलि-कुसुम-रस काढ़ने लगे। इस समय वसंत मानो कुंद-कुसुम रूपी दांतों को विकसित करता हुआ हंस रहा है और कोकिल अपने स्वर से मानो कामदेव का डंका बजा रही है—

घत्ता—अंकुरियउ कुसुमिउ पल्लविउ महुसमयागमु विलसइ।
वियसंति अचेयण तरु वि जहिं तहिं णरु किं णउ वियसइ।

(मपु० २८ । १३ । १०-११)

छुडु मायंद रुक्खु कंटइयउ, महुलच्छिइ आलिंगिवि लइयउ।
छुडु चंपयतरु अंकुरंचिउ, णं कामुउ हरिसें रोमंचिउ।
छुडु कंकेल्लि किं पि कोरइयउ, णं वम्महचित्तारें रइयउ।
छुडु मंदारसाहि पल्लवियउ, चलदलु णं महुणा णच्चवियउ।
छुडु जायउ णमेरु कलियालउ, मत्तचओरकीररावालउ।
छुडु काणणि पप्फुल्लु पलासउ, पहियहुं लग्गउ विरहहुयासउ।
छुडु फुल्लिउ मल्लियफुल्लोहउ, रमणीयणि पसरिउ रइलोहउ।
छुडु छइयणविडउलि मउ वड्ढिउ, वेल्लिकुसुमरसु चुंबिवि कड्ढिउ।
कुंदु कुसुमदंतहिं णं हसियउ, कोइलु कामडक्कु णं रसियउ।

(मपु० २८ । १४ । १-१०)

इसी प्रसंग में कवि ने कुसुम-रगण की रंगावली, नवनलोत्पल नलिका के नृत्य, राज-हंसिनी रूपी कामिनियों के साथ उपवन रूपी भवन में वसंत रूपी राजा

के स्थित होने तथा कमल-पत्र रूपी थाल में श्वेत जल-कणों की शोभा के उल्लेख किये हैं—

थिप्पिरमहुच्छइयहिं महिवुलियइं, सुमणसुरहियरंगावलियहिं ।
णवरत्तुप्पलकलियादीवहिं, चंदवयणणच्चणभावहिं ।
धवलकुसुममंजरिधयमालहिं, गुमगुमंतमहुलियगेयालहिं ।
रायहंसकामिणिकयरमणहिं, थिउ वसंतपट्टु उववणभवणहिं ।
(मपु० २८ । १५ । १-४)

सियजलकण तंदुल सोहालहिं, भिसिणिपत्तवरमरगयथालहिं ।
(मपु० २८ । १५ । ६)

सीता-विवाह के प्रसंग में भी कवि ने वसंत की अवतारणा की है। (देखिए मपु० ७० । १४-१५) । कवि के कथनानुसार इस मंगलमय अवसर पर वसंत स्वयं उत्सव देखने आया है—

तहिं समइ पराइउ महुसमउ णं विवाहु अवलोयहुं ।
(मपु० ७० । १३ । १५)

कवि के पावस-वर्णन में नाद-सौंदर्य की छटा दर्शनीय है। प्रभावोत्पादक वर्ण-योजना द्वारा सहज ही घन-गर्जन का आभास होता है—

विसकालिंदिकालणवजलहरपिहियणहंतरालओ ।
धुयगयगंडमंडलुड्डावियचलमत्तालिमेलओ ॥
अविरलमुसलसरिसथिरधारावरिसभरंतभूयलो ।
हयरवियरपयावपसरुग्गयतरुतणणीलसद्दलो ॥
पडुतडिवडणपडियवियडायलरुंजियसीहदारुणो ।
णच्चियमत्तमोरगलकलरवपूरियसयलकाणणो ॥
गिरिसरिदरिसरंतसरसरमयवाणरमुक्कणीसणो ।
महियलघुलियमिलियदुंदुहसयवयसालूरपोसणो ॥
घणचिक्खल्लखोल्लखणि खेइयहरिणसिलिंवकयवहो ।
वियसियणवकलंबकुसुमुग्गयरयपिंजरियदिसिवहो ॥
सुरवइचावतोरणालंकियघणकरिभरियणहहरो ।
विवरमुहोयरंतजलपवहारोसियसविसविसहरो ॥
पियपियपियलवंतवप्पीहयमग्गियतोयबिंदुओ ।
सरतीरुल्ललंतहंसावलिभुणिहलवोलसंजुओ ॥
चंपयचूयचारचवचंदणचिंचिणिपीणियाउसो ।

अर्थात् विष तथा कालिंदी के समान मेघों से नभ-अंतराल आच्छादित हो गया है, जैसे कंपित गज-गंडस्थल से उड़ाये गये मत्त भ्रमर-समूह हों। अविरल मूसलाधार वर्षा से समस्त भूतल भर गया है। मेघों के कारण रवि-किरणों का प्रकाश भी रुका हुआ है। सर्वत्र पत्र-युक्त तरु तथा तृण से भूमि नील वर्ण की है। सिंह-गर्जन के समान विद्युत-पतन के भयंकर शब्द से दिशाएँ पूरित हैं। नृत्य करते हुए मत्त मयूरों के कलरव से सम्पूर्ण कानन व्याप्त है। पर्वतीय सरिता के गुहा-प्रवेश से उत्पन्न सर-सर नाद से भयभीत वानर चिल्ला रहे हैं। इस समय भूमि दुंदुह निर्विष सर्प), शतपद सर्प, सालूर (मेढक) आदि का पोषण करती हुई प्रतीत होती है। घने पंक-पूरित गर्त, उनमें गिरे हुए मृग-शावकों के समाधि-स्थल बन गये हैं। नव विकसित कदंब-कुसुमों के पराग से दिशाएं पीत-वर्ण की हो रहीं हैं। इंद्र-धनुष रूपी तोरण से अलंकृत आकाश मेघ रूपी हस्तियों से घिर गया है। अपने बिलों में जल-धारा के प्रवेश से सर्प क्रुद्ध हो उठे हैं। पी-पी शब्द करता हुआ चातक जल-बिंदु-याचना करता है। सरोवर का तट केलि करते हुए हंस-समूह के कोलाहल से संयुक्त है। पावस के द्वारा चंपक, आम्र आदि वृक्षों में प्राण-सिंचन सा हो गया है।

इसी प्रकार मेघमुख द्वारा भरत-सेना पर भयंकर वर्षा किये जाने के प्रसंग में कवि ने प्रलय-काल की वर्षा का दृश्य उपस्थित कर दिया है। यहाँ विद्युत का तड़-तड़ शब्द करके गिरना, कड़-कड़ करते हुए वृक्षों का टूटना, पर्वतों का ध्वस्त होना, अत्यन्त वेग से जल का कन्दराओं में भरना. समस्त भूतल का जल-मग्न होना तथा मार्ग-कुमार्ग का न सूझना आदि वर्णन से कवि ने पावस की प्रबलता का बोध करा दिया है—

तडि तडयडइ पडइ रुंजइ हरि, तरु कडयडइ फुडइ विहडइ गिरि।
जलु परियलइ घुलइ घुम्मइ दरि, अइरइ सरइ भरइ पूरें सरि।
जलु थलु सयलु जलु जि संजायउ, मग्गु अमग्गु ण कि पि वि णायउ।
(मपु० १४।९।७-९)

इसके अतिरिक्त कवि ने अवसर के अनुकूल अन्यत्र भी पावस के वर्णन किये हैं। नमि-निर्वाण-प्रसंग (मपु० ८०।९) में ऐसा ही एक स्थल है। यहाँ इंद्र-धनुष की एक सुन्दर उत्प्रेक्षा में कवि कहता है कि मनुष्यों में कौतुक उत्पन्न करने वाला इंद्र-धनुष नवीन घनों के बीच ऐसा प्रतीत होता है मानों नभ-श्री के वक्षःस्थल पर रंगीन वस्त्र हो—

घत्ता—ता णवघणनमइ पवरइंदाउहु जणकोऊहलयरउं।
सोहइ उवरित्थु पओहरहं णं णहसिरिउप्परियणउं॥
(मपु० ८०।८।११-१२)

कवि का शरद्-वर्णन भी मनोहर है। उसमें शरद् के आगमन पर नभ का स्वच्छ होना, दिशाओं का रज-रहित होना, शशि-कुंभ से ज्योत्स्ना रूपी जल द्वारा निर्मलता का प्रक्षालन, चन्द्रमा द्वारा कमल का पराभव तथा क्रोध से उसका चन्द्रमा में पंक लगाना, तरु-कुसुमों का महकना, मद्यप भ्रमरों का गुंजार करना आदि वर्णन प्राप्त होते हैं—

> छुडु छुडु सरयागमि अप्पमाणु, णहु णाइं धोयहरिणीलभाणु।
> ....
> ....
> अइ दस वि दिसा सइं गयरयाइं, णं चारित्तइं सज्जणकयाइं
> ससिकुंभगलियजोण्हाजलेण, पक्खालियाइं णं णिम्मलेण।
> णिड्डहइ कमलु सरए ससंकु, तहु तेण जि लग्गउ पिडपंकु।
> ....
> तरु कुसुमामोएं महमहंति, रयकविलइं सलिलइं वणि वहंति।
> अलि रुणुरुणंति पावाहपिंड, महुमत्ता णं गायंति सोंड।
> (मपु० १२।१।३-१४)

इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि ने प्रकृति-चित्रण में सर्वत्र उस अलंकृत शैली का प्रयोग किया है, जो संस्कृत के माघ, बाण आदि कवियों में सामान्यतः दिखाई देती है। कवि के समुद्र तथा गंगा के वर्णन विशेष रूप से उसके-प्रकृति-प्रेम के परिचायक कहे जा सकते हैं।

देश-नगर वर्णन—

प्रबंध-काव्यों में सामान्यतः देश-नगर के वर्णन अवश्य ही किये जाते हैं। रामायण तथा महाभारत के अतिरिक्त संस्कृत के अनेक ग्रंथों में इस परंपरा का निर्वाह किया गया है। कादम्बरी में अवंती की राजधानी उज्जयिनी तथा किरातार्जुनीय के चतुर्थ सर्ग में ग्रामों के सुन्दर वर्णन प्राप्त होते हैं। स्वयंभू के पउम चरिउ में मगध एवं राजगृह के वर्णन भी उल्लेखनीय हैं।

हमारे कवि ने देश-नगरों के प्रचुर वर्णन किये हैं। इन वर्णनों में अप्रस्तुत-योजना द्वारा उनके उत्कर्ष की वृद्धि करने के साथ ही अनेक स्वाभाविक चित्रण भी प्राप्त होते हैं। विशेष रूप से ग्राम्य जीवन की झांकियां अत्यन्त सरस हैं। गोधन-परिपूर्ण ग्राम, गोपालों के हास-विलास, दधि-मंथन-रव, धान के लहलहाते खेत आदि के चित्र कवि ने पूर्ण तन्मयता के साथ वर्णन किये हैं। इसी प्रकार नगरों के वर्णन के साथ उनके निकट-वर्ती उपवन, वाटिका, वापी, सरोवर आदि की ओर भी कवि की दृष्टि गई है। नगरों में वेश्या-बाजारों एवं द्यूतगृहों के दृश्य भी स्वाभाविक हैं। कवि स्वयं उस महानगरी मान्यखेट में निवास करता था, जिसकी समृद्धि की ख्याति समग्र देश में फैली थी।

अतः कोई आश्चर्य नहीं, कि मान्यखेट के वातावरण का प्रभाव कवि के इन वर्णनों पर पड़ा हो।

कवि ने मगध तथा यौधेय देशों के वर्णन अत्यन्त रुचि के साथ किये हैं। मगध के वर्णन में कवि कहता है कि जहां इक्षु के खेत रस से परिपूर्ण हैं, मानों सुकवि का शृंगारादि रसों से पूर्ण काव्य हो। जहां महिष-वृषभ उत्साह से परस्पर जूझते हैं, गोपियां की मथानी की ध्वनि सुन पड़ती है, बछड़े अपनी पूंछ उठाए चपलता से भागते हैं, गोकुलों में गोपाल क्रीड़ा-रत हैं—

जहिं उच्छुवणइं रसगब्भिणाइं, णावइ कव्वइं सुकईहिं तणाइं।
जुज्झंत महिस वसहुच्छवाइं, मंथाम थियमंथणिरवाइं।
चवलुद्धपुच्छवच्छाउलाइं, कीलियगोवालइं गोउलाइं।
(मपु० १।१२।८-१०)

जहां के नन्दन-वन कल्पवृक्षों से पूर्ण है, पके हुए धान के खेत हैं, बक तथा हंसों की पंक्तियां स्थित हैं। जहां के जलाशयों में क्षीर सदृश जल है। जहां कामधेनु के समान गोधन हैं, जो स्नेह-पूरित हो घड़ों दूध देते हैं। जहां सकल जीवों का पोषण होता है तथा खेतों में प्रचुर धान्य उत्पन्न होता है। जहां के द्राक्षा-मण्डप पंथ-श्रम-मोचन करते हैं। जहां कोमल भूमि पर पथिक शयन करते हैं। जहां ग्राम-वधुओं का मधुर कलरव सुनाई देता है, जिसके कारण पथिक हरिणों के समान ठहर जाते हैं—

जहिं सुरवर तरुणंदणवणाइं, जहिं पिक्क सालि घण्णइं तणाइं।
वयसयहंसावलि माणियाइं, जहिं खीरसमाणइं पाणियाइं
जहिं कामधेणुसम गोहणाइं, घडदुद्धइं णेहारोहणाइं।
जहिं सयलजीव कय पोसणाइं, घणकणकणिसालइं करिसणाइं।
जहिं दक्खामंडवि दुहु मुयंति, थलपोमोवरि पंथिय सुयंति।
जहिं हालिणिकलरव मोहियाइं, पहि पहियइं हरिणा इव थियाइं।
(णाय० १।६।५-१०)

यौधेय प्रदेश का वर्णन भी तत्कालीन भारत की सम्पन्नता का द्योतक है। कवि कहता है कि वह प्रदेश इतना आकर्षक है, मानों धरिणी ने दिव्य वेश धारण किया हो। जहां के जल-प्रवाह में ऐसी चंचलता है, मानो तरुणी-समूह प्रीति-द्योतक हाव-भाव प्रदर्शित करता हुआ गतिमान हो। जिस देश में कुकवियों की भांति भ्रमरों के दल घूमते हैं, (क्योंकि कुकवियों का हृदय श्याम होता है और भ्रमर भी श्याम होते हैं।) जहां नेत्र सदृश सचिक्कण तृण-समूह तथा पुष्प-फलों-युक्त मनोहर उपवन ऐसे शोभित हैं मानों महि-कामिनी के नवीन यौवन ही हैं।

जिन उपवनों में गोपालों द्वारा आस्वादित स्वादिष्ट फल ऐसे प्रतीत होते हैं, मानो पुण्य रूपी वृक्ष के मधुर फल ही हैं। जहाँ गायें तथा भैंसें सुख से बैठी हैं, जिनके मंद-मंद रोमन्थ करने से गंडस्थल हिल रहे हैं। जहाँ ईख के खेत रस से सुन्दर हैं और मानों वायु से प्रेरित हो नृत्य कर रहे हैं। जहाँ पके धान के खेत कण-भार से नमित खड़े हैं। जहाँ सपत्र शतदल अलि-युक्त दर्शित होते हैं। जहाँ शुक-समूह दाने चुग रहे हैं। जहाँ किसान-कन्याएं प्रतिवचन कहती हैं तथा जिनके छूत्कार-राग से रंजित मन वाले पथिक मोहित हो आगे गमन नहीं करते। जहाँ वन में गोपालों के मधुर गीतों को मृग-कुल मुग्ध होकर सुनते हैं। जहां के ग्राम, पुर, नगर आदि जन-धन-कण से परिपूर्ण हैं—

जोहेयउ णामि अत्थि देसु, णं धरणिए धरियउ दिव्ववेसु।
जहिं चलइं जलाइं सविब्भमाइं, णं कामिणिकुलइं सविब्भमाइं
भंगालइं णं कुकइत्तणाइं, जहिं णीलणत्तणिद्धइं तणाइं।
कुसुमियफलियइं जहिं उववणाइं, णं महिकामिणि णवजोव्वणाइं।
गोवालमुहालुखिय फलाइं, जहिं महुरइं णं सुकयहो फलाइं।
मंथररोमंथण चलिय गंड, जहिं सुहि णिसण्ण गोमहिसिसंड।
जहिं उच्छुवणइं रसदंसिराइं, णं पवणवसेण पणच्चिराइं।
जहिं कणभरपणविय पिक्क सालि, जहिं दीसइ सयदलु सदलु सालि।
जहिं कणिसु कीररिंछोलि चुणइ, गहवइसुयाहि पडिवयणु भणइ।
छोक्करण रावरंजियमणेण, पहि पउ ण दिण्णु पंथियजणेण।
जहिं दिण्णु कण्णु वणि मयउलेण, गोवालगेय रंजियमणेण।
जहिं जणधणकण परिपुण्ण गाम, पुर णयर सुसीमाराम साम।
(जस० १।३।४-१५)

कवि ने उत्तर कुरु का वर्णन एक साम्यवादी प्रदेश के रूप में किया है। प्रतीत होता है कि कवि उस पर अत्यन्त मुग्ध था। वह कहता है कि जहाँ की भूमि स्वर्ण के सदृश सुन्दर तथा जल रसायन सदृश मधुर है—

जहिं चामीयरधरणियलु पाणिउं मिट्ठउं णाइं रसायणु।
(मपु० २६।२।१०)

जहाँ नित्य ही उत्सव होते हैं एवं नित्य नवीन तन-तारुण्य दिखाई देता है। ऐसी भोग-भूमि जैसे-जैसे देखिए वैसे-वैसे भली प्रतीत होती है—

णिच्चु जि उच्छवु णिच्च दिहि णिच्चु जि तणुतारुण्णु णवल्लउ।
भोयभूमिरहमाणुसहं जं जं दीसइ तं तं भल्लउ॥
(मपु० २६।३।१६-१७)

जहाँ सज्जनों के निवास दुर्जनों द्वारा दूषित नहीं किये जाते। जहाँ रोष, दोष, आलस्य, इष्ट-वियोग, निद्रा, रात्रि एवं दिवाविकार, कुत्सित कर्म आदि नहीं हैं। जहाँ न अकाल मृत्यु है, न चिन्ता है, न दीनता है और जहाँ किसी का भी शरीर क्षीण नहीं है।

जहाँ न रोग है, न शोक है, न विषाद है, न क्लेश है एवं जहाँ न कोई किसी का दास है और न कोई किसी का राजा है। जहाँ के मनुष्य रूपवान, दिव्य तथा सुलक्षण हैं, जिनमें गर्व नहीं है और वे सब परस्पर समान हैं। जिनके मुख से सदैव सुगंधित श्वास निकलती है और जिनके शरीर वज्र के समान कठोर हैं, जिनको आयु तीन पल्य प्रमाण स्थिर रहती है। जहाँ सिंह तथा हाथी बन्धुत्व के साथ रहते हैं। जहाँ न चोर हैं और न महामारी है। ऐसी कुरुभूमि अतिशय स्वर्ग के समान है—

ण दुज्जणु दूसियसज्जणवासु, ण खानु ण सोनु ण रोमु ण दोमु।
ण छिक ण जिंभणु णालसु दिट्ठु, ण णिद्द ण णेत्तणिमीलणुमुट्ठु।
ण रत्ति ण वासरु भंतु ण धम्मु, ण इट्ठविओउ ण कुच्छिय कम्मु।
अयालि ण मच्चु ण चिंत ण दीणु, कयाइ कहिं पि सरीरु ण भीणु।
....

ण रोउ ण सोउ ण सेउ विसाउ, किलेसु ण दासु ण को वि वि राउ।
सुरूव सलक्खण माणव दिव्व, अगव्व मुभव्व समाण जि सव्व।
मुहाउ विणोसिउ सासु सुयंधु, कलेवरि वज्जसमट्ठियबंधु।
तिपल्लपमाणु थिराउणिबंधु, करीसर केसरि ते वि हु बंधु।
ण चोरु ण मारि ण घोरुवसग्गु, अहो कुरुभूमि विसेसइ सग्गु।

(मपु० २६।४।१-१०)

कवि ने नगरों के वर्णन भी बड़े मनोयोग से किये हैं। राजगृह के विषय में उसका कथन है कि जिधर देखिए नगर उधर ही श्रेष्ठ दिखाई देता है। वह सूर्यकान्त-चन्द्रकान्त मणियों से विभूषित है, मानों स्वर्ग ने धरती को यह पाहुड़ (उपहार) भेजा है—

जहिं दीसइ तहिं भल्लउ णयरु णवल्लउ ससि रवि अन्त विहूसिउ।
उवरि विलंबियतरणिहे सग्गें धरणिहे णावइ पाहुडु पेसिउ।

(मपु० ११५।६-१०)

णायकुमार चरिउ में इसी नगर के विषय में कवि की उक्ति है कि स्वर्ण रत्नों के परकोटे वाले राजगृह के रूप में मानों स्वयं इन्द्रपुरी ही स्वर्ग से गिरी है—

तहिं पुरवरु णामें रायगिहु कणय रयण कोडिहिं घडिउ।
बलिबंड धरंत हो सुरवरहिं णं सुरणयरु गयण पडिउ।

(णाय० १।६।१३-१४)

स्वयंभू के रिट्ठणेमिचरिउ में इसी प्रकार की उत्प्रेक्षा विराट नगर के सम्बन्ध में की गई है—

पट्टणु पइसरिय जं धवल-घरालंकरियउ ।
केण वि कारणंण णं सग्गखंड ओयरियउ ।
(रि० च० २८।४)

संभवतः अपभ्रंश-कवियों को यह उत्प्रेक्षा बहुत रुचिकर थी । भविसयत्त कहा (धनपाल कृत) में गजपुर-वर्णन में भी यही उत्प्रेक्षा है—

तहि गयउरु णाउं पट्टणु जण जणियच्छरिउ ।
णं गयणु मुएवि सग्ग खंडु महि अवयरिउ ।
(भवि० कहा, १।५)

रामायण में इसी प्रकार लंका को धरती पर गिरा हुआ स्वर्ग कहा गया है—

महीतले स्वर्गमिव प्रकीर्णम् ।
(वाल्मीकि रामा० ५।७।६)

अब पुष्कलावती प्रदेश की पुंडरिकिणि नगरी की निराली छटा देखिए । वहां श्वेत भवनों की पंक्तियां हैं । नगर में कुंकुम-रस का सिंचन होता है । प्रत्येक गृह में मुक्ता-कंचन के प्रांगण हैं । जहां श्वेत कमलों से युक्त जल-वापियां है, जिनमें कुरर, कारण्ड तथा कलहंस रमण करते हैं । प्रत्येक गृह-मन्दिर में स्वेच्छाचारिणी स्त्रियां हैं । जहां मृदंग की ध्वनि गूंजती है तथा कामिनियां नृत्य करती हैं । जहां उपवन-उपवन में मधुमास दर्शित होता है, जहां हाट-हाट में कुबेर वास करता है, जहां यौवन के नव-नव शृंगार होते हैं, जहां मानव-मानव में सरस्वती वास करती हैं ।

सेयसउहावली पुंडरिगिणि पुरी ।

....

घुसिणरससिंचिए हसियगयणंगणे, मोत्तियकणंचिए प्रंगणे प्रंगणे ।
अमलिणा सणलिणा जत्थ जलवाविया, कुररकारंडकलहंससंसेविया ।
मन्दिरे मन्दिरे सइरगइ गोमिणी, हम्मई मद्दलो णच्चए कामिणी ।
महुसमयसंगमो उववणे उववणे, रमइ वइसवणओ आवणे आवणे ।
वूढसिंगारए जोव्वणे णवणवे, वसइ वरसरसई माणवे माणवे ।
(मपु० ४२।२।६-११)

जसहर चरिउ में राजपुर नगर का वर्णन अत्यन्त भव्य है । कवि कहता है कि मनोहर रत्न-खचित गृहों में पवन-प्रकंपित तथा नभस्थल से मिलती हुई ध्वजाएं ऐसी सुन्दर प्रतीत होती हैं, मानों वे अपने हाथों से स्वर्ग का स्पर्श कर रही हैं—

राउरु मणोहरु रयणंचियघरु तहिं पुरवरु पवणुद्धहिं।
चलचिंघहिं मिलियहिं णहयलि घुलियहिं छिवइ व सग्गु सयंभुअहिं।
(जस० १।३।१६-१७)

आगे कवि कहता है कि—

सरहंसइं जहिं णेउररवेण, मउ चिक्कमंति जुवई पहेण।
जं णिवभुयासिवरणिम्मलेण, अण्णु वि दुग्गउ परिहाजलेण।
पडिखलियवइरितोमरझसेण, पंडुरपायारिं णं जसेण।
णं वेढिउ बहुसोहग्गभारु, णं पुंजीकय संसारसारु।
जहिं विलुलिय मग्गय तोरणाइं, चउदारइं णं पउराणणाइं।
जहिं धवल मंगलुच्छवसराइं, दुतिपंचसत्तभोमइं घराइं।
णवकुंकुमरसछडयारुणाइं, विक्खित्तादित्तमोत्तिय कणाइं।
गुरुदेवपाय पंकयवसाइं, जहिं सव्वइं दिव्वंइ माणुसाइं।
सिरिमंतइं संतइं सुत्थियाइं, जहिं कहिंमि ण दीसहिं दुत्थियाइं।
(जस० १।४।४-१२।

अर्थात् जहाँ तरुणियों के नूपुरों की ध्वनि सुन कर सरोवर के हंस चकित होते हैं। जो नृप (मारिदत्त) के कर की तलवार द्वारा निर्मल है। और भी, वह अपने दुर्ग तथा परिखा के जल द्वारा वैरी के लिये दुर्गम है। उसके पांडुर प्राकार मानों उसका यश ही है अथवा वह प्रचुर सौभाग्य-भार से वेष्ठित है अथवा जगत् का समस्त सार वहाँ पुंजीभूत हो गया हैं। मरकत मणियों से सुसज्जित उसके चार तोरण-द्वार मानों उसके चार मुख ही है। जहाँ के दो-पाँच-सात खण्ड वाले गृहों में नित्य धवल-मंगल उत्सव होते है। जहाँ नव कुंकुम-रस के छिड़काव से अरुणिमा छाई रहती है। जहाँ मुक्ता-कणों की दीप्ति का अलोक प्रकाशित रहता है। जहाँ के सभी मनुष्य दिव्य हैं तथा गुरु-पाद-पंकज में वास करते हैं। जहाँ श्रीमत सुस्थित हो रहते हैं तथा जहाँ कही भी दुःस्थिति नहीं दिखाई देती।

कवि के इन वर्णनों में प्राचीन परंपरा का निर्वाह होते हुए भी, स्थानीय विशेपताएं अवश्य हैं। जिनसे तत्कालीन लोक-जीवन की झलक तथा देश की समृद्धि का आभास मिलता है। यौधेय, मगध आदि की धन-धान्य सम्पन्नता, उत्तर कुरु में जनवादी शासन-व्यवस्था तथा राजगृह आदि नगरों के वैभव ऐसी ही विशेपताएं हैं।

युद्ध-वर्णन—

कवि के युद्ध-वर्णन अत्यन्त विशद एवं सजीव है। प्रतीत होता है कि कुछ तो परंपरा के कारण तथा कुछ तत्कालीन युद्ध-प्रवृत्ति के कारण, कवि ने

युद्धों के विस्तार से वर्णन किये हैं। राष्ट्रकूटों को प्रायः युद्धों में फंसे ही रहना पड़ता था।

वास्तविक युद्ध की भीषणता को बढ़ाने के उद्देश्य से कवि ने सैन्य गमन के विस्तृत वर्णन किये हैं, जिनमें वीरों की दर्पोक्तियाँ, भेरी-तूर आदि वाद्यों के तुमुल घोष, गज-रथादि के गमन के कारण धरा-कंपन आदि के उल्लेख प्राप्त होते हैं।

भरत चक्रवर्ती के दिग्विजय-प्रयाण का वर्णन कवि ने अत्यन्त उदात्त रूप से किया है। उसकी तुलना रामायण में राम की सेना के लंका की ओर अग्रसर होने अथवा किरातार्जुनीय में शंकर के सैन्य-गमन के दृश्यों से की जा सकती है। रघुवंश में रघु के दिग्विजय के लिये प्रस्थान करने का वर्णन भी ऐसा ही है।

भरत की प्रचण्ड सेना छः खण्ड पृथिवी को विजय करने जा रही है। उसके आगे भेरी-तूर आदि बज रहे हैं। इस विकट वाहिनी का प्रयाण देख देवता भयभीत होते तथा कान बधिर हो रहे हैं। असुर, नाग तथा पाताल वासी तक कंपित हो रहे हैं। गिरि-महीतल टूट-फूट रहे हैं। सरिताओं का जल भी आन्दोलित हो रहा है। रवि-चन्द्र तक विचलित हो रहे हैं—

भुयदंडचंड विक्कम मएण, छक्खंडमंडलावणि कएण।
गंभीरतूरलक्खइं हयाइं, दुप्पेक्खइं रक्खइं हयमयाइं।
कयसमरहं अमरहं थरहरंति, गत्तइं सोत्तइं बहिरत्तु जंति।
असुरिंदहं णाइंदहं पियाइं, पायालइं विउलइं कंपियाइं।
तुट्टइं फुट्टइं गिरिमहियलाइं, झलझलियइं वलियइं सरिजलाइं।
थिरभावहं देवहं जाय संक, रथपेल्लिय डोल्लिय रवि ससंक।

(मपु० १२।२।६-१४)

तूर आदि वाद्यों के कोलाहल के मध्य, इस सेना के सुभट मुक्त हुंकार करते हुए, अपनी करवालों को स्फुरित करते हुए, तूणीर बांधे हुए, शत्रु को भूमि पर सुलाने के उत्साह से भरे हुए स्वामि-भक्ति के साथ जा रहे हैं—

तुरुतुरियकाहलं सुहडकोलाहलं।
मुक्कहुंकारयं फुसिय असिधारयं
वद्धतोणीरयं अहियखोणीरयं।
गहियसंणाहयं णवियणियणाहयं।

(मपु० १२।३।४-७)

कवि ने इस सेना का संचालन करने वाले महाराज भरत का भी ओजस्वी चित्रण किया है। उनका मणि-जटित श्रेष्ठ रथ है, मानों स्वयं इंदु धरती पर उतरा है। उनकी दृढ़-कठिन भुजाएँ है, अत्यन्त विशाल वक्ष है, शार्दूल-सदृश वर स्कन्ध

हैं, भ्रमर के समान श्याम केश हैं, ऐसे त्रैलोक्य को परास्त करने वाले पुरुष-सिंह का क्या वर्णन किया जाय ? भरत के रूप में मानों स्वयं मदन ही नर-वेश में गमन कर रहा है—

मणिरहवरे चडिउ णं इंदु णहि वडिउ ।
दढकढिणभुयजुयलु अइवियडवच्छयलु ।
किं भणमि पुरिसहरि वलतुलियकुलसिहरि ।
सद्दूलवरखंधु वहिरंधजणबंधु ।
अलिणीलधम्मेल्लु तेलोक्कपडिमल्लु ।
....
....
संचलिउ भरहेसु णं मयणु णरवेसु ।

(मपु० १२।५।१-८)

एक स्थान पर कवि ने सेना के हाथियों के घोर गर्जन की तुलना प्रलय-काल के क्षुभित सागर से की है—

गज्जइ गज्जंतहिं गयहिं पलयकालि णं खुहियउ सायरु ।

(मपु० १३।१।२४)

निम्नलिखित पंक्तियों में भयकर रूप से गमन करती हुई सेना का वर्णन दंडक छंद में अनुरणात्मक शब्दावली में किया गया है—

जं गुलुगुलंतचोइयमयंग पयभूरिभारभारिज्जमाण भूकंपणमियणाइंदमुक्क-
फुक्काररावघोरं ।
जं हिलिहिलंत वाहियतुरंग खरखुरखयावणीचलियधूलि [illegible]-
विचित्तघोलंतचेलचित्तं ।
जं हणु भणंत [illegible]-
रोलफुट्टंतगयणभायं ।
जं [illegible]-
दणकुसंदणोहं ।

(मपु० १४।३।३-५)

कवि ने त्रिपृष्ठ-हयग्रीव के संग्राम का वर्णन इन शब्दों में किया है—

अब्भिडिय सुहड [illegible], [illegible] ।
[illegible], [illegible] ।
[illegible], [illegible] ।
[illegible], [illegible] ।

णिवडंत छत्ताधय चामराइं,   तुवकडय मउड मणिपिंजराइं ।
कयखगविमाण संघट्टणाइं,   किंकिणिमालादल वट्टणाइं ।
(मपु० ५२।१५।४-६)

लक्ष्मण-वालि के युद्ध में वीर तुमुल युद्ध करते हुए भिड़ते है, संपूर्ण गगन में बाण आच्छादित हो जाते हैं, घावों से विगलित रक्त द्वारा भूमि लोहित वर्ण की हो जाती है। रथ चूर-चूर होते हैं, ध्वजाएं फटती हैं, हाथियों के दृढ़ कवच छिन्न-भिन्न होते हैं, भट भूमि पर गिरते हैं आदि। कवि की भाषा भीषण युद्ध के उत्तरोत्तर गतिमान होने का आभास देती है—

अब्भिट्टइं कयरणकलयलाइ, सरपसरपिहियपिहु णहयलाइं ।
वणवियलिय पिच्छिललोहियाइं, पयघुलियंतावलि रोहियाइं ।
मोडियरहाइं फाडियधयाइं, आसियणहाइं तासियगहाइं ।
लुयदढगुडाइं हयगयघडाइं, ताडियथडाइं पाडियभडाइं ।
खयपेक्खिराइं यिपवखराइं, चुयहरिवराइं कंपियधराइं ।
(मपु० ७५।६।२-६)

राम-रावण वे संग्राम का वर्णन कवि ने बड़ी तन्मयता से किया है। यह विस्तृत भी है। भीषण युद्ध के कारण आकाश में उठती हुई धूलि का अलंकृत वर्णन करते हुए कवि कहता है कि रथिक से रथिक, तुरंग से तुरंग तथा हाथी से हाथी युद्ध कर रहे हैं। पैदल सैनिक दूसरों को भूमि पर गिरा रहे हैं। अश्वों के खुरों से आकाश में धूलि उड़ रही है, मानो पृथ्वी का प्राण हो। उसने भानु को ढंक लिया है। उस धूलि ने मानो चपलता से पतित होती हुई ध्वजा का निवारण कर लिया है। पाण्डुर तथा कपिलांग धूलि कैसी दिखाई देती है, मानो कमल के मकरंद का छत्र है अथवा गज-कपोल से मद झर रहा है। दानशील के साथ कौन नहीं चलता है? देखिए—

रहिएहिं रहिय तुरएहिं तुरय, रणि रुद्ध एंत दुरएहिं दुरय ।
पायालहिं वरपायाल खलिय, कमसंचालेण धरित्ति दलिय ।
हरिखुरखणित्तखउ णं भरंतु, उट्ठिउ धूलीरउ पय धरंतु ।
आयासचडिउ णं पुहइप्राणु, संताविर तें पिहिउ भाणु ।
चवलेण सुद्धवंसहु कएण,   णिवडंतु णिवारिउ णं धएण ।
दीसइ पंडुर कविलंगु केव,   छत्तारविंद मयरंदु जेव ।
खुप्पइ मयथिप्पिरि करिकवोलि, भणु को ण विलग्गइ दाणसोलि ।
(मपु० ७७।६।३-६)

इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि ने युद्ध-वर्णन में जहां परंपरागत शैली का प्रयोग किया है, वहां उसकी भाषा ने उन प्रसंगों को सजीव बना दिया है। आगे चल कर हिन्दी के आदिकालीन काव्यों में अपभ्रंश की द्वित्व वर्ण वाली भाषा-शैली का प्रचुर प्रयोग किया गया है।

मनोविनोद वर्णन

पुष्पदंत ने राजाओं के अनेक प्रकार के मनोविनोदों के वर्णन किये हैं। इनमें नृत्य-गान की गोष्ठियां, जल-क्रीड़ा तथा उपवन-क्रीड़ा उल्लेखनीय है।

नृत्य-संगीत के दो स्थल महापुराण में प्राप्त होते हैं। प्रथम ऋषभ के विवाह के अवसर पर तथा द्वितीय ऋषभ की राज-सभा में नीलंजसा अप्सरा के आगमन पर।

ऋषभ-विवाहोत्सव में संगीत-गोष्ठी का आयोजन चन्द्रिकामयी रात्रि में किया जाता है। कवि प्रथम वाद्य-यंत्रों के यथास्थान रखे जाने का वर्णन करता है, पश्चात् हिंडोल राग के गायन से कार्यक्रम प्रारम्भ होता है और फिर नर्तकियां प्रवेश करती हैं। नव कुसुमांजलि-युक्त अप्सराओं के रंगभूमि में प्रवेश करते ही प्रेक्षकगण मोहित हो उठे, मानो वे देवियाँ साक्षात् कामदेव की धनु-यष्टि ही हों—

आउज्जहुं जेण मुहेण वासु, सा पुव्विल्लोदिसमंडवासु।
तद्दाहिणि उत्तरमुहणिविट्ठु, गायणु तुंबरु देवेंहि दिट्ठु।
तहु संमुहियउ मउगाइयाउ, उवइट्ठउ सरसइ आइयाउ।
तहु दाहिणेण संठियउ सुसिरु, तव्वामएसि वेणइयणियरु।

....

सहसा सुइसोक्खुल्लोलएण, उद्दिक्खणु किउ हिंदोलएण।
थिरवण्णछड्डयधाराविसेसु, कउ णच्चणीहिं पुणु तहिं पवेसु।
उव्वसिरंभाणामालियाहि, आहल्लाभेणइ बालियाहि।
घत्ता—आमेल्लियणवकुसुमंजलिहिं देविहि रंगि पइट्ठियहिं।
मोहिउ जणु मगणमोनणिहिं ण वम्महधणुलट्ठियहिं।
(मपु० ४।१७।८-१४)

अभिनय-दक्ष अप्सराओं के नृत्य से वसुमति डोलती है। नृत्य-नाट्य के नाना अंगों का प्रदर्शन होता है। कवि ने इस प्रसंग में अनेक प्रकार के पद-प्रचार, शरीर के अवयवों के संचालन, शीश-संचालन, भ्रू-नृत्य आदि के उल्लेख करके अपने संगीत-ज्ञान का परिचय दिया है—

जंभेट्टिया—अहिणयकोच्छरो भुवणिहियच्छरो।
णच्चइ सुरवई डोल्लइ वसुमई॥
विरइय णडेंहि णाणाविथार, चारी बत्तीस वि अंगहार।
अण्णण्णदेहपारठवण भिण्णु, करणहं अट्ठोत्तरु सउ विदिण्णु।
चोद्दह वि सीससंचालणाइं, भूलयाइ रंजियमणाइं।
णव गीवउ णयणगुणविसाउ, छत्तीस वि दिट्ठिउ वाविसाउ। आदि।
(मपु० ४।१८।१-९)

नीलंजसा-नृत्य के प्रसंग में भी कवि ने नृत्य के शास्त्रीय विवेचन को प्रमुख स्थान दिया है। (देखिए मपु० ६।५-६)

अपभ्रंश के कवियों में स्वयंभू का जल-क्रीड़ा वर्णन (पउम चरिउ, संधि ४) बड़ा प्रसिद्ध था। पुष्पदंत ने भी उसी के अनुरूप जल-उपवन क्रीड़ा के अनेक वर्णन किये हैं। महापुराण में कृष्ण-नेमि, वसुदेव, विश्वनंदि एवं राजा जयंधर का वर्णन णायकुमार चरिउ में है। जसहर चरिउ में भी नारियों के जल-विहार करने के उल्लेख हैं।

कृष्ण, नेमि आदि शरद् ऋतु के आगमन पर अपनी-अपनी रानियों के साथ मनोहर नामक सरोवर में जल-कीड़ा करते हैं। कवि उनकी अनेक कामोत्तेजक चेष्टाओं का वर्णन करता है। वहां जल क्रीड़ा करती हुई युवतियों पर कृष्ण जल उछालते हैं। किसी युवती की हारावलि-लता विगलित हो गई है, जो शरीर पर ऐसी प्रतीत होती है मानों कमल-पत्र पर जल-कण बिखर गये हैं। किसी युवती ने अपने उरस्थल के कुंकुम से पति को सिक्त कर दिया है, जिसका शरीर रति-रस से रंजित प्रतीत होता है। किसी तरुणी का शरीर वस्त्र-रहित हो गया है जिसके कारण उसके समस्त अंगावयव प्रकट हो रहे हैं। कोई नव-लता रूपी रमणी पूर्ण जल-सिक्त हो गई है, मानो उसके रोमावलि रूपी अंकुर निर्गत हो रहे हैं। कोई कवलित बल होकर कृष्ण की जलांजलि द्वारा आर्द्रित हो गई है तथा विरह की ज्वाला में जल रही है। कोई कान में नील कमल लगाये हुए मानों अपने नेत्रों के वैभव का फल ग्रहण कर रही है।

देखिए—

तहिं जलकील करइ तरुणीयणु, अहिंसिचंतु देउ णारायणु।
काहि वि वियलिय हारावलिलय, सयदलदलजलकण ससय गय।
पयलिउं थणकुंकुमु पइ सित्तउ, णावइ रइरसु राविय गत्तउ।
काहि वि सुण्हु वत्थु तणुघडियउं, अङ्गावयवु सव्वु पायडियउं।
काहि वि सित्तहि णवविल्लि व वर, णं णिग्गय रोमावलिअंकुर।
काहि वि उल्हाणउ कवलियवलु, कण्ह जलंजलिहउ विरहाणलु।
काहि वि दिण्णु कण्णि णीलुप्पलु, गेण्हइ णाइ णयणवइहवहलु।
(मपु० ८८।१८।८-१४)

नागकुमार की जल-क्रीड़ा भी अवलोकनीय है। वह सरोवर में इस प्रकार अपनी पत्नियों के साथ प्रवेश करता है जैसे हाथी हथिनियों सहित हो। कोई नारी अपने निर्वस्त्र शरीर को जल में छिपाती है, कोई अर्ध-उन्मीलित स्तन दिखलाती है तथाकिसी की त्रिवली-तरंग दर्शित हो रही है—

अण्णहिं दिणि वरु सेविउ वरिणिहिं, सरे पइट्ठु करिवक्कम्हु करिणिहिं

पणइणि परिमिएण वित्थारें, सलिलकील पारद्धकुमारें ।

गयणिवसण तणु जलेल्लिवकावइ, अद्धुम्मिल्लु का वि थणु दावइ ।

....

का वि तरंगहिं तिवलिउ लक्खइ, सारिच्छउ तहो सुहयहो अक्खइ ।

(णाय० ३।८।३-६)

रामायण के अंतर्गत राम-लक्ष्मण का अपनी पत्नियों के साथ उपवन तथा जल-विहार करने का वर्णन अत्यन्त मनोहर तथा भाव-पूर्ण है। इस प्रसंग में कवि के उच्च कोटि के काव्य के दर्शन होते हैं। सम्पूर्ण वर्णन पांच कड़वकों में है। कुछ विशिष्ट स्थल देखिए—

अंतःपुर की नारियाँ नवीन पुष्प-मंजरियों को लिये हुए क्रीड़ा कर रही हैं। वे रानियां डोलती हुई तरु-शाखाओं पर क्रीड़ा करती हुई, कानों में किसलय तथा मनोहर पुष्पों का शृंगार किये हुए ऐसी प्रतीत होती है मानों वन में निवास करने वाली देवियां हों।

कोई नारी, जिसके सम्मुख अनेक मयूर नृत्य कर रहे हैं। अत्यन्त भली लगती है। उसके दोनों पार्श्व मे रखे हुए कमलों की नालों के अंत में बैठे भ्रमर ऐसे प्रतीत होते हैं मानों सुर-नर के हृदय विदीर्ण करने वाले कामदेव के वाण हैं।

कोई नारी राम को पुष्प-रज से पिंजरित करके ऐसा दृश्य उपस्थित करती है मानों सन्ध्या-राग के मध्य चन्द्रमा प्रकट हो और वह स्वयं उनके साथ शरद्-मेघ सी शोभित होती है।

सहुँ अंतेउरेहिं कीलारय, गहियणवल्लफुल्लमंजरिरय ।

घत्ता—कयकिसलयकण्णउ कुसुम रवण्णउ णं देविउ वणवासिणिउ ।

दुमसाहंदोलणि उववणकोलणि लग्गउ रायविलासिणिउ ॥

(मपु० ७१।१३।१८-१२)

काइ वि जणणयणइं रंजिंतिए, मोरें सहुँ सहासु णच्चंतिए ।

सोहइ कमलु दुवासिहिं धरियउ, णालंतालिपिंतिविप्फुरियउ ।

णाइं कंडु रइणाहहु केरउ, दावइ सुरणरहिययवियारउ ।

....

काइ वि जाइवि मउइं धरियउ, कुसुमरएण रामु पिंजरियउ ।

संझाराएं णं मयलंछणु, तेण स सोहइ णं सारयघणु ।

(मपु० ७१।१४।६-१०)

कोई नारी कुंद-पुष्पों से अपने दातों की तुलना दर्पण में मुख देखती हुई करती है। कोई बकुल-पुष्प से अपने शरीर की सुगंध की तथा कोई बिंबाफल से अधरों की समता करती है। कोई बाला पुष्पित आम्र-वृक्ष को देख वासुदेव (लक्ष्मण) के साथ बाहु-युद्ध करने की आकांक्षा करती है। कोई सुखकारिणी इक्षु-दंड लिये हुए मानों काम-धनु-धारिणी प्रतीत होती है। कोई पुष्प-मालाओं के रूप में मानों कामदेव के के बाण ही लिये है। कोई पलाश के प्रसूनों को बीन कर लक्ष्मण को भेंट करती है। कोई श्याम वर्ण वाली कोकिल को देख कर कहती है कि वसंत में यह भी अत्यन्त वाचाल हो गई है। यह मनुष्यों को विरहाग्नि के धूम से काली हो गई है इसका स्वर मधुर भी है, और विषाक्त भी है, जो प्रवासी व्यक्ति के मरण का कारण है। हे सखी, यदि लक्ष्मण मेरे साथ आज रमण करें तो कोकिल का शब्द मुझे निश्चय ही सुखदायी प्रतीत होगा—

काचि कुंदकुसुमइं णियदंतहिं, जोयइ दप्पणि समउ फुरंतहिं।
वउलु परिक्खइ णियतणुगंधें, बिंबोहलु अहरहु संबंधें।
क वि फुल्लिउ साहारु णिरिक्खइ, वाली हरिसाहारणु कंखइ।
....
कां वि उच्छुकरयल सहकारिणि, णावइ विसमसरासणधारिणि।
का वि फुल्लमालउ संचारइ, सरु सरपंतिउ णं दक्खालइ।
का वि पलासपसूयइं वीणइ, केकयतणयहु पाहुडु आणइ।
....
काइ वि कोइल कसण णिरिक्खिय, पुच्छिय अवरइ विहसिवि अक्खिय।
संपहि एह वि बोल्लणसीली, जणविरहाणलधूमें काली।
एयहिं सद्दु महुरु महुरउ विसु, दोहिं मि हम्मइ पवसिउ माणुसु।
जइ महु लक्खणु अज्जु रमेसइ, ता हलि कलयलविउ सुहुं देसइ।
(मपु० ७१।१५।१-१३)

इसी प्रसंग में जल क्रीड़ा भी द्रष्टव्य है। कवि कहता है कि जल से आर्द्र सीता ऐसी प्रतीत होती हैं, मानों दर्पण-सदृश हृदय में पुण्य प्रवृत्ति हो। दूसरी ओर राम के उरस्थल पर नील कमल ऐसा शोभित होता है। मानों पूर्ण चन्द्र में मृगमल है।

लीला-सहित हँसती हुई सुन्दरियों द्वारा सिंचन किया गया जल ऐसा प्रतीत होता है जैसे कर्पूर के कण उछल रहे हों। प्रिय द्वारा जल उछाले जाने के कारण किसी की कंचुकी का सूत्र ही टूट जाता है और इस प्रकार वस्त्र हट जाने से वह लज्जित होकर जल में अपना अंग छिपा लेती है—

सीयापंजलि पाणियसित्तहु, णं दप्पणयलि पुण्णपवित्तहु।
दीसइ रामहु उरि णीलुप्पलु, सोहइ णं छणयंदहु मयमलु।
....

सिंचिय सिंचिय हसइ सलीलउ उच्छलंत कप्पूर कणालउ ।
काहि वि पियकरजल विच्छुलियहि, मुत्तजालु तुट्टउ कंचुल्लियहि ।
अल्लउ परिहणु ढलिउ विहाविउ, लज्जइ सलिलि अंगु लिहुक्काविउं ।
(मपु० ७१।१६।१-८)

इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि की तूलिका आनन्द और उल्लास के स्थलों में अपनी रुचि के कितने ही रंग भरती है। धार्मिक कथा को मनोरम बनाने में ऐसे प्रसंग निश्चय ही महत्वपूर्ण सिद्ध होते हैं।

संवाद

प्रबन्ध-काव्यों के कथानकों में रोचकता उत्पन्न करने के उद्देश्य से संवादों का नियोजन किया जाता है। इसके द्वारा नाटकीय वातावरण की सृष्टि होकर कथा-प्रवाह आगे बढ़ता है। इसके अतिरिक्त संवादों के माध्यम से पात्रों के चरित्र-चित्रण भी अधिक प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

काव्य में संवाद-परंपरा अति प्राचीन है। रामायण में लक्ष्मण-परशुराम तथा अंगद-रावण के संवाद बड़े प्रसिद्ध हैं। वाल्मीकि के पश्चात् तुलसी ने इन संवादों का वर्णन अत्यन्त कौशल से किया है। केशव ने रामचंद्रिका में इन संवादों का और भी अधिक व्यंग्य तथा तर्क-पूर्ण भाषा में प्रस्तुत किया है।

कुशल संवाद-लेखन के लिये कवि में प्रत्युत्पन्नमति, व्यवहार-कुशलता, एवं राजनीति के ज्ञान के अतिरिक्त भाषा पर पूर्ण अधिकार होना आवश्यक है। हमारे कवि में ये समस्त गुण विद्यमान हैं। राज-वर्ग के सम्पर्क में रहने के कारण वह दरबारी शिष्टाचार, कूटनीति आदि से पर्याप्त परिचित था। परन्तु कवि के स्वभाव की सबसे प्रमुख विशेषता उसका स्वाभिमान है, जिसकी छाया उसके संवादों में स्पष्ट परिलक्षित होती है।

कवि के श्रेष्ठ संवाद रामायण (उत्तर पुराण के अंतर्गत) में प्राप्त होते हैं। इनमें उल्लेखनीय संवाद चन्द्रनखो-सीता, हनुमान-सीता, रावण-मंदोदरी, रावण-हनुमान एव रावण-विभीषण के हैं। आदि पुराण में भरत-दूत तथा बाहुबलि का सम्भाषण भी सुन्दर है। राम-दूत हनुमान तथा भरत के दूत में दूतत्व के सभी लक्षण, यथा भाषा-प्रवीणता, पाण्डित्य, मिष्ट-भाषण, गाम्भीर्य, धैर्य, स्वामिभक्ति, साहस, पर-चित्त को समझना, स्वपक्ष का कुशलता से पोषण करने में दक्ष होना आदि प्राप्त होते हैं।

निम्नलिखित पंक्तियों में कुछ विशिष्ट संवादों का परिचय प्रस्तुत किया जाता है।

ऋषभ-पुत्र भरत अपने भ्राता बाहुबलि को अपनी अधीनता स्वीकार करने के अभिप्राय से दूत भेजते हैं। दूत बाहुबलि की स्तुति करके (मपु० १६।१४) आसन पर बैठता है। कुशल-क्षेम पूछे जाने पर वह चतुराई से कहता है कि और तो सब कुशल

है परन्तु अकुशल यही है कि आप अपने भ्राता से दूर हैं। दूर रहते हुए बंधु-स्नेह दुष्टों द्वारा उसी प्रकार नष्ट हो जाता है जैसे रवि अपनी किरणें पंकज तक भेजना तो चाहता है, परन्तु जलधर बीच में ही उन्हें रोक लेते हैं—

एक्कु जि अकुसलु सुहिउक्कंठिउ, जं तुहुं देव दूरि परिसंठिउ।
घत्ता—दूरत्थहं बंधुहुं णेहु जइ णासइ पिसुणकयंतरु।
रवि मेल्लइ किरणइं पंकयइं ताइं णिवारइ जलहरु।

(मपु० १६।१५।१५-१७)

पश्चात् दूत और भी चतुराई से अपना वास्तविक मन्तव्य प्रकट करता हुआ विनीत शब्दों में कहता है कि जिस भ्राता को भुजाओं में आलिंगन किया, उसी के प्रति अविनीत होना लज्जा की बात है। कुल के स्वामी, महाबली राजा के सम्मुख जो नमित नहीं होते, उनका गृह दरिद्र हो जाता है, (मपु० १६।१६।१०-१३)। अपने स्वामी भरत की दिग्विजय तथा अन्य महान् कार्यों का वर्णन करके वह दृढ़ता के साथ बाहुबलि को चेतावनी देता है—

मा पज्जलउ तासु कोवाणलु, मा णिड्डहउ तुहारउ भुयबलु।

(मपु० १६।१८।८)

बाहुबलि को यह धृष्टता असहनीय प्रतीत होती है। वह कहता है कि मेरे सम्मुख आकर कौन मेरे प्रभुत्व का हरण कर सकता है? भरत का चक्र-दण्ड तो मेरे लिए कुम्भकार के चक्र के ही समान है—

चक्कु दंडु तं तासु जि सारउ, महु पुणु णं कुभारहु केरउ।

(मपु० १६।१९।८)

बाहुबलि द्वारा युद्ध का संकेत किये जाने पर दूत कहता है कि जैसे पत्थर से मेरु का दलन, खर द्वारा मातंग का स्खलन, खद्योत द्वारा रवि का निस्तेजन, तथा घूंट द्वारा जलधि का शोषण असंभव है, उसी प्रकार आप भरत को नहीं जीत सकते—

पत्थरेण किं मेरु दलिज्जइ, किं खरेण मायंगु खलिज्जइ।
खज्जोएं रवि णित्तेइज्जइ, किं घुट्टेण जलहि सोसिज्जइ।

....

किं पइं भरहणराहिउ जिप्पइ।

(मपु० १६।२०।३-४, १०)

अब अधिक सहन करना बाहुबलि की शक्ति से परे था। वह युक्ति के साथ कहता है कि जो पर-द्रव्य हरण करता है अथवा कलहकारी है, वह राजा कैसे हो सकता है? वृद्ध जम्बुक-शिवा के समान ये शब्द सुनकर मुझे हँसी आती है। जो बलवान चोर है, वही राजा हो जाता है और निर्बल को निष्प्राण कर देता है—

जे परदविणहारिणो कलहकारिणो ते जयम्मि राया ।
वुड्ढउ जंबुउ सिव सद्दिज्जइ, एग णाइं महु हासउ दिज्जइ ।
जो वलवंतु चोरु सो राणउ, णिव्वलु पुणु किज्जइ णिप्पाणउ ।

(मपु० १६।२१।२-४)

अंत में दूत से स्पष्ट शब्दों में बाहुबलि कहता है कि हे दूत, मानभंग होने पर जीवन की अपेक्षा मृत्यु श्रेष्ठ है। यही मेरा दृढ़ निश्चय है। भाई आवें तो मैं रण में उन्हें संध्या-राग के सदृश क्षण में परास्त कर दूँगा—

माणभंगि वर मरणु ण जीविउ, एहउ दूय सुट्ठु महं भाविउं ।
आवउ भाउ थाउ तहु दंसमि, संझाराउ व खणि विद्धंसमि ।

(मपु० १६।२१।८-९)

बाहुबलि के इन शब्दों में मानो स्वयं कवि की आत्मा झांकती सी प्रतीत होती है। यही कारण है कि कवि ने बड़े मनोयोग से इस प्रसंग का वर्णन किया है।

दूसरा संवाद सीता तथा रावण की बहन चंद्रनखी (शूर्पनखा) का है। रावण चंद्रनखी को सीता के हृदय का मर्म ज्ञात करने के लिये वाराणसी भेजता है। एक वृद्धा के रूप में वह सीता के निकट जाकर कहती है कि तुमने पूर्व-भव में जिस व्रत के प्रभाव से ऐसा लावण्य, ऐसा पति तथा ऐसी लक्ष्मी प्राप्त की है, मैं भी उसी व्रत की साधना करके वैसा ही स्त्रीत्व प्राप्त करना चाहती हूँ, (मपु० ७१।१९।४-९)। इस पर सीता नारी-जन्म की अनेक कुत्सित बातों का उल्लेख करती हुई कहती है, कि तू नारीत्व क्यों चाहती है? रजस्वला होने पर नारी को कोई भी नहीं छूता। निज वंश की प्रभुता भी उसे प्राप्त नहीं होती। वह अन्य कुल में उत्पन्न होती तथा अन्य कुल में रहती है। स्वजन-वियोग से रोती है और जीवन भर उसे पराधीन होकर रहना पड़ता है, (मपु० ७१।१९।७-१०)। आगे पतिव्रत धर्म का उपदेश देती हुई कहती है कि—

जइ सइं चक्केसरु अहव सुरेसरु तो वि अण्णु णरु जणणसमु ।
चिंतेव्वउ णारिहिं कुलगुणधारिहिं णउ लंघेव्वउ गोत्तक्कमु ।

(मपु० ७१।१९।१४-१५)

इस प्रकार सीता ने बड़ी युक्ति के साथ चंद्रनखी को अपनी इच्छा से परिचित करा दिया। अब वह मन में सोचती है कि इसका शील कौन खंडन कर सकता है? अंत में वह निरुत्तर हो कर लंका चली जाती है।

लंका में सीता-हनुमान संवाद भी सीता के सतीत्व तथा हनुमान की कुशाग्र बुद्धि का परिचय देता है। हनुमान सीता को प्रणाम करके तथा राम की मुद्रा उनके सम्मुख रखकर अत्यन्त सरल शब्दों में अपना परिचय देते हैं—

परमेसरि मइं रंजियमणाए, परियाणहि पुत्तु पहंजणाए ।
रामहु दूयउ हणुवंत णामु, विज्जाहर वर वीसमउ कामु ।

(मपु० ७३।२५।८-९)

पश्चात् वे राम की दशा का वर्णन करते हैं—

तुह विरहखीणु मायंगगामि, पइं सुमरइ अणुदिणु रामसामि ।

घत्ता—णउ वोल्लइ ण परिग्गहि रमइ का वि णारि णालोयइ ।
जोईसरु सासइ सिद्धि जिह तिह पइं पइ णिज्झायइ ।

(मपु० ७३।२५।१०-१२)

अर्थात् हे गजगामिनी, तुम्हारे विरह में क्षीण स्वामी राम अनुदिन तुम्हारा ही स्मरण करते हैं। न बोलते हैं, न किसी अन्य नारी की ओर देखते हैं। जिस प्रकार योगीश्वर सिद्धि-साधना करते हैं, उसी प्रकार तुम्हारे पति भी तुम्हारे ध्यान में लीन रहते हैं।

हनुमान के इन शब्दों ने सीता को कितना आश्वस्थ किया होगा, इसका अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। परन्तु इसके साथ ही उनके मन में एक शंका उत्पन्न हो जाती है और वे सोचने लगती हैं कि कहीं हनुमान, मुझे छलने के लिये, मायावी रावण की प्रेरणा से तो नहीं आया है ? मेरा अनशन भंग करने के अभिप्राय से रावण ने यह माया तो नहीं रची है ? चतुर हनुमान सीता के शंकालु हृदय को तुरंत ही पहचान लेते हैं और वे सीता को राम सम्बन्धी उन बातों का स्मरण दिलाते हैं जो केवल अत्यन्त निकटवर्ती परिजनों को ही ज्ञात हो सकती हैं—

सुणि रामदूउ हउं कह ण होमि, गूढइं अहिणाणवयाइं देमि ।
एक्कहिं दिणि पइं किउ पणयकोउ, छिकिउ राहवु अणुहुत्तभोउ ।
वलउल्लउ चप्पिउं सहुं करेण, पइं णिद्धणाह णेहायरेण ।

घत्ता—हारावलि थणयलि संजमिय णयणइं वि सताविच्छइं ।
पइं वियसियकुसुमइं सिरि कयइं पइजीवियणेवत्थइं ।

(मपु० ७३।२६।८-१२)

अर्थात् हे सीते, मैं राम दूत के अतिरिक्त अन्य नहीं हूँ। अपने वास्तविक परिचय के लिए मैं आपको एक गूढ़ बात बतलाता हूँ। एक दिन आपने प्रणय-कोप किया था। तब राम ने स्वयं आपका हार, नेत्रांजन आदि से शृंगार किया था। उन सौभाग्य चिह्नों को धारण कर आप कुसुमवत् विकसित हुईं थीं।

हनुमान द्वारा इस प्रकार विश्वस्त किये जाने पर ही सीता ने उन्हें वास्तविक राम-दूत समझा।

हनुमान तथा रावण का वार्त्तालाप भी महत्त्वपूर्ण है। लंका में सर्व-प्रथम वे विभीषण के यहाँ जाकर प्रशंसात्मक शब्दों में कहते हैं कि जिस घर में आप जैसा

गुणवान, न्यायवंत तथा भक्त पुरुष हो, वहाँ पर-नारी की आसक्ति कैसे उत्पन्न हो सकती है ? अतः हे विभीषण, आप रावण से प्रार्थना करें कि वह सीता को लौटा दे। पराक्रमी राम के सम्मुख आपका भ्राता क्यों गर्व करता है, (मपु० ७४।६।६-११)। आगे वे राम-लक्ष्मण की सेना एवं उनकी शक्ति का अनेक प्रकार से बोध कराते हुए युद्ध के भयंकर परिणामों की ओर भी संकेत करते हैं—

अज्ज वि णारुसइ दासरहि, अज्ज वि ण कुहइ नवलणउवहि।
चउरासीलक्ख धराधरहं, कोडिउ पण्णास भयंकरहं।

(मपु० ७४।१०।३-४)

इसके उपरान्त वे स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि अभी समय है कि आप सीता को शीघ्र वापस करा दीजिए और अपने बंधु की भावी मृत्यु को रोकिए—

अज्ज वि अप्पावहि सीय तुहुं, मा पइसउ बंधउ जमहु मुहं।

(मपु० ७४।१०।७)

विभीषण हनुमान को साधुवाद देते हैं—

रामानुएण तां भासियउं, पइं चारु चारु उवएसियउं।

(मपु० ७४।१०।११)

परन्तु वे रावण के स्वभाव से परिचित थे, अतः स्वयं हनुमान को उसकी सभा में ले जाते है।

नीति-कुशल रावण अनजान सा बन कर हनुमान से उनके आने का अभिप्राय पूछता है—

पभणइ पहु जडकोइडावणिय, किं विहिय सेव रामहु तणिय।
हा कट्ठु कट्ठु कणएं जडिउ, माणिक्कु अमेज्झमज्झि पडिउ।
कहिं तुहुं कहिं सो तुह सामि हुउ, भणु को ण विहाणवसेण चुउ।
अह एण वियारें काइं महुं, आओ सि काइं कहि कज्जु लहु।

(मपु० ६४।११।३-६)

अर्थात्—तू राम की कौन सी सेवा करने आया है ? हाय, तू ऐसा ही है, जैसे निद्य काष्ठ में स्वर्ण जड़ दिया गया हो अथवा माणिक्य अमेध्य में पड़ गया हो। कहाँ तू है और कहां तेरा स्वामी ? कहो विधि-वश कौन च्युत नहीं होता ? बोल, तू यहाँ किस विचार से आया है ? कौन सा कार्य है ?

हनुमान रावण के प्रशंसात्मक शब्दों में आने वाले न थे। उसके उद्दण्ड स्वभाव को भी जानते थे। अतः वे रावण की अनेक प्रकार से प्रशंसा करते हुए विनयपूर्वक सीता को लौटाने तथा राम से संधि करने का प्रस्ताव रखते हैं।

(मपु० ७४।११।७-१४ तथा ७४।१२।१-७)

नीति-कुशल दूत के वचन सुनकर रावण उत्तर देता है—

तं णिसुणिवि लंकेसरु भणइ, को रंडकहाणियाउ सुणइ ।
महु किंकरु ताव पढमु जणउ, पुणरवि दसरहु दसरहतणउ ।
तहु दिण्णी हउं किं खिर खमगि, घरलंजिय सीउ किं ण रममि ।
घत्ता—पुव्व पउत्त महु पच्छइ रहुणाहहु दिण्णी ।
सोच्छिद्दिवि मृगेण मइं आणिय णयणरवण्णी ।

अर्थात्—तेरी रांड-कहानो कौन सुने ? देख, प्रथम तो जनक मेरा किंकर है, फिर दशरथ भी और इस प्रकार राम भी मेरे दास ही हैं। उसी राम को जनक ने सीता दे दी । भला मैं उसको कैसे क्षमा कर सकता हूँ ? उस गृह-दासी सीता के साथ मैं क्यों न रमण करूं ? प्रथम कथनानुसार वह मेरी है, पश्चात् वह राम को दी गई। इसी कारण मैं मृग के द्वारा छलकर उसे ले आया हूँ ।

रावण के ये वचन हनुमान को कैसे सहन होते ? वे उसे अनेक प्रकार से धिक्कारते हैं और अंत में लौट जाते हैं ।

इस प्रकार कवि ने अपने संवादों को अत्यन्त रुचिकर बनाने की पूर्ण चेष्टा की है । भाषा में सूक्तियों के प्रयोग से कथोपकथन सशक्त तथा स्वाभाविक बन गये हैं ।

विलाप-वर्णन

करुण रस को व्यंजना में विलाप के वर्णन संस्कृत काव्यों में प्राप्त होते हैं । इस दृष्टि से कालिदास के काव्य विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं । उनके कुमार संभव में रति का विलाप तथा विक्रमोर्वशीय में राजा पुरुरवा का उर्वशी के लिये रुदन अत्यन्त मार्मिक है ।

अपभ्रंश काव्य में इस परंपरा को और आगे बढ़ाया गया है । स्वयंभू ने विलाप के सुन्दर वर्णन किये हैं ।[1] हमारे कवि के विलाप-प्रसंग भी हृदय में सहज ही करुण भाव उत्पन्न कर देते हैं । इसके अतिरिक्त धवल कवि (१०-११ वीं शताब्दी) के हरिवंश पुराण में कंस-वध के प्रसंग में परिजनों के विलाप[2] तथा यशःकीर्ति (सं० १५०० वि०) के हरिवंश पुराण में जीवंजसा का विलाप[3] भी उल्लेखनीय है । करकंड चरिउ (मुनि कनकामर कृत, लगभग १०६५ ई०) में रतिवेगा का विलाप भी द्रष्टव्य है ।[4]

---

(१) देखिए-पउम चरिउ में लक्ष्मण के लिये अतः पुर की स्त्रियों के विलाप (६९।१३), रावण के लिये मंदोदरी का विलाप (७६।१०), एवं अंजना के लिये पवन का विलाप (१९।१३) ।

(२) अपभ्रंश साहित्य, पृ० १०८ । (३) वही, पृ० १२५

(४) वही, पृ० १८८

महापुराण में सहस्रबाहु द्वारा जमदग्नि का वध किये जाने पर रेणुका भूमि-पतित होकर स्वामी के शव को देखती हुई रुदन करती है—

महि पलोट्टइ णियसामि णिहालइ, पुच्छि विज्जइ जोहइ लालइ

....

हा हा कंत कंत कि सुत्तउ, कि ण चवहि महुं काइं विरत्तउ ।

मुच्छिओसि कि तव संतावें, कि परवस थिउ झाणपहावें ।

लइ कुसुमाइं घट्टइ लइ चंदणु, करहि भडारा संझावंदणु ।

घत्ता—उट्ठि णाह जलु ढोवहि तण्हाणि रसणउं ।

करि सहवासियहरिणहं करयलफंसणउं ।

(मपु० ८५।२०।४-११)

अर्थात्–हा कंत, क्या तुम सो गये ? मुझसे क्यों नहीं बोलते, क्या विरक्त हो गये हो ? क्या तप के संताप से मूर्छित हो गये हो ? क्या ध्यान के प्रभाव से स्थिर हो गये ? पुष्प और चंदन लेकर संध्या-वंदन करो । हे नाथ, उठो जल लाकर तृष्णा शान्त करो । सहवासी मृगों को अपने कर स्पर्श से तृप्त करो ।

दूसरा प्रसंग रावण की मृत्यु पर मंदोदरी के विलाप का है । वह रावण के पराक्रम तथा वैभव का स्मरण करती हुई करुण शब्दों में कहती है—

दुवई—हा केलाससेलसंचालण हा दुज्जय परक्कमा ।

हा हा अमरसमरडिंडिमहर हा हरिणारिविक्कमा ।

हा भत्तारहारमणरंजण, हा भालयलतिलय णयणंजण ।

हा मुहसररुहरसरय महुयर, हा रमणीयणणिलय मणोहर ।

....

हा लंकाहिव खेयरसामिय, देव गंधमायणगिरिगामिय ।

हा मंदरकन्दरकयमंदिर, दिव्वपोमसरपोमिंदिंदिर ।

पइं विणु जगि दसास जं जिज्जइ, तं परदुक्खसमूहु सहिज्जइ ।

हा पिययम भणंतु रोवाउल, कन्दइ णिरवसेसु अंतेउरु ।

(मपु० ७८।२२।१-१३)

अर्थात् हे कैलाश पर्वत को उठाने वाले, हा दुर्जय पराक्रमवान, हा समर में देवों को परास्त करने वाले, हा सिंह सम शक्तिवान, हा मेरे मनोज्ञ मनरंजन करने वाले स्वामी, हा मेरे भाल के सिन्दूर तथा नेत्रों के अंजन, हा मेरे मुख रूपी पंकज के मधुकर, हा रमणियों के मनोहर निलय, लंकाधिप, विद्याधरों के स्वामी, गंधमादन गिरि-गामी देव, पर्वत-कन्दराओं को मंदिर बनाने वाले दिव्य पद्म सरोवर के भ्रमर, आपके बिना जीवित रहने पर मुझे घोर दुःख भोगना पड़ेगा । इस प्रकार हा प्रियतम, हा प्रियतम, कहती हुई मंदोदरी तथा समस्त अंतःपुर की नारियाँ विलाप करती है ।

इसी समय विभीषण भी वहाँ आते हैं। समस्त मतभेदों को भूल कर उनका भी हृदय अपने भ्राता के लिये क्रन्दन कर उठता है। कवि ने इस समय उनके शब्दों में आत्म-ग्लानि का प्रदर्शन करके प्रसंग को और स्वाभाविक बना दिया है। वे कहते हैं—

हा हा कयउ कम्मु मइं भीसणु, णियतणु पहणिवि रुयइ विहीसणु।
अज्जु सरासइ सत्थु ण सुयरइ, अज्जु कित्ति दसदिसहिं ण वियरइ।
जयसिरि पत्त अज्जु विहवत्तणु, गयउ अज्जु पहु सत्तिपवत्तणु।
अज्जु इंदु भयवसहु म गच्छउ, अज्जु चंदु सहुं कंतिइ अच्छउ।
अज्जु तिव्वु णहि तवउ दिणेसरु, अज्जु सुयउ णिच्चितु फणीसरु।

अर्थात्-हाय, मैंने भीषण कार्य किया था। आज भ्राता की मृत्यु पर सरस्वती पाठ नहीं करती। आज कीर्ति दशों दिशाओं में भ्रमण नहीं करती। जय-श्री भी आज विधवा हो गई। आज शक्ति का प्रवर्तक प्रभु चला गया। आज इंद्र को भयभीत हो कर चलने की आवश्यकता नहीं। आज चंद्रमा अपनी पूर्ण कान्ति के साथ चमके, आज सूर्य नभ में तीव्रता से तपे और आज शेष निश्चित होकर सोवें।

आगे वे कहते हैं कि नारद नहीं आए, वरन् नारद के वेश में स्वयं तुम्हारी भावी मृत्यु आई। तुमने सीता हरण नहीं, वरन परिजनों के धैर्य का हरण किया। राम तुमसे क्रुद्ध नहीं हुए, वरन् स्वयं यमराज ही रुष्ट हुए। लक्ष्मण ने तुमसे युद्ध नहीं किया, वरन् स्वयं तुम्हारे कुल-क्षय ने किया। तुम्हारा मरण वैसे ही हुआ जैसे वज्र को घुन लग गया हो। हाय, तुम्हारे विना मैं कैसे जीवित रहूँगा ? हाय, यम ने मुझे ही क्यों न अपना ग्रास बना लिया—

णारउ णाउ आउ णासणविहि, सोय ण हित्त हित्त परियणदिहि।
रामु ण कुद्धु कुद्धु जगभक्खउ, लक्खणु ण भिडिउ भिडिउ कुलक्खउ।
....

किह कुलिसु वि घुणेहिं विच्छिण्णउ, तुज्झु वि मरणु केवसंपण्णउं।
हा पइं विणु मइं काइं जियंते, हा हउं कवलिउ किं ण कयंते।
(मपु० ७८।२८।३-४,१२-१३)

णायकुमार चरिउ मे पुत्र के कूप मे गिर जाने पर पृथ्वी देवी का करुण-विलाप इन शब्दों में वर्णित किया गया है—

तं णिसुणिवि विलुलिय मेहलिय, पुहईमहएवि विसंठुलिय।
धाइय रोवइ पत्थिवघरिणि, णियकलहविओइय णं करिणि।
हा पुत्त पुत्त तामरसमुह, हा पुत्त पुत्त किं हुयउ तुह।
बहु दुक्खसयाइं सहंतियए, पइं विणु किं मइं जीवंतियए।
इय पभणिवि मरणु जि चिंतियउ अप्पाणउ तित्थु जि घत्तियउ।
(णाय० २।१३।१-५)

इसी प्रकार जसहर चरिउ में भी पिता यशोधर की मृत्यु पर जसवइ विलाप करता है—

णिवडिउ महिमंडलि थरहरंतु णं वज्ज णिहाएं गिरि महंतु।
उम्मुच्छिउ धाहावंतु राउ, हा पइं विणु जगु अंधारु जाउ।
सोयणहं लग्गु हा ताय ताय, पइं विणु महु भग्गो छत्तछाय।
पइं विणु मुणणउं वरवीढु जाउ, एवहिं को सामि अवंतिराउ।
विणु ताएं रज्जहो पडउ वज्जु, विणु ताएं महु ण सुहाइ रज्जु।
(जस० २।२५।३-७)

इन प्रसंगों के आधार पर हम कह सकते हैं कि कवि विषाद के स्थलों का चित्रण करने में उतना ही पटु है जितना कि मनोविनोद के उल्लास का अंकन करने में।

अपभ्रंश काव्य के विलाप वर्णन की यह पद्धति हिन्दी में जायसी के नागमती के विलाप तथा हरिऔध के प्रिय-प्रवास में भी देखी जा सकती है।

नख-शिख वर्णन

साहित्य में नख-शिख वर्णन की परंपरा हमे प्राचीन समय से ही प्राप्त होती है। संस्कृत काव्यों में नायिका के अंग-प्रत्यंग के वर्णन प्रचुर परिमाण में किये गये हैं। अपभ्रंश के कवियों ने भी अपने काव्यों में इसे महत्वपूर्ण स्थान दिया है।

हमारे कवि ने अपने विशिष्ट पात्रों के नख-शिख वर्णन में यद्यपि अधिकतर परंपरागत उपमानों की सहायता ली है, फिर भी उन स्थलों में उसे अपनी कल्पना को उड़ान का अच्छा अवसर मिल गया है। नीचे हम उसके कुछ चुने हुए नख-शिखों का विवरण उपस्थित कर रहे हैं—

मपु० २।१५-१६ में ऋषभ की माता मरुदेवी का नख-शिख वर्णन है। कवि अत्यन्त मनोयोग से उसके अंगों का सौन्दर्य अंकित करता है। यहां उसे पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई है।

मपु० ५।१७।५-१५ में ऋषभ की पुत्री सुन्दरी का नख-शिख है। यहां अवसर होते हुए भी कवि ने अपनी कल्पना का विशेष उपयोग नहीं किया। प्रत्येक अंग के लिये एकाध कल्पनाएं करके वर्णन पूर्ण किया गया है। इसी प्रकार मपु० २१।१५।८-६ में केवल तीन पंक्तियों में स्वयंप्रभा के कुछ अंगों का सामान्य चित्रण है। परन्तु उसी का श्रीमती के भव में सुन्दर वर्णन किया गया है। (मपु० २२।४)

मपु० २८।१२।७-११ तथा २८।१३।१-८ में राजा अकंपन की पुत्री सुलोचना का नख-शिख है। यह अनेक सुन्दर भावों से पूर्ण है।

मपु० ५।१४।८-१६ में बाहुबलि के नख-शिख वर्णन में अंगों के लिये कुछ उपमान सामान्य जीवन से ग्रहण किये गये हैं, अतः वर्णन में स्वाभाविकता के स्थान पर

स्वाभाविकता आ गई है। इसके साथ ही भाषा में कोमल वर्णों के नियोजन से और सरता आ गई है। देखिए—

गज्जमाणजलहरजलणिहिसरु, फलिह पईहथोरकरपंजरु।
पुण्णमियंकुवयणु जराहलतरु, सिरिकीलागिरिदसमभुयसिरु।
पुरकवाडपविउलवच्छत्थलु, विससद्दु लखंधु अविचलबलु।
दलियारामयगलगलसंखलु, णीलणिद्धमउपरिमियकुंतलु।
तणुमज्झप्पएसि रइ रंगउ, अंगें सहुँ जि अउव्वु अणंगउ।
वियडणियंबु तंबविबाहरु, उच्चुचावजीयासंधियसरु।

घत्ता—णवजोव्वणि जायइ घणि पचाँहि तेहि पयंडहि।
पुरथीयणु कंपियमणु विद्धउ कोसुमकंडहि॥

यहाँ वक्षःस्थल के लिये पुर-कपाट तथा अंश-अवलम्बित केशों के लिये हाथी के गले में पड़ी हुई शृंखला के उपमान द्रष्टव्य हैं।

मपु० २१।१३।४-१३ में किये गये ललितांग देव के नख-शिख वर्णन में कवि विभिन्न अंगों में धारण किये हुए आभूषणादि द्वारा उसके देव-स्वरूप का लावण्य अंकित करता है।

मपु० ७०।१० तथा ११ में सीता के नख-शिख की विशेषता यह है कि कवि उसके अंगों का सादृश्य दिखा कर ही चुप नहीं रह जाता वरन् प्रत्येक अंग के सौन्दर्य का व्यापक प्रभाव अंकित करके रूप-विधान का सुन्दर उदाहरण उपस्थित करता है। कुछ पंक्तियाँ देखिए—

कडियलु गरुयत्तणगुणणिहाणु, इयरह कह गरुयहं महइ माणु।
गंभीरिम णाहिहि णवर होउ, इयरह कह णिवडिउ तहिं जि लोउ।
पत्तलउं उयरु सिंगारु करइ, इयरह कह मुणिपत्तत्तु हरइ।
सकयत्थउ मुट्ठिहि मज्झु खीणु, इयरह कह दंसणि विरहि रीणु।
वलियाहिं तीहिं सोहइ कुमारि, इयरह कह तिहुयणहिययहारि।

मपु० ८५।२१ कवि ने कृष्ण का नख-शिख वर्णन किया है। यहाँ अंगों के लिये अनेक कल्पनाओं की योजना की गई है। कुटिल केशों को वृद्ध मंत्री तथा पर-मन-हारिणी कान्ता के समान बतलाया गया है।

णाय० १। ७।४-१६ में कवि ने अत्यन्त तल्लीनता के साथ नव-वधू के रूप में पृथ्वी देवी के नख-शिख का वर्णन किया है। यहाँ त्रिवली को लावण्य रूपी जल में उठती हुई तरंगें कहा गया है। वर्णन के अंत में कवि कहता है कि जब कुटिल भौंहों के द्वारा कामदेव ने प्रथम ही लोगों को धराशायी कर दिया, तब केशों की कुटिलता (घुंघराले होना) की आवश्यकता ही क्या थी—

जइ भउहांकुडिलत्तणेण णर सरधणुरुहेण पहय मय ।
तो पुणु वि काइं कुडिलत्तणहो सुन्दरिसिरि धम्मिल्लगय ।

णाय० ३।४ में नागकुमार के अंगों का अलंकृत वर्णन है। यह स्थल वराह मिहिर की बृहद् संहिता (अध्याय ६७, श्लोक ८५-८८) में दिये हुए नख-शिख वर्णन से मिलता-जुलता है।[1]

नख-शिख मध्ययुगीन काव्य का प्रिय विषय रहा है। अपभ्रंश के प्रायः सभी उत्कृष्ट काव्यों में ऐसे वर्णन देखे जा सकते हैं। स्वयंभू ने सीता (पउम चरिउ, ३८।३) तथा मंदोदरी (पउम चरिउ, १०।३) के सुन्दर वर्णन किये हैं। इसके अतिरिक्त अब्दुल रहमान के संदेश रासक (२।३२-३६), धाहिल के पउम सिरी चरिउ (१।४) आदि काव्यों में भी नख-शिख वर्णन प्राप्त होते हैं।

(१) विशेष विवरण के लिये देखिए-णाय० पृ० १६३-१६४

अध्याय

८

कवि की भाव-व्यंजना

रस-सिद्धान्त—

काव्य की चमत्कार पूर्ण अभिव्यक्ति के पठन अथवा श्रवण के फलस्वरूप उद्बुद्ध भावों की प्रबलता से सहृदय को अनुभूति जो आस्वादन- क्रिया करती है, वही आस्वाद रस है। आचार्य विश्वनाथ ने रस के स्वरूप का विवेचन करते हुए उसे अखंड, स्वप्रकाशानन्द, चिन्मय, वेद्यान्तर स्पर्श-शून्य, ब्रह्मानन्द-सहोदर तथा लोकोत्तर चमत्कार पूर्ण बतलाया है।[1]

वस्तुतः रस काव्य की आत्मा है, शब्द एवं अर्थ उसके शरीर हैं। काव्य में व्यावहारिक जगत् का द्वैत-भाव उसकी वाक्यत्व, शरीरत्व आदि सत्ताओं द्वारा स्पष्ट हो जाता है। अतः काव्य का रस ब्रह्मानन्द न हो कर ब्रह्मानन्द-सहोदर माना गया है। वह अव्यक्त ब्रह्मानन्द का व्यक्त रूप है। व्यक्तीकरण का प्रारम्भ मानव शरीर के विज्ञानमय कोश से होता है, जिसका मूल-स्रोत आनन्दमय कोश है। इसकी अभिव्यक्ति अत्यन्त सूक्ष्म है, जो मनोमय तथा प्राणमय कोशों में उत्तरोत्तर स्थूल होती हुई अन्त में अन्नमय कोश में स्थूलतम होकर इन्द्रियों का विषय बन जाती है। यही कारण है कि मुक्तावस्था में, जबकि अन्तरात्मा पूर्ण आनन्दमय हो जाता है तथा जब, उस स्थिति में विभावानुभावादि का भी सर्वथा अभाव रहता है, रसास्वादन संभव नहीं है।

भरत मुनि ने रस की निष्पत्ति विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों के

---

(१) सत्वोद्रेकादखण्ड स्वप्रकाशानन्द चिन्मयः
वेद्यान्तर-स्पर्श-शून्यो ब्रह्मानन्द-सहोदरः
लोकोत्तरचमत्कार प्राणः कैश्चित्प्रमातृभि
स्वकारवद्भिन्नत्वेनापमास्वाद्यते रसः। साहित्य दर्पण, पृ० ३

संयोग से बतलाई है।[1] जैन-अजैन विद्वानों ने भी इसी का समर्थन किया है।[2] भाव अनेक हैं, परन्तु उनमें से नौ को ही स्थायी माना गया है। इन स्थायी भावों की वासना रूप में स्थिति प्रत्येक मानव में होती है। अनुकूल परिस्थितियों में ये जागृत होकर, आश्रय की संवेदनशीलता की मात्रानुसार, उसे रस-विभोर करते हैं।

यद्यपि संस्कृत के अनुरूप प्राकृत-अपभ्रंश में रस का शास्त्रीय विवेचन नहीं हुआ, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उनके कवि काव्य-गत रसानुभूति से अपरिचित थे। वास्तव में प्राकृत-अपभ्रंश का काव्य संस्कृत के रस-सम्बन्धी मान-दण्डों का ही अनुगमन करता है। उनके कवि मार्मिक प्रसंगों में रस-सृष्टि करने में सदैव सचेष्ट रहे हैं एवं उन्हें सफलता भी प्राप्त हुई है।

कवि की रसानुभूति—

पुष्पदन्त पूर्णतः रसवादी कवि हैं। वे रस को काव्य तथा नाटक का अभिन्न अंग मानते हैं। उनका कथन है कि यदि काव्य और नाटक नीरस हुए तो व्यर्थ है।[3] नीरस काव्य रचना को देख, उनका सरस हृदय वितृष्णा से भर जाता है और वे उसके रचियता को कुकवि तक कह देने में किंचित संकोच नहीं करते।[4] कवि की चित्तवृति रस के लोकोत्तर चमत्कार पूर्ण आनन्द की ओर भी है। वह कहता है कि कुकवि का काव्य सहृदय के चित्त को चमत्कृत करने में कभी समर्थ नहीं हो सकता।[5] उसका यह भी कथन है कि जो कवि मनोहारी रचना नहीं कर सकता, उसका काव्य करने का प्रयास आत्म-वध के समान है।[6] उसी भाव धारा में तरंगायित होते हुए कवि यहाँ तक कह जाता है कि यदि मैं कविता के द्वारा विद्वानों के हृदयों में प्रवेश करने में असमर्थ रहूँ तो मेरी काव्य-रचना को धिक्कार है।[7] संक्षेप में, कवि के ये उद्गार उसके उत्कृष्ट काव्य सम्बन्धी विचारों के परिचायक हैं, जिनमें रसानुभूति को महत्वपूर्ण स्थान मिला है।

अब हम विभिन्न रसों के आश्रय से कवि की भाव-व्यंजना का अध्ययन करने का प्रयत्न करेंगे।

---

(१) विभावानुभावव्यभिचारि संयोगाद्रस निष्पत्तिः। नाट्यशास्त्र, अ० ६
(२) देखिए—जैनाचार्य का वाग्भट्टालंकार तथा मम्मट का काव्यप्रकाश (४।२८)
(३) कव्वे णडेण वि णीरसेण। महु० ५०।७।३
(४) णीरसु कव्वु व कुकइहि केरउ। महु० २३।१५।३
(५) कुकइहि कव्व व णउ चिम्मक्कइ। महु० १६।२।३
(६) जो कइ ण करइ मणहारिणि कह
सो णितंतु करइ अप्पहयह। महु० ५१।२।८
(७) महु हियवइ जइ वि ण पइसरमि, णिट्ठुरो जइ वि मज्जु मज्जमि।
महु० ६९।१।१

शान्त क. रस-राजत्व—

जैन कवियों की रचनाओं का चरम लक्ष्य मानव मात्र को सदाचार के पथ पर लाना रहा है। इस दृष्टि से उनके काव्य शृंगार के स्थान पर शान्त का रस-राजत्व स्वीकार करते हैं। अनिर्वचनीय आनन्द की वास्तविक अनुभूति सांसारिक राग-द्वेष समान्वत मनोविकारों के अभाव में ही होती है। शृंगारादि रसों में लौकिक आधारों के निमित्त से रसानुभूति होती है, परन्तु शान्त-रस तृष्णा-क्षय के दिव्य महा-सुख से परिपूर्ण होता है। उसमें न दुःख है, न सुख है, न द्वेष है, और न मात्सर्य है।[1] वह पारलौकिक होने के कारण निवृत्तिमूलक है, अतः स्थायी आनन्द-प्रदायक है।

भक्ति के क्षेत्र में जैन-अजैन सभी शान्त को ही प्रधानता देते हैं। नारद तथा शाण्डिल्य के भक्ति-सूत्रों में जिस परम प्रेम रूपा परानुरक्ति को भक्ति कहा गया है, वह तभी संभव है जब जीव की मनोवृत्ति सांसारिक पदार्थों से अनुरागहीन होकर एकाग्र रूप से परमात्मा में केन्द्रित हो जाय। इसीलिये जैनाचार्य समन्तभद्र सांसारिक क्लेशों की उपशान्ति हेतु शान्ति-विधायक जिनेन्द्र भगवान की शरण-याचना करते हैं—

स्वदोष शान्त्या विहितात्म शान्तिः
शान्तेर्विधाता शरणं गतानाम्।
भूयाद्भवक्लेश भयोपशान्त्यै
शान्तिर्जिनो मे भगवान् शरण्यः।

(स्वयंभू स्तोत्र, ८०)

डॉ० भगवान दास ने अपने रस मीमांसा नामक लेख में शान्त को प्रधान रस मानते हुए, अन्य आठ रसों का उसमें अन्तर्भाव दिखलाया है। उनके अनुसार राग-द्वेष ही मूल भाव है। रति, हास, उत्साह तथा विस्मय, अस्मिता के उपकारक होने के कारण राग के अन्तर्गत आ जाते हैं। शोक, क्रोध, भय और जुगुप्सा अस्मिता के उपकारक होने के कारण द्वेष के अन्तर्गत हैं। प्रथम चार मधुर होने के कारण सुख की अभिव्यक्ति करते हैं। दूसरे चार कटु होने के कारण दुःख की भावना प्रकट करते है। निर्वेद में इन सबका सामंजस्य हो जाता है। वहाँ आत्मा-परमात्मा के परम प्रेम में रति, संसार की विडम्बनाओं पर उपहास, घोर अन्धकार में भटकते हुए दीन जनों पर करुणा, षट् रिपुओं पर क्रोध, इन्हें पराजित करने, इन्द्रियों को जीतने आदि में उत्साह, षट् रिपु कहीं असावधान पाकर विवश न करदें इसका भय,

---

(१) न यत्र दुःखं न सुखं न द्वेषो नापि मत्सरः
शमः सर्वेषु भूतेषु स शान्तः प्रथितो रसः। नाट्यशास्त्र

इन्द्रिय विषयों अथवा अस्थि, मज्जा, रुधिर-युक्त शरीर पर जुगुप्सा तथा नाना रूप समन्वित अनन्त सृष्टि करने वाली परमात्मा की शक्ति पर विस्मय की व्यंजना होती है।[1] परन्तु जैन धर्म के परमात्मा तथा जगत् सम्बन्धी विचार तत्वतः भिन्न होने के कारण, इस विवेचन के पूर्णतः संगत नहीं बैठते। उसके अनुसार यह सृष्टि ईश्वर का कर्तत्व नहीं है, वरन् अनादि तथा स्वयंचालित है।

शान्त रस के स्थायी भाव के सम्बन्ध में अनेक मत हैं। मम्मट के मतानुसार तत्वज्ञान से उत्पन्न निर्वेद उसका स्थायी भाव है।[2] विश्वनाथ ने शम् को शान्त का स्थायी भाव मानते हुए उसका यह स्वरूप उपस्थित किया है—

न यत्र दुखं न सुखं न चिता न द्वेष रागौ न च काचिदिच्छा।
रसः स शान्तः कथितो मुनीन्द्रैः सर्वेषु भावेषु शम प्रधानः॥

अर्थात जहाँ न दुःख हो, न सुख हो, न चिन्ता हो, न राग-द्वेष हो तथा न कोई इच्छा ही हो, उसे शान्त रस कहते हैं। यह परम वीतराग की अवस्था है, जहां अखण्ड शान्ति विराजती है। पुष्पदंत ने इसी अवस्था का वर्णन इन शब्दों में किया है—

जहिं भुक्ख ण तण्ह ण णिद्दडिय, णउ देह सत्तधाउहुं घडिय।
जहिं सत्तु ण मित्तु ण घरिणि घरु, जहिं लोहु ण कोउ ण कामजरु।
णउ माणु ण माय ण मोहु मउ, जहिं केवलु जीउ जि णाणमउ।
(मपु० ३६।१३।१-३)

इस स्थिति में तृष्णा का पूर्ण अभाव हो जाता है। आनंदवर्धन के विचार से तृष्णा-क्षय ही शान्त का स्थायी भाव है। उनका कथन है कि संसार में जो विषयों के सुख हैं एवं जो स्वर्गीय महासुख हैं, ये सब एकत्रीभूत होकर तृष्णाक्षय से प्राप्त होने वाले सुख के सोलहवें अंश के समकक्ष भी नहीं हो सकते—

यच्च काम सुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्
तृष्णाक्षय सुखस्यैते नार्हतः षोडशीकलाम्।[3]

एक अन्य मत से तत्वज्ञान ही शान्त का स्थायी भाव है, क्योंकि यही आत्मा का ज्ञान है और उसी की सहायता से मोक्ष प्राप्त होता है। यह अभिनवगुप्त का मत है।[4]

---

(१) रीति काव्य की भूमिका, डॉ० नगेन्द्र, (पूर्वार्द्ध) पृ० ७५, (उत्तरार्द्ध) पृ० १११—११२
(२) काव्य प्रकाश, पृ० ११८
(३) काव्य दर्पण, राम दहिन मिश्र, पृ० २७९ पर उद्धृत।
(४) वही, पृ० २७८

उपर्युक्त स्थायी भावों में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। वे सब एक ही भाव-धारा के विविध रूपान्तर मात्र हैं। निर्वेद तत्वज्ञान का ही फल है। इसी प्रकार शम् और निर्वेद भी तत्त्वतः एक ही हैं। जैनाचार्य जिनसेन शम् के संबंध में कहते हैं कि विरक्ति आदि के द्वारा मन का निर्विकारी होना शम् है।[1] निर्वेद में भी यही अपेक्षित है। यद्यपि मम्मट निर्वेद को शान्त का स्थायी मानते हैं, तो भी वे शम् को उससे अभिन्न ही समझते हैं।[2] तृष्णा-क्षय भी तत्वज्ञान की ही एक आवश्यक भूमिका है। निष्कर्ष यह है कि सांसरिक राग - द्वेषादि की निस्सारता का बोधहोना ही तत्वज्ञान है। इसी की सहायता से मानव-आत्मा में निर्वेद या शम् का भाव उदय होता है। अतः यही शान्त का स्थायी भाव है।

पुष्पदंत क काव्य में तत्वज्ञान मूलक भावनाओं की अतिशय प्रधानता है। इसके दो कारण हैं एक तो उनका वर्ण्य-विषय ही वीतरागी महापुरुषों के उदात्त जीवन -चरित्रों से संबंधित है, दूसरे खल-संकुल जगत् की कुंठाओं से विपन्न उनका मानस स्वयं ही भौतिक राग -द्वेषों के माया-जाल से ऊब कर परमात्म-चिंतन अथवा तत्वान्वेषण की ओर केंद्रित हो गया जान पड़ता है। इसी कारण अनुकूल-अवसर प्राप्त होते ही कभी वे राज्यलक्ष्मी की भर्त्सना करते हैं, कभी मानव-शरीर की नश्वरता की ओर संकेत करते हैं, कभी पार्थिव भोग-विलासों की क्षणभंगुरता पर लंबी-लंबी वक्तृताएं देते चलते हैं, कभी क्रोध-मोहादि से निर्लिप्त रहने का उपदेश देते हैं और कभी अत्यन्त दैन्य-भाव से सम्यग्दर्शन-प्राप्ति हेतु जिन-स्तवन करते हैं। इस प्रकार वैयक्तिक क्लान्ति तथा अपने धर्म के आग्रह के कारण जिन-भक्ति में मग्न महाकवि के काव्य में शान्त रस के अनेक चित्र प्राप्त होना स्वाभाविक ही है।

निम्नलिखित पंक्तियों में महाराज ऋषभ के हृदय में रंग-शाला में नृत्य करती हुई नीलंजसा की आकस्मिक मृत्यु की घटना से उत्पन्न तत्वज्ञान द्वारा वैराग्य के उत्कर्ष का वर्णन है। यहां संसार की क्षणभंगुरता आलम्बन है। प्रत्येक नर-श्रेष्ठ का संसार में दो-दो दिन रह कर चले जाना, वैभव-विलास तथा पुत्र-कलत्र का नाश, तन-लावण्य का क्षय, यौवन का विगलित होना, आप ही आप सब कुछ काल के मुख में चले जाना आदि उद्दीपन हैं। निर्जन वन में निवास का निश्चय अनुभाव है। धृति तथा मति संचारी हैं। इनके संयोग से शान्त रस की पूर्ण-व्याप्ति परिलक्षित होती है—

खंड्यं— इह संसार दारुणे वहु सरीर संघारणे।
वसिऊणं दो वासरा के के गया ण णरवरा।

---

(१) विरागत्वादिना निर्विकार मनस्त्वं शमः। अलंकार चिंतामणि
हिन्दी जैन साहित्य परिशीलन, पृ० २२७ पर उद्धृत

(२) निर्वेदस्येव शम्र रूपत्वात। काव्य प्रकाश, २०४ पृ० १६४

पुणु परमेसरु सुसमु पयासइ, धणु सुरधणु व खणद्धे णासइ।
हयगय रहभड धवलइं छत्तइं, सासयाइं णउ पुत्त कलत्तइं।
जंपाणइं जाणइं धयचमरइं, रविउग्गमणेजंति णं तिमिरइं।
लच्छि विमल कमलालयवासिणि, णवजलहरविज्जु व्व चलहासिणि।
तणु लायण्णु वण्णु खणि खिज्जइ, कालालि मयरंदु व पिज्जइ।
वियलइ जोव्वणु णं करयलजलु, णिवडइ माणुसु णं पिक्कउ फलु।
तृयहिं लवणु जसु उत्तारिज्जइ, सो पुणरवि तणि उत्तारिज्जइ।
जो महिवइ महिवइहिं णविज्जइ, सो मुउ परदारेण ण णिज्जइ।
घत्ता—किर जिराउ परचलु भुत्तउ महियलु पच्छइ तो वि मरिज्जइ।
इय जाणिवि अद्ध्उ अवलंबिवि तउ णिज्जणिवणि णिवसिज्जइ।
(मपु० ७।१।३-१४)

इसी प्रकार अपराजित नामक राजा के चित्त में वैराग्य-भावना उत्पन्न होती है। उसके निम्नलिखित उद्‌गारों में सांसारिक संबंधों के क्षणस्थायित्व का मार्मिक विवेचन है—

अरे जउजीव समासमि तुज्झु, ण कस्स वि हं जगि को वि ण मज्झु।
....
मयंग तुरंगम किंकर कासु, फलक्खइ पक्खि व जंति दिसासु।
ण मित्तु कलत्तु ण पुत्तु ण बंधु, सरीरु वि एउ विणासि दुगंधु।
(मपु ४३।३।१-५)

निर्वेद-जन्य भावना का एक अन्य उदाहरण नृदिधि (नदमु तीर्थं०) के शब्दों में देखिए। इसमें काल के मुख से किसी का न बचना, जन्म-मरण के परिवर्तनों का प्रतिक्षण घटित होना, संसार के दृष्टिगोचर होने वाले पदार्थों का उत्पन्न-होकर क्षण में विनाश होना आदि तत्वज्ञान की बातों का उल्लेख हुआ है, जिसके कारण अंत में वे वैराग्य ले लेते हैं—

उक्क पडंती दिट्ठी तरुणहं।
तं जोइवि जिणणाहु वियक्कइ, कालहु कम्हि वि ण कोइ वि चुक्कइ।
जणणमरणपरियट्टणचक्कउ, एउ तिजगु परिभमइ परिक्कउ।
जं जं कि पि पयत्थहिं दीसइ, उवणु हवइ तं तं खणि णासइ।
अथिरु सव्वु मणु कहिं रइ कीरइ, तो वि जिउ विसयासइ [illegible]।
परमाणुय संघणणवयणें, ण णवइ [illegible]।
भोए इंदियतित्ति ण पूरइ, [illegible]।
(मपु० ४७।११।१-९)

बाहुबलि द्वारा युद्ध में पराजित होने पर भरत चक्रवर्ती के हृदय में वैराग्य भावना आती है। वे बाहुबलि से कहते हैं कि तुम आज से [illegible]

बेठो। मैं तुम्हारे भाल पर राज-पट्ट बांधूंगा। पराजित होकर राज्य करना लज्जा की बात है, अतः मैं मुनि-दीक्षा लूंगा—

आउ जाहु उज्झाउरि पइसहि, अज्जु जि तुहुँ सिंहासणि वइसहि।
पट्टु णिबंधमि भालि तुहारइ, अवककित्ति जीवउ तुह केरइ।
एवहिं रज्जु करंतउ लज्जमि, एवहिं परमदिक्ख पडिवज्जमि।
(मपु० १८।४।४-६)

भरत के इन शब्दों में इष्ट-नाश (पराजय के कारण गौरव, प्रतिष्ठा, स्वाभिमान आदि का नाश) से उत्पन्न निर्वेद-भाव प्रकट हुआ है। मम्मट के अनुसार ऐसा निर्वेद स्थायी भाव नहीं वरन् संचारी होता है।[1] अतः यहां पर शान्त रस की सृष्टि नहीं होती। भरत का वैराग्य-भाव केवल कथन मात्र ही रहता है, क्योंकि बाहुबलि स्वयं मुनि हो जाते हैं और भरत पूर्ववत् राजा बने रहते हैं।

शान्त रस का एक अन्य प्रसंग नेमि (२२ वें तीर्थङ्कर) के चरित्र में है। अपने विवाह के अवसर पर होने वाले भोज के निमित्त वध के लिये लाए जाने वाले पशुओं को देखकर नेमि को बड़ी व्यथा होती है। वे पशु-वध में एक की तृप्ति तथा अनेक जीवों का प्राण-नाश देखकर उसके प्रति अत्यन्त घृणा प्रकट करते हैं। और इस प्रकार दारुण संसार को चिंता करते हुए उनमें वैराग्य-भावना व्याप्त हो जाती है—

तथा—एक्कहु तित्ति णिविसु अण्णेक्कु वि जहिं प्राणिहिं विमुच्चए।
तं भवविहुरकारि पलभोयणु मह सुन्दरु ण रुच्चए।
संसार घोरु चिंतंतु संतु, गउ णियणिवासु एवं भणंतु।
(मपु० ८६।१।३-५)

णायकुमार चरिउ में पिहिताश्रव मुनि द्वारा पृथिवीदेवी से कहे गए वचनों में भी निर्वेद के दर्शन होते हैं। यहां वृद्धावस्था द्वारा यौवन का नाश, जीव का जन्म तथा मरण, श्रीमन्तों का दरिद्र होना, अति सुन्दर रूप का क्षय, प्रिय-पात्र से भी घृणा होना आदि बातों का उल्लेख हुआ है—

णियसिरि किं मण्णंति णरा, णवजोव्वणु णासइ एइ जरा।
उप्पण्णहो दीसइ पुणु मरणु, भीसावणु ढुक्कइ जमकरणु।
सिरिमंतहो घरि दालिद्दउ, पइसरइ दुक्खभारुब्भडउ।
अइ सुन्दररूवें रूउ ल्हसइ, वीरु वि संगामरंगि तसइ।
पियमाणुसु अण्णु जि लोउ जिह, णिण्णेहें दीसइ पुणु वि तिह। (णाय० २।४।५-९)

---

(१) काव्यदर्पण, पृ० २७७ में संगीत रत्नाकर से उद्धृत—
स्थायी स्याद्विषयेष्वेव तत्वज्ञानोद्भवो यदि। इष्टानिष्ट वियोगाप्ति-कृतस्तु व्यभिचार्यसौ।

जसहर चरिउ में महाराज यशोधर अपनी परासक्ता नारी अमृतमती का कुकृत्य देखकर अत्यन्त व्यथित होते हैं। वे विचार करते हैं कि मानव-शरीर दुःख की पोटली है। यह धोने से भी पवित्र नहीं होता, सुगंधित करने से भी सुरभित नहीं होता, पोषण करने से भी बलवान नहीं होता, प्रसन्न किया हुआ भी अपना नहीं होता। इस प्रकार चिन्तन करते हुए वे इस निश्चय पर पहुँचते हैं कि प्रभात होते ही नगर, परिवार तथा राज्यलक्ष्मी का त्याग कर गहन वन और सघन पर्वतों की गुफाओं का आश्रय लूँगा। वहीं सुर, नर तथा नागों द्वारा पूजित मुनि-लिंग धारण कर महातप का आचरण करूँगा।

माणुससरीरु दुहपोट्टलउ, धोयउ धोयउ अइविट्टलउ।
वासिउ वासिउ णउ सुरहि मलु, पोसिउ पोसिउ णउ धरइ बलु।
तोसिउ तोसिउ णउ अप्पणउ, मोसिउ मोसिउ परमायणउ। आदि
(जस० २।१६।१-३)

पुरु परियणु मिल्लिवि रायसिरि, कल्लइ आसंघमि गहण गिरि।
पय पाडिय णरफणि सुरवरइं, तउ करमि धरमि मुणिवरवयइं।
(जस० २।१२।१-२)

वीर रस—

चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव आदि महापुरुषों को अपने राज्यकाल में या तो दिग्विजय-यात्राएँ करनी पड़ी हैं अथवा अपने प्रतिद्वंदियों का रण-निमंत्रण स्वीकार कर युद्ध करने पड़े हैं। ऐसे प्रसंगों में कवि को शौर्य तथा पराक्रम के साथ उत्साह का चित्रण करने का पर्याप्त अवसर मिला है। इन स्थलों के संवाद भी दर्पोक्तियों से भरे हैं।

वीर रस के कुछ स्थल इस प्रकार हैं —

दिग्विजय के उपरान्त अयोध्या लौटने पर जब भरत चक्रवर्ती का चक्र नगर के भीतर प्रवेश नहीं करता, तब कारण-स्वरूप उन्हें ज्ञात होता है कि उनकी दिग्विजय अभी पूर्ण नहीं है, क्योंकि बाहुबलि आदि भ्राताओं ने उनकी अधीनता नहीं स्वीकार की। इस समाचार ने भरत को उत्तेजित कर दिया। कवि के शब्दों में उनके उद्गार सुनिए—

जगहु जमराणु को दरिसावइ, [illegible] ।
एम कोवि [illegible], को [illegible] ।
[illegible], [illegible] ।
[illegible], [illegible] ।
को [illegible], को [illegible] णिरु [illegible] ।
(महा० १६।६।८-११)

भरत कहते हैं कि स्वयं यमराज को यमत्व कौन दिखा सकता है ? मेरी मृत्यु के पश्चात् फिर कौन राजा है ? ऐसा कौन है जिसे मेरी प्रभुता स्वीकार नहीं ? आकाश में गमन करते हुए सूर्य को कौन प्रतिस्खलित कर सकता है ? कौन मेरी करवाल से शंकित नहीं होता ? आदि

यहाँ बाहुबलि आदि आलम्बन हैं। उनका अधीनता स्वीकार न करना उद्दीपन है। धृति तथा गर्व संचारी हैं। अपने पराक्रम का वर्णन अनुभाव है। सम्पूर्ण कथन में उत्साह स्थायी भाव की व्यंजना है।

अब बाहुबलि का उत्साह भी देखिए भरत का दूत उनके पास अधीनता स्वीकार करने का प्रस्ताव लेकर आता है। स्वाभिमानी बाहुबलि के लिये यह असह्य हो जाता है और वे तिरस्कारपूर्ण शब्दों में भरत की भर्त्सना करते हुए युद्ध के लिए संनद्ध हो जाते हैं। इसी प्रसंग में दूत से वे कहते हैं कि मान-भंग हुए जीवन की अपेक्षा मरण श्रेष्ठ है। भाइ आवें और मेरा आघात देखें। सन्ध्या-राग के समान उन्हें क्षण भर में विध्वंस कर दूंगा। मेरे बाणों का आघात देवेन्द्र भी नहीं सहन कर सकते। मैं भरत सेना के गज-समूह को नष्ट कर डालूंगा तथा रण-निमित्त आए सुभटों का दलन करूंगा। हे दूत, तुम्हारे प्रभु आवें और मुझ बाहुबलि के सम्मुख अपना बाहुबल प्रदर्शित करें—

माण भंगि वर मरणु ण जीविउ, एहउ दूय सुट्ठु मइं भाविउं।
आवउ भाउ घाउ तहु दंसमि, संझाराउ व खणि विद्धंसमि।
सिहिसिहाहं देविंदु वि ण सहइ, महु मणसियहु विसिह को विसहइ।
एक्कु जि परउव्वारु णरिंदहु, जइ पइसरइ सरणु जिणयंदहु।
घत्ता—सघट्टमि लुट्टमि गयघडहु दलमि सुहड रणमग्गइ।
पहु आवउ दावउ बाहुबलु महु बाहुबलिहि अग्गइ॥
(मदु० १६।२१।८-१३)

यहाँ बाहुबलि के उत्साह के आलम्बन भरत हैं। दूत के वाक्य उद्दीपन तथा गर्व, धृति एव औत्सुक्य संचारी हैं। बाहुबलि के इन शब्दों में असीम उत्साह की व्यंजना है।

रामायण के अनेक प्रसंगों में वीर रस का सुन्दर निर्वाह हुआ है। लंकेश रावण द्वारा सीता-हरण किये जाने का समाचार प्राप्त होते ही, भरत, शत्रुघ्न तथा अन्य सामन्त-सुभट आदि गज-तुरंगों के समान शब्द करते हुए राम के निकट आते हैं। इसी समय राम को दुर्मन देखकर जनार्दन (लक्ष्मण) का हृदय शत्रु (रावण) का संहार करने के उत्साह से भर जाता है और वे तत्काल गरज कर कहते हैं—

घत्ता—रिउ जरकुरंगु महु आवडइ हउं हरि उद्धुयकेसरु।
जइ दुट्ठु दिट्ठिगोयरि पडइ तो मारमि लंकेसरु॥
(मपु० ७३।६।१२-१३)

अर्थात् मुझ सिंह के सम्मुख रावण जरकुरंग सा आभासित होता है। यदि दुष्ट लंकेश्वर मुझे दृष्टिगोचर हो तो मैं अवश्य उसका वध करूंगा।

राम-दूत के रूप आए हुए हनुमान, रावण के अंतस् में कर्तव्य-बुद्धि उत्पन्न करने का प्रयास करते हैं। परन्तु उस पर कोई प्रभाव न पड़ते देखकर अंत में वे कहते हैं कि हे रावण, तू मेरे कथन पर ध्यान नहीं देता अतः संग्राम में तेरा लक्ष्मण द्वारा अवश्य मरण हो।। इस पर रावण कहता है—

हेला—सरणं सुरवरस्स पइसरउ जइ वि कामं।
तो वि अहं हणामि सहुँ किंकरेहिं रामं।
धुवु पावमि भुविखउ कालकलि, तिलमेत्तइं खंडइं देमि वलि।
लक्खणहु सुलक्खणु अवहरमि, वंदिग्गहि पुहइदेवि धरमि।
णयरिउ मंदिरणिज्जियससिउ, णेण्हिवि कोसलवाणारसिउ।
भडरुहिरमहासमुद्दि तरमि, सुग्गीवहु गीवभंगु करमि।
खलणीलहु णीलउ सिरु लुणमि, कुमुयहु कुमुयप्पएनु वणमि।
दसरहदसप्राणइं णिट्ठवमि, जणयहु जिउ जमपुरि पट्ठवमि।
(मपु० ७४।१६।१-८)

अर्थात् यदि राम इंद्र की शरण में भी जायें, तो भी मैं उनको सेना सहित मारूंगा। तिल मात्र में उनका खंडन करके बलि दूंगा। लक्ष्मण की सुलक्षणता नष्ट करके सीता को बंदीगृह में रखूंगा। कोशल, वाराणसी को जीत कर वीरों के रुधिर रूपी महासमुद्र में तैरूंगा। सुग्रीव की ग्रीवा भंग करूंगा। दुष्ट नील का सिर काट कर, कुमुद को मार कर दशरथ के दसों प्राणों को समाप्त करूंगा। जनक को यमपुरी भेज दूंगा।

रावण की यह उद्दंडता लक्ष्मण को कब सहन हो सकती थी? हनुमान ने लौट कर जैसे ही यह वृत्तान्त सुनाया, वैसे ही लक्ष्मण उत्साह से रोमांचित होकर कह उठे—

रणि मारमि दससिरु कुंभयण्णु, दलवट्टमि झत्ति णिकुंभु कुंभु।
जीवावहारं खरदूसणाहं, दारमि उरु खरदूसणाहं।
पहरंति जेम हलवयहत्थ, मइं सुरकलगायनिछिण्णहत्थ।
मारीयउ मारिहिं देमि गासु मउ णिब्भउ रणि कासु वि णासु।
विद्धंसमि इंदइंदजालु, अविरुद्ध पत्तिसु कणगिजालु। (मपु० ७५।१।८-१८)

यादवों के जीवित होने का समाचार सुनकर जरासंध कहता है कि मेरे जीते जी यादव नहीं जीवित रह सकते। मैं शीघ्र ही उन्हें मारूंगा जैसे अग्नि लगने पर वन के पादप नहीं खड़े रह सकते। मैं उनके दर्प-विलास को शीघ्र ही नष्ट करूंगा।

मइं जियंति जीवंति ण जायव, हुयवहु लग्गु धरंति ण पायव ।
मारमि तेण समउं णीरोगवि, पेउमि वलविलासु पसरच्छवि ।

(मपु० ८८।३।४,८)

कवि ने युद्ध के लिये प्रस्तुत स्वामिभक्त वीरों के उत्साह का चित्रण करते हुए उसमें कतिपय रति संबंधी भाव भी सम्मिलित कर दिये हैं । इस प्रकार वीर के साथ शृंगार रस संचारी के रूप में आ गया है ।

वाहुवलि की सेना का एक भट अपनी पत्नी से कहता है कि मैं आज शत्रु को नष्ट करके अपने स्वामी का राज्य निष्कंटक कर दूंगा । शत्रु तुच्छ है और मैं धैर्यवान हूँ । हे सुन्दरी, तू क्यों विचार करती है ? आ, शीघ्र मुझे आलिंगन का हाथ दे । कौन जानता है कि पुनः कब मिलन-संयोग होगा—

भडु को वि भणइ परहणमि अज्जु, णिक्कंटउ सामिहि देमि रज्जु ।
पहु तुच्छु पउर रिउ हउं वि धीरु, भणु सुन्दरि किं कीरइ वियारु ।
अवरुंडहि लहु दे देहि हत्थु, को जाणइ पुणु संजोउ केत्थु ।

(मपु० १७।५।९-११)

ऐसे प्रसंगों में स्वामिभक्त वीरों के उत्साह के साथ ही उनकी कर्त्तव्य-निष्ठा का भी सुन्दर चित्रण हुआ है । इसी प्रसंग में एक अन्य वीर के विचार भी देखिए—

कोई महासुभट अपनी पत्नी से कहता है कि यह उचित नहीं है कि मैं तुम्हारे साथ भोग-विलास में लिप्त रहूँ, जब कि हमारा राजा युद्ध के लिये प्रस्थान कर रहा है । आज ही तो मैं रण में शीश-दान देकर अपना ऋण चुकाऊंगा ।

घत्ता—भासइ कोवि महासुहडु मुइ मुइ कंति ण एवहिं मज्झमि ।
णिग्गवि रायहु तणउ रिणु अज्जु सीसदाणेण विसुज्झमि ।

(मपु० १७।५।१३-१४)

वीर–प्रसूता भारत भूमि का इतिहास जहाँ वीर पुरुषों की गाथाओं से गौरवान्वित है, वहाँ वीर ललनाओं के त्याग एवं शौर्य-पूर्ण दृष्टान्तों से अलंकृत भी है । कवि उन वीर रमणियों को कैसे भूल सकता है ? निम्नलिखित पंक्तियों में वीर-पत्नियों के कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं ।

भरत-वाहुवलि के युद्ध-प्रसंग में कोई नारी युद्ध के लिए प्रस्थान करते हुए पति में रण का उत्साह भरती हुई कहती है कि हे प्रियतम, मेरे हाथों में मणि-कंकण शोभा नहीं देते । उनमें तो शत्रु के हस्ति-दंत के वलय ही शोभा देंगे । अतः आप मेरे प्रेम के वशीभूत होकर उन्हीं को लायें, जिनकी धवलिमा में आपके पुरुषार्थ रूपी यश की दीप्ति हो—

वहु का वि भणइ हत्थागएण, किं कीरइ मणिकंकणसएण ।
अरिकरिदंतुब्भउ एक्कु जइ वि, वलउल्लउ सोहइ हत्थि तइ वि ।
तं धवलउ तुह पोरिसजसेण, आणेज्जसु पिय महु रहसेण ।
(मपु० १७।२।१-३)

एक अन्य नारी का अपने पति को दिया जाने वाला प्रोत्साहन भी द्रष्टव्य है । उसका कथन है कि हे प्रिय, आप अभिमानी शत्रु राजा से युद्ध करें क्योंकि सामान्य सैनिकों का वध करने से कोई लाभ न होगा । जैसे राहु तारागणों से रुष्ट नहीं होता वरन् सूर्य तथा चन्द्रमा से ही युद्ध करता है, वैसे ही बलवान को मारने से आपको यश प्राप्त होगा—

वहु का वि भणइ अहिमाणगाहि, लग्गिज्जसु पिय पडिवक्खणाहि ।
ऊणेण हएण वि णत्थि लाहु, उडुगणहु ण रूसइ तुप राहु ।
जिम मिहरहु जिम हिमयरहु भिडइ, बलिणा हएण जसु चंदि चडइ ।
(मपु० १७।२।८-११)

त्रिपृष्ठ-हयग्रीव के युद्ध-प्रसंग में भी हमें नर-नारियों के वीर रस पूर्ण वचनों तथा चेष्टाओं के दर्शन प्राप्त होते हैं ।

कोई भट अपने खड्ग को हाथ में नहीं लेता, क्योंकि वह वैरी का खड्ग छीनने में समर्थ है । कोई भट अपने अंग में कुंकुम नहीं लगाता, क्योंकि वह शत्रु के रुधिर से अपने अंग का शृंगार करेगा ।

भडु को वि ण खग्गहु देइ हत्थु, परपहरणहरणि णवर समत्थु ।
भडु को वि ण लावइ घुसिणु अंगि, रावेसइ तणु रिउरुहिर अंगि ।
(मपु० ५२।११।८-१०)

कोई भट कहता है कि यदि मेरे प्राण जायें तो जायें, परन्तु मेरे प्रभु का प्रताप स्थिर रहे । कोई वीर कहता है कि रिपु कितना ही प्रचण्ड हो, मैं आज उसे खंड-खंड कर डालूंगा । कोई सैनिक अपनी पत्नी से कहता है कि मुझे स्नान करा दे, जिससे मैं शुद्ध शरीर होकर प्राण-दान दे सकूं । अन्य कहता है कि यदि रण में मेरा सिर कट जायेगा, तो मेरा रुंड (कबंध) शत्रु को मार कर नृत्य करेगा । कोई भट कहता है कि मैं असि रूपी धेनु से यश रूपी दुग्ध प्राप्त करूंगा । कोई स्वाभिमानी वीर कहता है कि यदि युद्ध में मेरी मृत्यु होगी तब भी मेरे पैर शत्रु के सम्मुख ही होंगे । कोई भट उत्साह के साथ अपने धनुष के दोषों को दूर कर रहा है तथा बाणों को [illegible] कर-करके रख रहा है । किसी के टूटे हुए मुकुट तूणीर वाले [illegible] से प्रतीत होते हैं ।

कोई अपनी पत्नी से कहता है कि हे सौभाग्यवती, तुम मेरी साक्षी हो, कि मैं शत्रु सेना से भिड़ कर तथा वैरी का सिर काटकर अपने राजा को विजय श्री न

प्रदान कर सकूंगा तो मैं पर्वत पर जाकर पाप को नष्ट करने वाले घोर तपश्चरण का आचरण करूंगा—

> भडु को वि भणइ जइ जाइ जीउ, तो जाउ थाउ छुट्टु पहुपवाउ ।
> भडु को वि भणइ रिउं एंतु चंडु, मइं अज्जु करेवउ खंडु खंडु ।
> ....
> भडु को वि भणइ हलि देइ ण्हाणु, सुइ देहें दिज्जइ प्राणदाणु ।
> ....
> भडु को वि भणइ जइ मुंडु पडइ तो महुं रुंडु जि रिउं हणवि णडइ ।
> ....
> भडु को वि भणइ असिधेणुयाहिं, जसदुद्ध लेमि णरसंथुयाहिं ।
> भडु को वि भणइ हलि छिण्णु जइ वि, महुं पाउ पडइ रिउसउहुं तइ वि ।
> भडु को वि सरासण दोणु हरइ, सरपत्तइं रज्जुय करिवि धरइ ।
> भडु को वि बद्धतोणीरजुयलु, ण गरुडसमुद्ध यपक्खपडलु ।
> भडु को वि भणइ कलहंसवाणि, महुं तुहुं जि सच्चिल सोहग्गखाणि ।

घत्ता—

> परबल अब्भिडिवि रिउसिरु खुडिवि जइ ण देमि रायहु सिरि ।
> तो दुक्कियहरणु जिणतवचरणु चरवि घोरु पइसिवि गिरि ।।
>
> (मपु० ५२।१२।३-१६)

वीरों के ये कथन क्षात्र धर्म के चरम लक्ष्य का दिग्दर्शन कराते हैं। स्वामि-धर्म का अनुसरण करने वाला ही सच्चा शूर होता है। युद्ध का समय इन योद्धाओं के लिये अत्यन्त आनन्द का क्षण उपस्थित करता है। रण-क्षेत्र में हंसते-हंसते प्राणों का बलिदान करने वाले इन असीम साहसी वीरों के उद्गार कितने मार्मिक हैं तथा उनका उत्साह भी दर्शनीय है।

वीर बालाओं के कुछ उद्गार हम पूर्व ही प्रस्तुत कर चुके हैं। अब कुछ अन्य वीर-वधुओं का उत्साह भी देखिए—

> वहु कासु वि देइ ण दहियतिलउ, अहिलसइ वइरिरुहिरेण तिलउ ।
> वहु कासु वि थिवइ ण अक्खयाउ, खलवइ करिमोत्तिय अक्खयाउ ।
> वहु कासु वि करइ ण धूवधूमु, मग्गइ पडिसुहडमसाणधूमु ।
> वहु कासु वि णप्पइ कुसुममालु, इच्छइ ललति पिसुणंतमाल ।
> ×   ×   ×
> वहु का वि ण भुणइ सुमंगलाइं, आवेक्खइ अरिसिरमंगलाइं ।
> वहु कासु वि णउ दावइ पईवु, भो कंत तुहुं जि कुलहरपईवु ।
> वहु कासु वि पारंभइ ण णट्टु, संचितइ सत्तु कवंधणट्टु ।
> वहु का वि ण जोयइ किं सिरीइ, पिययमु जोएवउ जयसिरीइ ।
>
> (मपु० ५२।१३।४-१२)

अर्थात् कोई वधू रण-भूमि के लिए प्रस्थान करते हुए अपने पति के मस्तक पर दधि-तिलक नहीं लगाती वरन् वह शत्रु के रुधिर का तिलक लगाने की अभिलाषा करती है। किसी की वधू अपने पति पर अक्षत नहीं चढ़ाती वरन् वह शत्रु के हस्ति-मुक्ता रूपी अक्षतों को चढ़ाने की कामना करती है। किसी की वधू धूप-धूम्र नहीं करती, वह युद्ध में मारे गये शत्रु के वीरों की श्मशान भूमि के धूम्र को चाहती है। किसी की वधू उसे पुष्प-माला नहीं अर्पित करती, वह तो पति को विजय के उपरान्त शत्रुओं की अंतड़ियों की माला पहनाना चाहती है। किसी वीर की वधू मंगल गान नहीं गाती, वह शत्रु के कपालों को देखकर आनन्दित होना चाहती है। किसी की वधू दीपक जला कर आरती नहीं उतारती, वह पति से कहती है कि हे कंत, आप तो स्वयं अपने कुल के दीपक हैं, अतः दीपक को दीपक दिखलाना क्या ? किसी की वधू नृत्य नहीं करती वरन् वह शत्रु के कबंधों के नृत्य का विचार करती हैं और कोई नारी अपनी शोभा की ओर ध्यान नहीं देती, वह तो अपने प्रियतम की विजय-श्री के दर्शन करना चाहती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि ने रणोन्मत्त वीरों के उत्साह के साथ ही उनकी वीर पत्नियों का भी चित्रण किया है, जो समय आने पर स्वयं वीरोचित आशा एवं शक्ति की मूर्ति बन कर अपने पतियों में अदम्य साहस भरती हुई उन्हें युद्ध-भूमि में कौशल दिखलाने के लिए प्रोत्साहित करती हैं। भारतीय नारी का यह आदर्श अन्यत्र कठिनाई से प्राप्त होगा।

रौद्र रस

रौद्र का स्थायी क्रोध है। प्रतिकूल व्यक्तियों के विषय में तीव्रता के उद्बोध को ही क्रोध कहेंगे। कवि ने युद्ध के प्रसंगों में क्रोध की सुन्दर अवतारणा की है। कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं—

चक्रवर्ती भरत मगध-राज के प्रासाद में बाण-निक्षेप करते हैं। अपनी कीर्ति तथा प्रतिष्ठा का यह अपमान देख कर उसकी भ्रू-भंगिमा कुटिल हो जाती है। वह विस्फुरित दशनों से अपने अधर दबाता हुआ मेघ-गम्भीर स्वर में प्रश्न करता है कि किसने स्वयं यमराज की जिह्वा उत्पाटन करने का साहस किया है? बोलो, कौन काल द्वारा अपना क्षय चाहता है? कंपायमान नाग-फण को कौन ग्रहण करना चाहता है? धरणि-सिंहासन को किसने भग्न करना चाहा है? बोलो, किसने पर्वत को अपने हाथों में लिया? किसने सोते हुए सिंह को जगाया? नभ में गमन करते हुए सूर्य को किसने स्खलित किया? किसके सिर पर वज्र ने स्पर्श किया? यम के दांतों के नीचे कौन दबा है? बोलो, किसने मेरे नाम का खंडन किया? किसने रण प्रारम्भ करने की इच्छा की है, वह मुझसे आज नहीं बच सकता। यह कहते हुए उसने तलवार निकाल ली—

भूभंगभीसभिउडीहरेण, विप्फुरिय दसणदसियाहरेण।
सुरसंगरसहास भयंकरेण, दूणिरिक्खविवक्खखय करेण।
देवेण समुद्दपरिग्गहेण, तं णिसुणिवि गज्जिउ मागहेण।
भण केणुप्पाडिय जमहु जीह, भणु केण तुडिय खयकाललीह।
णायउलवलयविलुलंतु गीढु, भणु केण णित्तुंभिउ धरणिवीढु।
भणु केण कलिउ मंदरु करेण, उट्ठाविउ सुत्तउ सीहु केण।
भणु केण गलिउ णहि भाणु जंतु, णिव्विण्णउ प्राणहं को जियंतु।
भणु कासु करोडिहि दिट्ठु रसिउ, भणु को कयंतदंतंति वसिउ।
भणु केण विहंडिउ मज्झु माणु, केणेहु विसज्जिउ कुलिसवाणु।

घत्ता—

जेणेउं वियंभिउं रणु पारंभिउं सो महु अज्जु ण चुक्कइ।
णिब्भंगु जमाणणु भीयउ काणणु विहि वि एक्कु अत्रु ढुक्कइ।

(मपु० १२।१७।१-११)

इय भणिवि तेण कड्ढिउ करालु......।

इस स्थल पर वाण निक्षेप करने वाले भरत आलम्बन हैं। वाण उद्दीपन हैं। आवेग, उग्रता, अमर्ष तथा गर्व संचारी हैं। भ्रूकुटिल होना, अधर चवाना, गर्जन करना, तलवार निकालना आदि अनुभाव हैं। मगध राज के प्रत्येक वचन से क्रोध व्यंजित होकर रौद्र रस का परिपाक हो जाता है।

हिमवंत कुमार भी इसी प्रकार भरत के प्रति क्रोध करता है—

दीहर जालामालाजलिउ, पलयाणलु केण पडिक्खलिउ।
केसरिकेसरु उल्लूरियउ, कालाणिलु केण वियारियउ।
....
जगि केण भाणु णित्तेइयउ, महु केण रोसु उप्पाइयउ।
को पारु पराइउ णहयलहो, को सुपहुत्तउ णियभुयवलहो।
किं ण मरइ करवालेण हउ, ण वियाणहु किं सो वज्जमउ।
सरु मज्झु वि केण विसज्जियउ, खयडिंडिमु कासु पवज्जियउ।
जेण विमुक्कु सरु अइदीहु समाणु फणिदहो।
सो महु मरइ रणे जइ पइसइ सरणु सुरिंदहो।

(मपु० १५।३।१-१३)

दूत द्वारा वाहुवलि का रण-निमंत्रण प्राप्त कर महाराज भरत क्रोधाभिभूत हो जाते हैं। कवि ने इस अवस्था में उनके अनुभावों का चित्रण इस प्रकार किया है—

ता समरचित्तु विसरिसु विरुद्धु, विप्फरियदसणडसियाहरुद्धु।
कढिणयरपाणिपीडियकिवाणु, उद्धुयमीसियंहयंभउंहकोणु।

तिवलीतरंगभंगुरियभालु, णं सीहु कुडिलदाढाकरालु ।
अरुणच्छिछोहें रंजियदियंतु, णं पलयजलणु धगधगधगंतु ।
(मपु० १७।१।३-६)

अतः भरत ने विस्फारित दशनों से अपने अधर दबा लिये । दाहिने हाथ में कृपाण कस कर पकड़ ली । उनकी भौंहों के कोण कुंचित हो गये । भाल पर तीन रेखाओं की भंगिमा दृष्टिगत होने लगी मानों सिंह के कुटिल दांत ही हों । उनके अरुण नेत्रों के क्षोभ से दिशाएं रंजित हो गईं मानों प्रलयाग्नि धग्-धग् जल रही हो । ऐसे ही रोष में भरे हुए वे बोले—

सुयरेप्पिणु तायहु तणउं चारु, जइ कह व ण मारमि रणि कुमारु ।
तो धरिवि णिरुंभवि करमि तेम, अच्छइ करि जिह णियलग्गु जेम ।
महु कुद्धहु रणि देव वि अदेव, सो ण करइ किं महु तणिय सेव ।

यदि रण में मेरे द्वारा बाहुबलि के मारे जाने के कारण पिता (ऋषभ) को कष्ट होगा तो मैं उसको हाथी की भांति शृंखला से बांध कर रखूंगा । जब रण में मेरे क्रोध से देव-अदेव भी नहीं बचते, तो वह (बाहुबलि) मेरी सेवा क्यों न करेगा ।

यहाँ भरत द्वारा अपने पिता के कष्ट का स्मरण करने के कारण क्रोध की तीव्रता मंद पड़ जाती है । परन्तु कवि ने भरत की इस गर्जना के उपरान्त अतिभीषण काल-स्वरूप तथा गिरेन्द्रधीर मुकुटबद्ध माण्डलिक राजाओं का भरत के सम्मुख सन्नद्ध होने का वर्णन करके रौद्र रस की सृष्टि करदी है ।

लंका-दहन करते हुए हनुमान का रौद्र रूप भी देखने योग्य है—

कुडिलवक्क मच्छर उच्छियकवि, जलियजलण जालाकेसावलि ।
गुंजापुंज रत्तणेत्तुब्भड, दाढाभंगुर पललंपड ।
दीहदीहजीहाललालिर, परबलघोलिर हुंकिर सुंकिर ।
(मपु० ७४।८।४-६)

संग्राम में राम-पक्ष की ओर विभीषण को देखते ही रावण का क्रोध उबल पड़ता है । वह कहता है—

ता दहमुहेण भाइ दुव्वोल्लिउ, पइं पियबंधुसुहिहि [illegible] ।
विणु अवमाणक्कमेण [illegible] [illegible] ।
पइ ण णिरुत्तउ कुलचिंधेण, दुम्मुह दुट्ठ [illegible] ।
(मपु० ७८।११।१०-१२)

भीषण युद्ध करते हुए रावण का रौद्र रूप भी देखते ही बनता है—

दुवई—ता पसरमाणकंबु [illegible] ।
रणि बहुविहरणीर [illegible] ॥

....

चउद्दं मि पासहिं भडु भीसावणु, जलि थलि महियलि णहयलि रावणु।
वीरपाणिपरिभामियपहरणु, तिणयणगलतमाल संणिहृतणु।
गुंजा पुंज सरिस णयणारुणु, हण हणु हणु भणंतु रणदारुणु।
अग्गइ पच्छइ चंचलु धावइ, मणहु वि पासिउ वेएं पावइ।

....

घत्ता—भीमाहयचंडहिं दढभुयदंडहिं चप्पिवि हुंकरेवि धरइ।
करि रोहइ जोहइ करणहिं मोहइ दसणविहिण्णु वि णीसरइ॥
(मपु० ७८।१६।१-१५)

क्रोध-भाव की व्यजना णायकुमार चरिउ के इस प्रसंग मे भी देखी जा सकती है : गौड़राज अरिदमन की सभा में महाव्याल शान्ति-प्रस्ताव लेकर जाता है, परन्तु वह इस प्रस्ताव को ठुकरा देता है और क्रोधित होकर अनेक वचन कहता है। कवि ने उसका चित्रण इस प्रकार किया है।

विप्फुरियरयणकुंडलधरेण, अपणामें खंडियतुहसिरेण।
मरु कवणु दूउ किर कवणु राउ, सव्वहं पाडमि जमदडघाउ।
णीसारहु मारहु पिसुणु धिट्ठु, सरसुत्तियाए पाविट्ठु दुट्ठु।
(णाय० ४।६।८-१०)

यहां दूत के वचन आलम्बन हैं। अरिदमन द्वारा कहे गये शब्दों में रौद्र का स्पष्ट रूप लक्षित होता है।

भयानक रस—

कवि ने भय का परिपाक अनेक स्थलों पर किया है। यहाँ हम केवल कुछ विशिष्ट स्थलों को ही विचारार्थं प्रस्तुत करेंगे।

दिग्विजय-अभियान के प्रसंग में चक्रवर्ती भरत जब मगधराज के भवन को देखकर अपने धनुष को घोर टंकार करते हैं, तब समस्त तारा, ग्रह, सूर्य आदि आन्दोलित हो जाते हैं। पृथिवी हिलने लगती है, सूर्य के अश्व आतंकित हो जाते हैं, मेरु, शेष वरुण आदि कंपित होते हैं, तथा यम वैश्रवण एवं पवन आशंकित हो जाते हैं। सरिताएँ, सागर आदि चलायमान होते हैं। पुर-प्राकार, गृहादि धराशायी होने लगते हैं। कायर भय के कारण मृत्यु को प्राप्त होते हैं। श्रेष्ठ वीर भी खड्ग पर दृष्टि लगाये रहते हैं। अन्य चिल्लाते हैं कि हा, सृष्टि नष्ट हो गई। धनुष के भीम शब्द को सुनकर भटादि भी भय का अनुभव करते हैं। शंका होती है कि क्या मंदर का शिखर स्थानाच्युत हो गया अथवा जग को कवलित करके काल भीषण अट्टहास कर रहा है। इस समय पाताल में शेष, धरती पर राजा-गण तथा स्वर्ग में सुरेन्द्र भी कम्पित हो जाते हैं। कवि कहता है कि ऐसे धनुष के शब्द से कौन भयभीत नहीं हुआ। देखिए—

रिउभवणु पलोइवि णिववरेण, अप्फालिउ धणुहुँ धणुद्धरेण।
अंदोलिय तारागहपयंग, महि चलिय विवरणिग्गयभुयंग।
अच्छोडियबंधण विवलियंग, णिण्णासिय तासिय रवितुरंग।
थरहरिय धराहर धरण वरुण, आसंकिय जम वइसवण पवण।
संचालिय सरिसरसायरंभ, गयमयगल मुंडियालाणखंभ।
णिवडिय पुरवर पायार गेह, मुय कायर णर भयभंतदेह।
वरवीरहिंखग्गहु दिण्ण दिट्ठि, अवर वि चवंति हा णट्ठ सिट्ठि।
दप्पिट्ठ दुट्ठ भुयबलविमद्दु, भडभीयरु भाइ भीमु सद्दु।
किं मंदरसिहरु सठाणल्हसिउ, किं जगु कवलिवि कालेण हसिउ।
घत्ता—पायालि फणिंदहिं महिहि णरिंदहिं सग्गि सुरिंदहिं कंपिउ।
धणुगुणटंकारें अइ गंभीरें कासु ण हियडउं विप्पिउ॥

(महु० १२।१५।४-१४)

यहाँ भय का आलम्बन भरत के धनुष की टंकार है। तारा-ग्रहों का आन्दोलित होना, धरती का डगमगाना, मेरु का कंपित होना, सागर का चलायमान होना तथा पुर प्राकार आदि का धराशायी होना उद्दीपन है। शंका, चिंता, त्रास, आवेग आदि संचारी भाव भी यहाँ स्थायी भाव को पुष्ट करते हैं। कायरों का मरना, वीरों का आशंकित होना, तथा सुरेन्द्रादि का कंपित होना अनुभाव है। इस प्रकार से भयानक रस की परिपुष्टि होती है।

भय का दूसरा उदाहरण उस समय का है, जब भरत की दुर्दमनीय सेना म्लेच्छ-मंडल को कंपित करती हुई प्रस्थान करती है। कवि ने दंडक छंद में गजों की चिंघाड़, तुरगों का हिनहिनाना आदि का वर्णन ऐसी वर्ण योजना द्वारा किया है कि समग्र वातावरण में भय व्याप्त होता हुआ प्रतीत होता है—

जं गुलुगुलंतचोइयमयंग पय भूरिभार भज्जिज्जमाण भूकंपकंपिर
णाइंद मुक्कफुक्कारराववोरं।
जं हिलिहिलंत वाहियतुरंग खरखुरग्गावली चलिय धूलि पायंत
तियसतरुणीविचित्त पोमालेवलित्तं

(महु० १४।३।३-४)

ऐसी विकट वाहिनी को चारों ओर से आक्रान्त होते देख, म्लेच्छ राज भयभीत होकर कहता है कि अब कहाँ शरण है। मेरा मरण निश्चित है क्योंकि शत्रु प्रचण्ड रूप से बढ़ता चला आ रहा है—

घत्ता—तं पेच्छिवि पवरु सम्मद्दिउ चक्कु चोइज्जइ मेच्छहिं।
एवहिं को सरणु हुयवहु मरणु रिउ धाइउ चहु पासहिं।

(महु० १४।७।११-१२)

यहाँ भय का आलम्बन भरत की विशाल सेना है। पूर्वोक्त उद्धरण में वर्णित सेना का प्रचण्ड रूप ही उद्दीपन है। त्रास, शंका तथा चिंता के भाव संचारी रूप में हैं।

पाताल से धरणेन्द्र के आगमन का दृश्य भी भय का संचार करता है। उसके विस्तृत फण-संघात द्वारा निःसृत फुफकार से महिधर भी कंपित हो जाते हैं। सिंह तथा गज व्याकुल होकर गर्जन करते तथा चिग्घाड़ते हैं। पर्वतों के अति निवर्षण से अग्नि प्रज्ज्वलित होकर समस्त कानन प्रदेश में फैल जाती है और उसके ताप से आशंकित होकर मुनि-वृंद तक भागने लगते हैं—

ता णिग्गमणभेव धरणेण कयं संभरियजिणवरं ।
फारफणाकडप्प फुक्कारुल्लालियसमहिमहिहरं ॥
महिहरकंदकंदराय पण णिग्गयकूरहरिवरं ।
हरिओरालिरोलवित्तासिय णासियमत्तकुंजरं ॥
कुंजरचलचरणपडिपेल्लण पाडियपयडभूरुहं ।
हुयवहविप्फुलिंग जालावलि जलियसमत्तकाणणं ।
काणणसंणिसण्णमुणितावासंकियसयलसुरयणं ॥

(मपु० ८।७।५-१२)

राम की विशाल सेना के प्रयाण से महि कंपित होती है, शेष धरा-भार से नमित हो मौन रह जाते हैं, हाथियों के गमन से मार्ग क्षुभित तथा मदजल से कर्दम-पूर्ण हो जाता है, जिसके कारण जन-समुदाय शंका से भर जाता है। समुद्र भी भयातुर हो जाता है और देवेन्द्र कातर तथा व्याकुल होकर स्थिर रह जाते हैं।

संचल्लंति रामि महि कंपइ, धरभरणमिउ ण फणिवइ जंपइ ।
गय पयकुडिय कुहिणि मयपंके, दुग्गम भावइ कयजणसंके ।
....
रसिय भएण णाइं रयणायर, थिय देविंद विसुंठल कायर ।

(मपु० ७२।१।८-६, ११)

इसके अतिरिक्त वानर सेना द्वारा लंका घेरने (मपु० ७७।५) तथा गोकुल में मूसलाधार वृष्टि (मपु० ८५।१६) के प्रसंग भी भय का भाव उत्पन्न करते हैं। श्मशान के दृश्यों में कवि ने भयानक के साथ वीभत्स का संयोग उपस्थित किया है। इसका विवेचन हम वीभत्स रस के अन्तर्गत करेंगे।

वीभत्स रस

वीभत्स के दर्शन हमें श्मशान तथा युद्ध के दृश्यों में विशेष रूप से प्राप्त होते हैं। कवि ने श्मशान के दो स्थलों पर वर्णन किये हैं। एक तो महापुराण में है और दूसरा जसहर चरिउ में।

महापुराण में वसुदेव के श्मशान-भूमि में पहुंचने पर कवि ने उसका विस्तार से वर्णन किया है। वहां वसा की दुर्गंध आ रही थी। शव पड़े हुए थे। श्वान इधर-उधर घूम रहे थे। मुक्त शब्द करती हुई शृगालियां लंबी-लंबी आंतों का भक्षण कर रहीं थीं। शूल-भग्न शरीर पड़े थे। चोर क्रंदन कर रहे थे। बिलाव घोर शब्द करते हुए विचर रहे थे। वीरेश मंत्र के साधक हुंकार कर रहे थे। धूम्र का अंधकार सर्वत्र व्याप्त था। उलूक कभी आकाश में उड़ते तथा कभी भूमि पर बैठते थे। वट वृक्ष वैताल-वत् खड़े थे। दिशा-डाकिनी खाती-पीती तथा नर-कंकाल की वीणा बजाती हुई गा रही थी—

वसा वीसढं देहि देहावसाणं, पविट्ठो असाणं मसाणं ।
कुमारेण तं तेण दिट्ठं रउद्दं, ण्हंतंतमालं सिवामुक्कसद्दं ।
महासूल भिण्णंगकंदंतचोरं, विवंभंत मज्जार घोसेण घोरं ।
विहुंडंत वीरेस हुंकारफारं, पलिप्पंत सत्तच्चिधूमंधयारं ।
णहुड्डीणभूलीणकीलाउलूयं, समुट्टंतणग्गुग्ग वेयालरूयं ।
णृकंकाल वीणासमालत्तगेयं, दिसाडाइणी दुग्गगज्जंतमेयं ।

(मपु० ८३।१५।३-८)

यहां वसा, शव, आंतों आदि से हृदय में जुगुप्सा का भाव उत्पन्न होता है। साथ ही बिलाव के शब्द करने, मंत्र-साधकों के हुंकार करने तथा उलूकों के उड़ने में भय की निष्पत्ति होती है। इस प्रकार प्रायः वीभत्स तथा भयानक का साहचर्य काव्यों में देखा जाता है। मालती माधव के श्मशान वर्णन तथा चंदबरदायी कृत रासो के युद्ध-प्रसंगों में इन दोनों रसों के साथ-साथ दर्शन होते हैं।

जसहर चरिउ के श्मशान का दृश्य भी ऐसा ही है। वह स्थान शृगाल-शृगालियों द्वारा विदारित उदर वाले मृतकों के समूह तथा कर-कर शब्द करने वाले काक-कुलों से व्याप्त हो रहा था। वहां फल-रहित शुष्क वृक्ष थे, राक्षसियों के मुखों से दीर्घ निःश्वास निकल रही थी और शूली पाए हुए चोरों के भयानक शव पड़े हुए थे। असंख्य मांस-भक्षी पक्षी उड़ रहे थे तथा निशाचर किलकिल निनाद कर रहे थे। चिता में जलते हुए शव-पुंज के धूम की गंध वातावरण में सर्वत्र फैल रही थी। भग्न भाजन तथा कपाल पड़े हुए थे—

तं पि पेक्खियं [illegible] गोयरं, [illegible] ।
[illegible], [illegible] ।
[illegible], [illegible] ।
[illegible], [illegible] ।
[illegible], [illegible] ।

धूमगंधधावंत साणयं, सव्वदेहिदेहावसाणयं ।
पवणपेल्लणुल्ललियभप्परं, भगभाण विक्खित्तखप्परं ।

जस० १।१३।२-८)

राम-रावण युद्ध में एक स्थल पर वीभत्स का निरूपण हुआ है—

किलिकिलिरवसोसिय कीलालइं, दिसिविदिगुट्ठउग्गवेयालइं ।
मिलियदलियपवकलयाइचक्कइं, वसकद्दम णिमण्ण रहचक्कइं ।
अंतमिलंतयंत कायउलइं, वालपूल णीलियधरणियलइं ।

(मपु० ७८।४।७-६)

इस स्थल पर कल-कल शब्द करता हुआ रक्त-प्रवाह, वसा के कर्दम में निमग्न रथ-चक्र, आंतों के ढेर में काक-समूह तथा केश-निचय-पूरित धरणीतल देख कर सहज ही जुगुप्सा का भाव उत्पन्न होता है ।

इसी प्रकार कृष्ण-जरासंध युद्ध में हिंस्र जंतु मांस-भक्षण करते हैं, गृद्ध भक्षित शरीरों में लुब्ध हैं, घावों से रक्त की धाराएं बह रहीं हैं तथा योगिनी, वैताल आदि प्रसन्न हो रहे हैं—

मासखंडपोणियभेरुंडइं ।
लुद्धगिद्ध खद्धंगपएसइं, गुरकामिणिकरघल्लियसेसइं ।
वणवियलिय धाराकीलालइं किलिकिलंति जोइणिवेयालइं ।

(मपु० ८८।५।६-११)

जसहर चरिउ में देवी चंडमारी का रूप भय तथा जुगुप्सा दोनों ही भाव उत्पन्न करता है ।

कुछ अंश देखिए—

ललललियजीह रुहिरोलवोल, वसकद्दम चच्चिचिक्कियकवोल ।
घोणसकडिसुत्तय लिहियपाय, पिउवण धूलीधूसरियकाय ।
णिम्मंस भीम चम्मट्ठिसेस, सिहिसिह संणिह फरुसुद्धकेस ।
पेयंतावलि भूसिय भुअग्ग, तासियपासिय बहु जीववग्ग ।

(जस० १।६।५-८)

अर्थात् देवी की रक्त-रंजित लपलपाती जिह्वा थी, वसा के कर्दम से चर्चित कपोल थे, सर्प का कटिसूत्र था, शरीर पर श्मशान की भस्म लगी थी, मांस-रहित अस्थि-चर्म था, मयूर-शिखा के समान कठोर तथा उन्नत केश थे तथा मृतकों की अंत्रावली से विभूषित भुजाएं थीं । इस प्रकार वह देवी अनेक जीवों को त्रास देती हुई स्थित थी ।

देवी का मंदिर-प्रांगण भी वैसा ही घृणोत्पादक था। वह प्रांगण पशु-रुधिर से सिक्त था। वहाँ पशुओं की दीर्घ जिह्वा-मय पात्र से पूजन होता था। पशु-अस्थियों की रंगावली बनाई थी तथा वसा से पूर्ण दीपक का प्रकाश होता था—

पमुहरहिरजलसित्तपंगणपएसम्मि, पमुहीहजोहादलच्छणविसेसम्मि ।
पमुअट्ठिकयपिट्ठरंगावलिल्लम्मि, पमुतेल्लवउजलियदीवयजुयलम्मि ।

(जस० १।१६।१२-१३)

एक स्थान पर लक्ष्मीमती नामक स्त्री के शरीर में व्याप्त कुष्ठ का वर्णन करते हुए कवि लिखता है—

तक्खणि सडियइं रोमइं णक्खइं, भग्गइं णासावंसकडक्खइं ।
परिगलियउ वीस वि अंगुलियउ, तणुलायण्णवण्णु जगिडल्लियउ ।
रुहिरपूय किमिपुंज करंडउ, देहु परिट्ठिउ मासहु पिंडउ ।

(मपु० ६०।४।५-७)

मुनि निंदा के कारण तत्क्षण उसके रोम-नख सड़ गये, नासिका-वंश भग्न हो गया तथा बीसों उंगलियाँ गल गई। क्षण में तन-लावण्य ढल गया। देह केवल मांस पिण्ड रह गई और सड़े हुए रुधिर में कृमि-पुंज उत्पन्न हो गए।

अन्यत्र, एक राक्षस द्वारा घट-घट करके नर-रक्त पीने, अस्थियों के कड़-कड़ चबाने, चर-चर शब्द करते हुए चर्म को फाड़ने आदि के वर्णन में वीभत्स की पूर्ण व्यंजना होती है—

घडहड त्ति णरलोहिउ घोट्टइ, कडयड त्ति हड्डइं दलवट्टइं ।
चरयरंत तणुचम्मइं फाडइ, णाइं णिवद्धणाइं अप्फोडइ ।

(मपु० ६०।११।२-३)

अद्भुत रस—

कवि की रचनाओं में विद्याधरों द्वारा विविध प्रकार के आश्चर्य-जनक एवं कुतूहल-पूर्ण कार्यों को संपादित करते हुए दिखलाया गया है। इन विद्याधरों को अनेक विद्याएँ सिद्ध होती हैं, जिनकी सहायता से वे आकाश में उड़ते हैं तथा इच्छानुसार दूसरे शरीर धारण करते हैं।

मपु० की संधि ३२ से ३५ तक राजकुमार श्रीपाल तथा सुखावती के चरित्र में विद्याधरों द्वारा अनेक अद्भुत कार्य किये जाने के वर्णन प्राप्त होते हैं। इसके अतिरिक्त मपु० की संधि ३ में इंद्र का अद्भुत नृत्य, संधि ६ में नीलांजना अप्सरा की आकस्मिक मृत्यु, संधि १४ में रत्न दंड के प्रहार से गुफा के कपाट खुलना, संधि ५१ में त्रिपृष्ठ द्वारा कोटि शिला-संचालन आदि अलौकिक घटनाओं के वर्णन भी मिलते हैं।

उक्त निर्दिष्ट कतिपय स्थलों पर विचार करने पर देखेंगे कि इनमें अद्भुत रस की कहाँ तक सृष्टि हो सकी है।

ऋषभ के जन्मोत्सव पर इन्द्र का असाधारण नृत्य होता है। इसके [illegible] और विचलित हो जाता है, धरती कंपायमान होती है, [illegible]

हो शेष विष-वमन करने लगते हैं और उसकी ज्वाला से दिशाएं जलने लगती हैं, महि-विवर फूटने लगते हैं। आदि।

सुरमहिहरो फुडइ महिवीढु कंपयडइ
परिभमइ थरहरइ णियदेहु संवरइ।
रोसेण फुप्फुयइ फणि फणसु विनु मुयइ।
विसजलणु वित्थरइ धगधगइ हुल्हुरइ।
तावेण कढकढइ जलयरकुलं लुढइ।
जलही वि झलझलइ सेरं समुल्लसइ।

घत्ता—सिहरइं णिवडंति दिसउ मिलंति महिविवरइं फुट्टंति।
णच्चंते इंदें णयणाणंदे गिरिसिहरइं तुट्टंति।

(मपु ३।२०।१३-२०)

इन्द्र का यह नृत्य निश्चय ही अलौकिक है। इससे सहज ही विस्मय का भाव उत्पन्न होता है, अतः उसका आलम्बन नृत्य है। गिरि-शिखरों का टूटना आदि उद्दीपन है, परन्तु भय का व्यापक प्रभाव हो जाने के कारण एवं संचारियों तथा अनुभावों के अभाव में अद्भुत रस का पूर्ण परिपाक नहीं हुआ।

ऋषभ की राज-सभा में नृत्य करती हुई नीलंजसा की अचानक मृत्यु हो जाती है—

झत्ति धरन्तो दिट्ठ मरंती।

(मपु० ६।६।२)

यह देखकर सभा में उपस्थित जन-समुदाय कुतूहल से भर जाता है। कुछ हा, हा, करके शोक प्रदर्शित करते हैं। महाराज ऋषभ स्वयं करुणा से कंपित होते हैं तथा चकित होकर मौन रह जाते हैं। कवि कहता है कि उसकी दशा देखकर प्रत्येक व्यक्ति विस्मित होता है—

अमराहिवणारिरयणु मुयउ, तं पेच्छिवि कोऊहलु हुयउ।
हा हा भणंतु सोएं लइउ, अत्थाणु असेसु वि विम्हइउ।

घत्ता—तहि मरणें करुणें कंपियउ भरहजणणु सवियक्कउ।
तुण्हिक्कउ थक्कउ तिजगगुरु कुसुमयंतु रइमुक्कउ॥

(मपु० ६।६।१२-१५)

इस स्थल पर नीलंजसा की मृत्यु विस्मय स्थायी भाव का आलंबन है। घटना की आकस्मिकता उद्दीपन है। शोक, जड़ता, स्मृति, चिंता आदि संचारी भाव हैं। स्तम्भ तथा कंप अनुभाव हैं। इनसे पुष्ट होकर अद्भुत रस का परिपाक हो जाता है।

राजकुमार श्रीपाल एक घोड़े पर चढ़ कर दूर निकल जाते हैं। उनके पीछे स्वजन हाहाकार करते हैं। वैतढ्य पर्वत के निकट पहुँच कर वह मायावी घोड़ा भयंकर राक्षस का रूप धर लेता है।

वेयड्ढ महामहिहरणियडि काणणि कुसुमियतरुवरि वियडि।
रिउणा तुरयत्तणु परिहरिउ भीउरु रयणीयररूवु धरिउ।

(मपु० ३२।५।११-१२)

पश्चात् एक यक्ष उस विद्याधर राक्षस को ललकार कर कहता है—

मा ओहट्टउ आउ तुहारउ, मा तासहि कुमारु महु केरउ।

(मपु० ३२।७।३)

परन्तु राक्षस खड्ग से उस यक्ष के दो भाग कर देता है। अब यक्ष के दोनों भाग उससे युद्ध करने लगते हैं। राक्षस पुनः उनके चार टुकड़े कर देता है। इस पर वे चारों अंग ही युद्ध करने लगते हैं। इस प्रकार राक्षस जैसे ही जैसे यक्ष के अंग काटता जाता है, वैसे ही वैसे उनकी संख्या दुगुनी होती जाती है। होते-होते जल, थल, आकाश सर्वत्र यक्ष ही यक्ष हो जाते हैं—

सो खग्गे खग्गेण दुहाइउ, वणसुरवरु बिहिं रूविहिं धाइउ।
हय विण्णि वि चत्तारि समुग्गय, गलगज्जंत दिव्व णं दिग्गय।
पहय चयारि अट्ठ पडिआया, अट्ठ वि हय सोलह संजाया।
हय सोलह बत्तीस भयंकर, बत्तीसहं चउसट्ठि भयंकर।
चउसट्ठिहिं वेउव्विउ रूवउ, अट्ठावीसउं सउं संभूयउ।
तं पि दुवालिद्धउ वणगयसंखहिं, जलु थलु णहयलु णिलिउ जक्खहिं।

(मपु० ३२।७।५-१०)

इस प्रसंग में असंभावित घटना-चक्र द्वारा सहज ही आश्चर्य का भाव उत्पन्न हो जाता है।

सीता-हरण के प्रसंग में मारीच कपट-मृग के रूप में आकर अनेक कौतुक करता है। राम उसके पीछे दौड़ते हैं। मृग अपने अविरल पदों द्वारा भूमि को नापता वेग से दौड़ता है और राम के निकट आता है। वे उसे पकड़ने की चेष्टा करते हैं, परन्तु वह आगे बढ़ जाता है। इस प्रकार वह कभी दूर दिखाई देता है, कभी मंद गति से क्रीड़ा करता है, कभी तरु-पल्लव चरता है, कभी वन में जल पीता दिखाई देता है और कभी वक्र ग्रीवा करके पीछे देखता है। क्षण में घना लता आम्र वृक्ष के नीचे और क्षण में अन्यत्र वेलि-कुंजों में दृष्टिगोचर होता है। अंत में राम द्वारा उसे पकड़ने की चेष्टा करते-करते वह आकाश में उड़ जाता है। श्रम से व्याकुल राम विस्मय से उसे देखते रह जाते हैं। अद्भुत रस की सृष्टि के साथ ही कवि का काव्य कौशल भी इस प्रसंग में द्रष्टव्य है—

पविरलपर्एहिं लंघंतु महि, लहु धावइ पावइ दासरहि ।

....

पहु पाणि पसारइ किर धरइ, मायामउ मउ अग्गइ सरइ ।
दूरंतरि णियतणु दक्खवइ, खेलइ दरिसावइ मंदगइ ।
णवदूवाकंदकवलु भरइ, तरुवरकिसलयपल्लव चरइ ।
कच्छंतरि सच्छसलिलु पियइ, वंकियगलु पच्छाउहुं णियइ ।
सुयचंचुघायपरियलियफलि, खणि दीसइ चंपयचूयतलि ।
खणि वेल्लिणिहेलणि पइसरइ, अण्णण्णपएसहिं अवयरइ ।
ओहच्छइ अक्कोड्डावणउ, लइ माणमि णयणसुहावणउ ।
इय चिंतिवि राहउ संचरइ, पहु पुणु धरणास तासु करइ ।
धरिओ वि करग्गहु णीसरइ, कहिं वेसायणु कहिं णीसरइ ।

....

घत्ता—गउ गयणुल्ललिउ मिगु णं कुवाइहत्थहु रसु ।
थिउ दसरहतणउ समणीसरंतु विंभियवसु ॥

(मपु० ७२।४।१-१४)

करुण रस

करुण अत्यन्त कोमल रस है । इष्ट वस्तु की हानि, अनिष्ट की प्राप्ति अथवा प्रेम-पात्र के चिर-वियोग आदि कारणों से करुण की निष्पत्ति होती है। इसमें सहानुभूति के साथ सहृदयता, उदारता, समरसता आदि भावनाएँ भी मिश्रित रहती हैं । जैन कवि बनारसीदास शोक के स्थान पर कोमलता को इसका स्थायी भाव मानना अधिक तर्क-सम्मत समझते हैं, क्योंकि शोक के मूल में चिन्ता रहती है और चिन्ता से भय का प्रादुर्भाव होता है, अतः उनके अनुसार शोक से करुण की उतनी अनुभूति नहीं होती जितनी कोमलता से होती है ।[1] परन्तु साहित्य में सामान्यतः प्राचीन परम्परा के अनुसार शोक ही इसका स्थायी भाव माना जाता है ।

कवि ने करुण के मार्मिक चित्रण किये हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि कवि के अंतस् का आक्रोश उसके काव्य के करुण-प्रसंगों में ही अभिव्यक्त हो गया है । संभवतः डॉ० भायाणी को कवि में भवभूति के दर्शन होने का यही कारण है ।

सहस्रबाहु तथा कृतवीर द्वारा जमदग्नि का वध किये जाने पर उसकी पत्नी रेणुका के विलाप का उल्लेख हम पूर्व ही कर चुके हैं ।[2] इस प्रसंग में करुण का पूर्ण परिपाक हुआ है । कवि ने स्मृति, भ्रम, उन्माद, विषाद आदि संचारियों

---

१. हिन्दी जैन साहित्य परिशीलन, नेमिचन्द्र शास्त्री, पृ० २३० ।
२. देखिए ऊपर पृ० १८३ ।

तथा भूमि-पतन, रुदन, प्रलाप आदि अनुभावों द्वारा रेणुका के शोक का अत्यन्त हृदयग्राही चित्र उपस्थित कर दिया है।

ऐसा ही एक अन्य करुण दृश्य रावण के निधन पर मन्दोदरी तथा विभीषण के शोक का है। कवि के विलाप-वर्णन के अंतर्गत इसका भी विवेचन हम कर चुके हैं।[1] मंदोदरी द्वारा रावण के पराक्रम तथा उसके रति सम्बन्धी गुणों का स्मरण किये जाने से उसका शोक और भी उद्दीप्त होता है और वह उसके रुदन, निःश्वास, प्रलाप आदि अनुभावों द्वारा व्यक्त होता है। इसी प्रकार विभीषण भी अपने भ्राता के अनेक गुणों का स्मरण करके अपने भाग्य पर पश्चाताप करता है। वह सूर्य, चन्द्र, इंद्र, यम, अग्नि आदि को अब स्वेच्छापूर्वक कार्य करने के लिये कहता है। उसे अपने जीवित रहने में भी सन्देह है। वह काल से पूछता है कि तूने भ्राता के स्थान पर मुझे ही कवलित क्यों नहीं किया ? ये कथन उसकी मानसिक ग्लानि तथा विषाद का परिचय देते हैं।

पुनः ऐसे ही एक अन्य चित्र का उद्घाटन उस समय होता है जब लक्ष्मण की मृत्यु पर राम मूर्छित हो जाते हैं। सलिल-सिंचन के उपरान्त जब उन्हें चेतना आती है तब वे हा भ्राता, हा लक्ष्मण, हा लक्ष्मी-धर आदि कहते हुए प्रलाप करते हैं—

विहिणा सोसिउ गुणणिहिगहीरु, सोएण पमुच्छिउ रामु धीरु।
सिंचिउ सलिलें माणवमहंतु, उम्मुच्छिउ हा भायर भणंतु।
घत्ता—हा दहमुहणिहण हा लक्खण हा लच्छीहर।
हा रयणाहिवइ हा वालिहरिणकंठीरव।

(पउम० ७८।११।११-१४)

और प्रिय देवर के हेतु सीता का शोक भी कम नहीं है। वह कहती है कि हे देवर, तुमने राम को अकेले क्यों छोड़ दिया ? तुम्हारे बिना अब जीवन में क्या है—

धाहावइ सीय मणोहिरामु, एक्कल्लउ छंडिउ काइं रामु।
हा हे देवर महु देहि वाय, पइं विणु जीवंतहं कवण छाय।

(पउम० ७८।१२।१-२)

पुनः हम रावण-वध के प्रसंग पर जब दृष्टिपात करते हैं तो एक अन्य करुण चित्र सम्मुख आता है। वह है रण-भूमि में मृत सैनिकों की पत्नियों का अपने-अपने पतियों को देख कर शोक करना। कोई स्त्री दूसरी से कहती है कि हे सखी, मैं क्या करूं ? लक्ष्मण द्वारा मारा अपने प्रियतम को देख कर मेरा मन

---

१. देखिए ऊपर पृ० १८३-१८४।

अत्यन्त व्यथित है। अच्छा होता कि मैं अपने पति के सम्मुख ही मर जाती। कोई कहती है कि नियति का चक्र नहीं ज्ञात होता। प्रभु (रावण) गोत्र का विनाश करने वाली सीता को लाया। ऐसी कलहकारिणी सीता को आग लगे। दुष्ट दैव द्वारा उत्पन्न की गई वह मेरी वैरिन है। उन्माद की अवस्था में अन्य स्त्री कहती है कि मेरा प्रिय उर्वशी, रंभा आदि अप्सराओं की ओर आकर्षित नहीं हो सकता। अपने विवाह के समय मेरी आयु अत्यल्प थी, अतः हमारा प्रेम अटूट है। शोक के साथ मानसिक विक्षोभ, आत्म-विश्वास तथा प्रेम के ये स्वाभाविक उद्गार निश्चय ही अत्यन्त मार्मिक हैं—

का वि भणइ हलि जूरइ महु मणु, लक्खणेण महु रंडालक्खणु।
पायडियउं एवहिं किं किज्जइ, वर णियणाहें समउ मरिज्जइ।
का वि भणइ णियणियइ ण याणिय, पहुणागोत्तमारि कहिं आणिय।
डज्झउ सीय गुविप्पियगारिणि, खलदइवें संजोइय वइरिणि।
का वि भणइ उव्वसि पिउ मेल्लहि, रंभि तिलोत्तमि किं पि म बोल्लहि।
कण्णावरु इहु णाहु महारउ।

(मपु० ७८।२१।८-१३)

कृष्ण द्वारा यमुना में घुस कर कालीदह के कमल लाने के प्रसंग में नन्द तथा यशोदा का भावी विपत्ति की आशंका से व्यथित होकर करुण-क्रंदन करने का वर्णन कवि इस प्रकार करता है—

ता णंदु कणइ सिरकमलु धुणइ।
जहिं दीणसरणु तहिं ढुक्कु मरणु।
जहिं राउ हणइ अण्णाउ कुणइ।
किं धरइ अण्णु तहिं विणयगण्णु।
हउं काइं करमि लइ जामि मरमि।

(मपु० ८६।१।६-१३)

यहाँ नन्द राजा कंस की निन्दा करते हुए अपनी विवशता के कारण सिर धुनते हैं और स्वयं मरने के लिए उद्यत हो जाते हैं। उधर बिलखती हुई यशोदा कहती हैं कि मेरा एक ही पुत्र है जिसका मुख देख कर मैं जीवित हूँ। मैं स्वयं काल का ग्रास बनूं परन्तु मेरे पुत्र को कुछ न हो। इस प्रकार दीर्घ निःश्वास लेती हुई वे त्रसित होती हैं—

उप्पण्ण सोय कंदइ जसोय।
महु एक्कु पुत्तु अहिमुहि णिहित्तु।
मा मरउ बालु मंइं गिलउ कालु।
इय जा तसंति दीहर ससंति।

(मपु० ८६।१।१७-२०)

कृष्ण के निधन पर, बलराम के बंधु-विनाश-जन्य शोक के वर्णन में कवि ने स्मृति, आवेग. प्रलाप, व्यग्रता आदि के समावेश से चित्रण को अत्यन्त प्रभावशाली बना दिया है—

उट्ठि उट्ठि अप्पाणु णिहालइ, लइ जलु महुमह मुहं पक्खालइ।
दामोयर धूलीइ विलित्तउ, उट्ठि नट्ठि कि भूमिहि सुत्तउ।
उट्ठि उट्ठि केसव मइं आणिउं, णिरु तिसिओ सि पियहि तुहुं पाणिउं।
उट्ठि उट्ठि सिरिहर साहारहि, मइं णिज्जण वणि कि अवहेरहि।
उट्ठि उट्ठि हरि मइं बोल्लावहि, चिंताऊरिउ केत्तिउं सोवहि।
पूयणमंथण सयडविमद्दण, विमणु म थक्कहि देव जणद्दण।
इंदु वि बुड्डइ तुह असिवरजलि, अज्ज वि तुहुं जि राउ धरणीयलि।
....
जहिं तुहुं तहिं सिरि अवसें णिवसइ, जहिं ससि तहिं कि जोण्ह ण विलसइ।
उट्ठि उट्ठि भद्दिय जाइज्जइ, किं किर गिरिकंदरि णिवसिज्जइ।
(महु० ९२।१२।१-११)

यहाँ बलराम अनेक वचन कह कर मृत कृष्ण को उठने के लिये प्रेरित कर रहे हैं। वे कहते हैं देखो कृष्ण, मैं जल लाया हूँ, अपना मुख धो डालो। उठो, उठो, तुम धूलि में विलिप्त हो भूमि पर क्यों सोते हो? उठो केशव, मैं तुम्हारी तृषा शान्त करने के लिये जल लाया हूँ। उठो श्रीधर, मैं इस निर्जन में किसे देखूं? उठो हरि, मैं बुलाता हूँ, तुम चिंता से पूरित कैसे सोए हो? हे जनार्दन, पूतना का मंथन करने वाले, शकट का विमर्दन करने वाले, तुम विमन मत हो, तुम्हारी असि के जल में इंद्र भी डूब जाता है। आज इस धरती के तुम्हीं तो राजा हो, जहाँ तुम होते हो श्री वहाँ अवश्य निवास करती है। जहाँ शशि है वहाँ ज्योत्स्ना का विकास क्यों न होगा? हे नारायण, अब उठ जाओ, इस गिरि-कंदरा में क्यों निवास करते हो?

पुत्र-शोक का एक करुण दृश्य णायकुमार चरिउ में उस समय दृष्टिगत होता है जब शिशु नागकुमार अचानक कूप में गिर जाता है। यह समाचार सुनते ही माता पृथिवी देवी विसंष्ठुल होकर भूमि पर गिर पड़ती है। वह रुदन करती हुई कहती है कि हा पुत्र, तुम्हें यह क्या हो गया? मैं सभी प्रकार के दुःख सहन कर सकती हूँ, परन्तु तेरे बिना मैं कैसे जीवित रहूँगी? यह कह-कर वह स्वयं उसमें गिर कर मरने के लिए उद्यत होती है—

तं णिसुणिवि विहुणियसिरकमलिय, पुहविमहाएवि [illegible]।
धाइय रोवइ पडियदसदिसि, [illegible]।
हा पुत्त पुत्त णायकुमार, हा पुत्त पुत्त कि हुयउ पुत्त।

वहुदुक्खसयाइं सहंतियए, पइं विणु किं मइं जीवंतियए।
इय पभणिवि मरणु जि चिंतियउ, अप्पाणउ तित्थु जि घत्तियउ।

(णाय० २।१३।१-५)

हास्य रस

कवि के काव्य में हास्य के स्थल अधिक नहीं है। दो एक प्रसंगों में जहाँ वाणी और विपरीत चेष्टाओं द्वारा हास्य की व्यंजना होती है, नीचे प्रस्तुत किए जाते हैं—

राजकुमार वसुदेव के नगर-भ्रमण के प्रसंग में कवि काम-पीड़ित पुर-नारियों की अनेक चेष्टाओं का वर्णन करता है। कवि के शब्दों में ये नारियाँ लोक-लज्जा, कुल-भय तथा पति, देवर, श्वसुर आदि की सुधि भूल कर वसुदेव के लिये पागल सी हो जाती हैं—

लोहलज्ज कुलभयरसमुक्कउं, वरदेवरससुरय मुहि चुक्कउं।

(मपु० ८३।२।६)

ऐसी ही एक अतृप्त काम-विह्वला अपने पति के प्रति ईर्ष्या का भाव रखती तथा दर्पण में अपना तारुण्य देखती हुई विचार करती है कि मैं विरहाग्नि में जल कर मर रही हूँ और यह (पति) स्वयं सो रहा है।

क वि ईसालुयकंत दप्पणि तरुणु पलोइवि।
विरहहुयासें दड्ढ मुय अप्पाणउं सोइवि॥

(मपु० ८३।२।११-१२)

यह उक्ति जिस ढंग से कही गई है, उससे हास्य की व्यंजना होती है।

एक और नारी वसुदेव को देखकर इतनी सुध-बुध खो बैठती है कि शून्य गृह में अपने शिशु को भूलकर गोद में बिल्ली को ले दौड़ पड़ती है और इस प्रकार लोगों के लिये हास्य की परिस्थिति उपस्थित कर देती है—

तग्गयमण क वि मुहआलोयणि, वीसरेवि सिसु सुण्णणिहेलणि।
कडियलि घरमज्जारु लएप्पिणु, धाइयजणवइ हासु जणेप्पिणु।

(मपु० ८३।३।१-२)

इसी प्रकार कोई नारी उलूखल (ओखली) को छोड़ कर धरती पर ही मूसल चलाने लगती है—

काहि वि कंडंतिहि ण उदूहलि, णिवडिउ मुसलघाउ धरणीयलि।

(मपु० ८३।३।३)

अपनी पत्नियों की यह दशा देकर नगर-निवासी राजा के द्वार पर जा कर पुकारते हैं हे नाथ, हमारा उद्धार कीजिये। हे देव, आप बताएँ कि हम क्या करें ? हमारी गृहणियों की यह दशा है तब गृहस्थी किस प्रकार चले—

णरणाहहु कयसाहुक्कारें, ता पय णय सयल वि कुवारें ।
देव देव भणु किं किर किज्जइ, विणु घरिणिहिं घर
केंव घरिज्जइ ।

(महापु० ८।३।१०-११)

इस प्रकार हम देखते हैं कि शृंगार की लपेट में हास्य की मधुर व्यंजना उपस्थित करके कवि ने इस प्रसंग को अत्यन्त मनोरंजक बना दिया है।

शृंगार रस

साहित्य में शृंगार रस का विशेष महत्त्व है। रामायणादि शान्त रस प्रधान काव्यों में हमें शृंगार के रमणीक चित्रण प्राप्त होते हैं। जैन कवियों के काव्य भी प्रायः शान्त रस प्रधान होते हैं, परन्तु शृंगार की उपेक्षा वे भी नहीं कर सके।

पुष्पदंत के काव्य में शान्त तथा वीर रसों की भाँति शृंगार के अनेक सरस स्थल हैं। उनमें से कुछ विशिष्ट स्थलों का विवेचन हम नीचे प्रस्तुत कर रहे हैं।

संयोग पक्ष का एक उत्कृष्ट चित्र जसवइ तथा सुनंदा के साथ ऋषभ के विवाहोत्सव पर उपलब्ध होता है। इस स्थल पर यह ध्यान देने योग्य है कि कवि की दृष्टि विवाह द्वारा वर-वधुओं के सामान्य शारीरिक बंधन में बँधने की ओर नहीं है, वरन् वह उनके स्नेह-पूरित हृदयों के पारस्परिक प्रणय-सूत्र में आबद्ध होने का विशेष रूप से उल्लेख करता है। इस मानसिक प्रेम की अभिव्यक्ति कवि के शब्दों में देखिए—

णयणेसु णयण लग्गा तिरिच्छ, मयरोहिं णाइं पडिफलिय मच्छ,
पियणेहाऊरिय विरयरंति, णावइ गुरुगुमिरहिं पइसरंति ।
चित्ताइं चित्ति मिलियाइं केम, णइवर मरुलिलइं मिलिवि जेम ।

(महापु० ४।१४।३-४)

अर्थात् नेत्रों से तिरछे नेत्र लगे जैसे मच्छ ने मच्छ को प्रतिफलित कर दिया हो। प्रिय के स्नेह-पूरित चंचल कर्ण-विवरों में प्रवेश कर रहे हैं। चित्त से चित्त उसी प्रकार मिल रहे हैं जैसे सरिताओं का जल परस्पर मिलता है।

दोनों पार्श्व में एक-एक पत्नी को भुजाओं से आबद्ध किये हुए ऋषभ देव ऐसे निकले मानों वल्लरियों से वेष्ठित कल्प वृक्ष हो—

एक्केक्कुपासइ एक्क तरुणि, वीयण कुणइ कुरुल धरिणि ।
देण्णि वि तेल्लिए वेल्लिहि णाइं तं कप्परुक्खु वेढिज्जइ ।

(महापु० ४।१४।८-९)

दीर्घ वियोग के पश्चात् लंका में राम तथा सीता के मिलन के दृश्य की तुलना कवि गंगा तथा समुद्र के मिलन से करता है—

आणिय मिलिय देवि वलहद्दहु, अमरतरंगिणि णाइ समुद्दहु ।

(मपु० ७८।२७।१०)

इस स्थल पर सीता के असीम हार्दिक आनन्द को उनके पुलकित शरीर द्वारा व्यक्त किया गया है।

जं दिट्ठु समाहउ णियपइ राहउ तं सीयहि तणुकंचुइउ ।

पुलएण विसट्टउ उद्धु जि फुट्टउ पिसुणु व सयखंडइं गयउ ॥

(मपु० ७८।२७।१५-१६)

मपु० संधि ३२ में राजकुमार श्रीपाल को देख कर पुरुष-वेश में नृत्य करती हुई एक नारी के हृदय में रति भाव जाग्रत होता है। कवि ने यहाँ नीवी बंधन का ढीला होना, नेत्रों को चपलता, मन का कम्पन, अधरों का फड़कना, शरीर का प्रस्वेदित होना, दृढ़ केश-भार का खुलना आदि कायिक अनुभावों द्वारा उसकी दशा का वर्णन किया है—

ढिल्लीहूयउ णीवीबंधणु, परिभमंति णयणइं कंपइ मणु ।

फुरइ अहरु पासेउ पवियलइ, केसभारु दढबद्धु वि वियलइ ।

(मपु० ३२।३।५-६)

कृष्ण को अपने पूर्व-राग का स्मरण दिलाती हुई कोई गोपी यमुना-तट पर उनके द्वारा वस्त्र-हरण किये जाने की घटना का उल्लेख करती है। साथ ही कृष्ण का मथुरा की कामिनियों में अनुरक्त होकर उसकी ओर से अस्थिर चित्त कर लेने की शिकायत द्वारा वह अपनी प्रेम-जन्य ईर्ष्या का भी परिचय देती है—

पंगुत्तउं पइ माहव सुहिल्लु, कालिंदितीरि मेरउ कडिल्लु ।

एवहिं महुराकामिणिहिं रत्तु, महुं उप्परि दोसहि अथिरचित्तु ।

(मपु० ८६।१०।५-६)

गत भव में ललितांग देव के साथ हुए अपने पूर्व-राग का स्मरण करती हुई श्रीमती विरह से व्याकुल होती है। हा ललितांग देव, कहती हुई वह भूमि पर गिर पड़ती है और अपने शरीर को धुनती हुई रुदन करती है। मूर्च्छित होने पर जल-सिंचन तथा चमर-वायु के उपचार द्वारा उसकी चेतना लौटती है और वह प्रिय-वियोग में दीर्घ-श्वास लेकर उठती है। इस समय उसके अंग विरहाग्नि से तप्त हैं, इसी कारण उस पर छिड़का हुआ जल जलता सा प्रतीत होता है।

उसे मलयानिल प्रलयाग्नि के समान लगती है, आभूषण तन-बंधन प्रतीत होते हैं, तथा स्नान वस्त्र, भोजन, पुष्प, ताम्बूल आदि कुछ भी रुचिकर नहीं लगते।

इस प्रकार इस प्रसंग में स्मृति, अभिलाषा, चिंता, मोह आदि वियोग-दशाओं का सुन्दर चित्रण किया गया है—

हा ललियंग देव पभणंती, पडिय स महियलि तणु विहुणंती ।
मुच्छिय सिंचिय सलिलणिवाएं, आसासिय चलचामरवाएं ।
उट्ठिय णीससंति अइरीणी, दइयवियोगवेयविहाणी ।
वम्मह अट्ठ वियंगइं तावइ, चित्त जलइ जलइ जणियावइं ।
मलयाणिलु पलयाणलु भावइ, भूसणु गणु करि वहइ णावइ ।
जहिं संजायउ चित्तु जि सयदलु, तहिं कि किज्जइ सीयलु सयदलु ।
ण्हाणु सोयण्हाणु व णउ रुच्चइ, वसणु वसणसणिहु सा मुच्चइ ।
असुहारु व आहारु ण गेण्हइ, णंदणवणु पिउवणसमु मण्णइ ।
फुल्लु णयणफुल्लु व असुहावउ, तंबोलु वि बोलु व कयतावउ ।
पुरु जमपुरु व घरु वि अरइयरउ, परहुयविउ महुरु णं महुरउ ।
गेयसरु वि णं रिउमुक्कउ सरु, मवलहणउं नवलहणु व दिहिहरु ।

(महु० २२।१।१-११)

औत्सुक्य के साथ स्मृति संचारी का मार्मिक वर्णन वज्रजंघ (पूर्व भव में ललितांग देव) के विरह में प्राप्त होता है। वह अपने तथा श्रीमती (पूर्व भव में स्वयंप्रभा) के पूर्व जन्म की कुछ घटनाओं को एक चित्र में देख कर, उनका स्मरण करता हुआ कहता है कि यह ईशान कल्प है, यह वही नन्दन वन है, यह मैं ललितांग देव हूँ, इस स्थान पर मैं रहता था, यहाँ रमण करता था और यह मेरी मनोहर स्वयंप्रभा है—

एहु ईसाणकप्पु विविहामरु, लिहियउ एहु सिरिमहु सुन्दरु ।
एहु दिव्वतरुवरु णंदणवणु, पवणमाण [illegible] ।
एहु ललियंगु देउ हउं होंतउ, एत्थु वसंतउ एत्थु रमंतउ ।
थणयलहुल्लियहार मणहारी, एह सयंपह देवि महारी ।

(महु० २४।४।१-४)

परन्तु उसकी आकुलता और बढ़ जाती है जब उसे अपने पूर्व प्रणय-व्यापार की अन्य घटनाएं स्मरण हो आती हैं और वह उन्हें चित्र में नहीं देखता। वह कहता है कि इसमें उस समय का दृश्य नहीं है, जब मैंने रति-कुसुम-[illegible] के रोमांचित होकर क्रीड़ा की थी। यहाँ वह नृत्य करता मयूर भी नहीं है। फिर हमारे शरीरों के परिमल पर गुंजार करते हुए भ्रमर भी इसमें नहीं हैं। [illegible] के आगमन पर हम जिस प्रकार [illegible] हुए थे, वह दृश्य भी यहाँ नहीं है। प्रति-पक्षियों का विलास तथा प्रणय के रोष का अंकन भी इसमें नहीं है। कपोल-पत्रावली का [illegible] तथा नितम्ब-ताड़न के चिह्न भी यहाँ नहीं दिखाई

देते । इसमें प्रिय का विरहातुर मुख एवं उसका विपरीत हो कर बैठना भी अंकित नहीं है :—

> अण्णेत्तहि वि एत्थु णो लिहियउ, जो मइं कीलारंभु पविहियउ ।
> रइणेउरसद्दें रोमंचिउ, एत्थु ण लिहियउ मोरु पणच्चिउ ।
> अम्हहं तणुपरिमलपरिभमियउं, एत्थु ण लिहियउं अलिगुमुगुमियउं ।
> एत्थु ण लिहियउ लज्जादेसिरु, मुय गुरुयणआगमणुब्भासिरु ।
> ....
> एत्थु ण लिहियउ पडिवहुविलसिउ, एत्थु ण लिहियउ पणयारोसिउ ।
> इह कवोलपत्तावलिमोडणु, एत्थु ण लिहियउ किसलए ताडणु ।
> एत्थु ण लिहियउ विरहाउरु मुहुं, एत्थु ण लिहियउ पिउ विवरंमुहु ।
>
> (मपु० २४।५।१-८)

इसी प्रसंग में ललितांग की विरहावस्था के अन्तर्गत उन्माद, विषाद तथा जड़ता का विशद चित्रण प्राप्त होता है । वह कभी चिल्लाता है, कभी हंसता है, कभी दीर्घ निःश्वास लेता है, कभी उठता है, कभी बैठता है और कभी मोह से मूर्च्छित होता है । कभी हाथों को दबाता है, कभी केश नोचता है, कभी अधरों को डसता है तथा कभी अनिबद्ध वचन बोलता है ।

वह न स्नान करता है, न धोता है, न जिन-पूजन करता है और न अलंकार ही धारण करता है । न भोजन करता है, न कंदुक क्रीड़ा करता है और न अश्वारोहण करता है । गज, रथादि तो उसके नेत्रों को ही नहीं सुहाते । वह न गान सुनता है और न वाद्य बजाता है । बस, प्रतिक्षण अपनी प्रियतमा का ही ध्यान करता है—

> रसइ हसइ णीससइ विरज्झइ, उट्ठउ वइसइ मोहें मुज्झइ ।
> कर मोडइ धम्मेल्लय मेल्लइ, अहरु डसइ अणिबद्धु पवोल्लइ ।
> ....
> ण्हाइ ण धुवइ ण जिणवरु पुज्जइ, भूसणु लेइ ण भोयणु भुंजइ ।
> रमइ ण कंदुउ तुरउ ण वाहइ, करि वि रहु वि णयणेहिं ण चाहइ ।
> गेउ ण सुणइ ण वज्जउ वायइ, पर णिम्मीलियच्छु पिय झायइ ।
>
> (मपु० २४।७।१-३, ६-८)

विरह-जनित उन्माद का एक अन्य चित्र हमें राम के विरह में प्राप्त होता है । सीता के हरण के पश्चात् वे वन में उन्हें खोजते हुए कभी हंस से, कभी कुंजर से, कभी भ्रमर से, कभी मयूर से और कभी कीर से सीता का पता पूछते फिरते हैं—

> सइं काणणि रहुवइ हिंडमाणु, पुच्छइ वणि भिगइं अयाणमाणु ।
> रे हंस हंस सा हंसगमण, पइं दिट्ठी कत्थइ विउलरमण ।

चंगउं चिम्मवकहुं सिक्खिओ सि, महुं अक्कहुं जि रसल कि गओ सि ।
रे कुंजर तुह कुंभत्थलाइं, णं मह महिलाइ थणत्थलाइं ।
सारिक्खउं लइयउं एउ काइं, भणु कंतइ कहिं दिण्णइं पयाइं ।
सारंग कहहि महु जणयधीय, णयणहिं उवजीविय पइं मि मीय ।
अलि घरिणिकेसणिद्धत्तचोर, णिलि सररुहदलदलयबंधणार ।
ण वियाणहि कंतहि तणिय वत्त, रे पोमिणीय पुणरागवत्त ।
णच्चंत दिट्ठ भणु कहिं मि देवि, ध्यरहु कहि पच्चहिं भाउ लेवि ।
रे कीर ण लज्जहि जंपमाणु, जइ दिट्ठउं पइं मुद्धहि पमाणु ।

(महु० ७३।४।४-१३)

सीता के वियोग का वर्णन करता हुआ कवि उनके अश्रुपात तथा विरहाग्नि के अतीव ताप में जलने का उल्लेख करता है—

चिरें गउलंतें मउलियउं, लोयणजुयलंमउ पयलियउं ।
आपंडुरत्तु गंडत्थलउ, विलसिउ विलसिउ विरहाणलउ ।
कढवढकढंति ससहरपहइं, अंगइं लायण्णवाणियहइं ।

(महु० ७२।७।१-३)

वे एक साथ अनेक प्रश्न करती हैं—यह कौन सी दिशा है, मैं कहाँ हूँ, यहाँ मुझे कौन लाया, कैसे लाई गई, अब राम के पास किस प्रकार पहुँचूं आदि। इस प्रकार चिंता करते हुए वे मोह से हत होती हैं और अन्त में रावण को उसके वास्तविक रूप में देख कर अपने सतीत्व-भंग होने की आशंका से वे मल्लिलता की भांति भूमि पर गिर कर मूर्च्छित हो जाती हैं—

का दिसि केणाणिय कोंव कहि, को पावइ एवहिं रामु महि ।
इय चिंतवंति मोहेण हय, पच्चुरिम्नु [illegible] मुच्छ गय ।
पइवय परपुरिसवयभंग भय, णं पवणें पाडिय मल्लिय लय ।

(महु० ७२।७।४-६)

चेतना आने पर वे पुनः वेदना से व्यथित होती हैं और [illegible] के कारण निःचेतन सी प्रतीत होती हैं—

सुहिसंचरण पसरियवेयणिय, सा [illegible] वि [illegible] णिच्चेयणिय ।

(महु० ७२।७।८)

इसके अनन्तर उनमें [illegible] का आगमन होता है। कहीं जार (पर पुरुष) की दृष्टि अंगों पर न पड़ जाय, इस चेष्टा में वे अपने परिधान [illegible] रखती हैं—

परिहाणु ण सो वि [illegible] [illegible], [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ।

(महु० ७२।११।१०)

राम के औत्सुक्य की सुन्दर व्यंजना उस स्थल पर हुई है जब लंका से लौट कर आये हनुमान से वे बिना उत्तर की प्रतीक्षा किये जानकी के सम्बन्ध में प्रश्न पर प्रश्न करते चले जाते हैं—

बोल्लाविउ मारुइ तें कयत्थु, मउडग्गचडावियउहयहत्थु ।
भणु किं दिट्ठउं सिसुहरिणणेत्तु, किं णउ कुमार मरउं कलत्तु ।
किं मुच्छिय णिवडइ जीवचत्त, किं महु विरहें पंचत्तु पत्तु ।

(मपु० ७३।३०।५-७)

कवि के काव्य में अनेक स्थल ऐसे भी हैं जहाँ किसी पुरुष के अनुपम रूप को देख कर नारियों में उद्दाम काम-वासना स्फुरित हो जाती हैं और वे वाणी तथा विभिन्न शारीरिक चेष्टाओं द्वारा अपने हार्दिक भाव प्रकट करती हैं। ऐसा ही एक प्रसंग लंका में हनुमान के विभीषण के यहाँ जाने के समय का है। पुर-नारियाँ हनुमान को देखते ही व्याकुल हो जाती हैं। कोई तरुणी उन्हें अपने कङ्कण, हार आदि आभूषण देती हैं, कोई मुकुलित दृष्टि से देखती है, कोई कटाक्ष करती है, कोई विकसित होती है तथा कोई विलुलित होती है। किसी स्त्री की कटि-मेखला टूट जाती है और कोई मूर्च्छित हो कर धरती पर गिर पड़ती है। किसी के शरीर से रति-जल-धारा सी प्रवाहित जान पड़ती है। कोई काम-विह्वला अपने उर-स्थल को ही पीटती है। कोई अपने उरोज प्रकटित करती है। किसी का परिधान शीघ्र गिर जाता है।

कोई कहती है कि हे सखी, जहाँ दूत इतना रूपवान है वहाँ उसके स्वामी राम कैसे होंगे? इसी कारण सीता अपने सतीत्व की रक्षा करने में वज्रवत् हैं। कवि के शब्दों में देखिए--

हेला—कंदप्पं सुरूविणं णिएवि चित्तचोरं।
का वि देइ सकंकणं चारुहारदोरं ॥
क वि जोयइ दिट्ठिइ मउलियइ, गुरुयणि सलज्जदरमउलियइ ।
क वि चलियकडक्खहिं विवलियइ, क वि वियसियाइ क वि विलुलियइ ।
काहि वि गय तुट्टिवि मेहलिय, क वि मुच्छिय धरणीयलि घुलिय ।
काहि वि रइजलझलक्क झलिय, क वि उरयलु पहणइ भिंदुलिय ।
काइ वि थणजुयलउं पायडिउं, काहि वि परिहाणु झत्ति पडिउं ।
का वि भणइ एहु हलि दूउ जहिं, केहउ सो होही रामु तहिं ।
सइ सीय भडारी वज्जमिय, ण सइत्तणवित्ति अइक्कमिय ।

(मपु० ७४।८।१-९)

णायकुमार चरिउ में कवि ने मथुरा की वेश्याओं को नागकुमार के लिये व्याकुल होते हुए चित्रित किया है। कोई वेश्या अपना उरस्थल नागकुमार के नखों द्वारा

भग्न न हुआ देख चिंतित होती है। कोई अपनी लम्बी श्याम अलकों के उसके द्वारा न खींची जाने पर चिंता करती है। कोई सोचती है कि उसके कंठ का हार कुमार द्वारा क्यों न छिन्न-भिन्न हुआ ? कोई अधराग्र समर्पित करती है, सीजती है, विरह से तप्त होती है तथा कम्पित होती है। कोई रति-सलिल में भीग कर रोमांचित होती हुई थरथराती है—

का वि वेस चिंतइ गयतुण्णा, ए थण एयहो णहहिं ण भिण्णा।
का वि वेस चिंतइ किं चड्ढिय, णीलालय ए एण ण कड्ढिय।
का वि वेस चिंतइ किं हारें, कंठु ण छिण्णउ एण कुमारें।
का वि वेस अहरग्गु समप्पइ, भिज्जइ खिज्जइ तप्पइ कंपइ।
का वि वेस रइसलिलें सिंचिय, वेवइ थरइ पुलइ रोमंचिय।
(णाय० ५।६।८-१२)

इसी प्रकार सुलोचना के स्वयंवर में आये हुए अनेक राजकुमार उसे देख कर काम-पीड़ित होते हैं। जहाँ-जहाँ सुन्दरी सुलोचना अपना दर्शन देती है, वहाँ-वहाँ बैठे राजकुमार कामाग्नि से दग्ध होते हैं। कोई दीर्घ निःश्वास लेता है, कोई बार-बार स्वयं को सज्जित करता है, कोई कण्ठाभरण ठीक करता है, कोई दर्पण में अपनी छवि देखता है। कोई अपने वृद्धिगत नखों को देख कर सोचता है कि कहीं सहवास के समय ये उसके उरोजों में न लग जायें। किसी को विरह-महाज्वर आ गया है। किसी का उर काम के बाण से बिंध गया है। कोई विह्वलांग होकर मूर्च्छित हो जाता है और कोई लज्जित हो कर उसे जल दे देता है—

जिह जिह सुन्दरि अप्पउ दावइ, तिह तिह णिवतणयहँ तणु तावइ।
को णीससइ ससइ दिहि छंडइ, अप्पउ पुणु वि पुणु वि सु वि मंडइ।
कण्ठाहरणु को वि संजोयइ, अप्पउ दप्पणि को वि पलोयइ।
को वि णियइ णियणहइँ अभग्गइँ, एयइँ एयहि थणहि ण लग्गइँ।

....
कासु वि आयउ विरहमहाजरु, कासु वि उरि खुत्तउ कुसुमसरु।
मुच्छिउ पडिउ को वि विहलंघलु, केण वि णिवलज्जहिं दिण्णउँ जलु।
(सु० ८।११।१-८)

रति के संयोग-पक्ष के कुछ चित्र नायकों की जल तथा उपवन क्रीडाओं में प्राप्त होते हैं। वस्तु-वर्णन के अंतर्गत उनका उल्लेख किया जा चुका है, अतः यहाँ उनका विवेचन अनावश्यक होगा।[1]

(१) देखिए ऊपर पृ० १७३-१७६

वात्सल्य रस

वात्सल्य भाव का अंकन ऋषभ की शैशवावस्था के वर्णन में किया गया है। कवि कहता है कि उनका शरीर तरणि-बिम्ब को लज्जित करता है। नितम्ब क्षुद्र घंटिकाओं से अलंकृत हैं। शरीर धूलि-धूसरित है। पहना हुआ वस्त्र सरक गया है। जन्म के समय के सुनहरे केश शोभित हैं—

तणुतेओहामियतरणिबिंबु, घग्घरमालालंकियणियंबु।
धूलीधूसरु ववगयकडिल्लु, सहजायकविलकोंतलजडिल्लु.

(मपु० ४।४।४-५)

अनेक स्त्रियाँ उनके साथ क्रीड़ा करती है। कोई उन्हें हंसाती है। कोई बुलाती है। कोई उन्हें खेलने के लिये, कपि, कीर, मोर आदि के खिलौने देती है। वे नारियाँ मुर्गा, घोड़ा, हाथी, मेष, महिष आदि के रूप में शिशु का मनोरंजन करती हैं। कोई नारी अपनी भुजाओं को ठोकती हुई मल्ल बन जाती है। पुनः कोई सोते हुए शिशु को मीठी-मीठी लोरियां गा कर सुनाती है—

केण वि पहसाविउ हंसगामि, केण वि बोल्लाविउ भव्वसामि।
केण वि काइँ वि खेलणउं दिण्णु, कइ कीरु मोरु अवरु वि रवण्णु।
गिव्वाणु को वि हुउ तंबचूलु, कु वि वरतुरंगु कु वि दिव्वु पीलु।
कु वि मेनु महिसु भुयवलमहल्लु कु वि अप्फोडइ होएवि मल्लु।
सोवंतउ कु वि सुइहारएण, परियंदइ अम्माहीरएण।

(मपु० ४।४।९-१३)

मातृ-हृदय के स्नेह की मार्मिक व्यंजना रामायण के उस प्रसंग में हुई है, जहाँ मंदोदरी को ज्ञात होता है कि सीता उसकी पुत्री है और स्वयं उसका पिता रावण ही उस पर आसक्त है। वात्सल्य-जनित विषाद तथा ग्लानि के मिश्रित भाव मंदोदरी के हृदय में उत्पन्न होते हैं

वह दुसह दुःख के कारण मूर्च्छित हो जाती है—

दुवई—जणणसुयाहिलासणियवइखयचिंतामउलियच्छिया।
मेइणियलि दड त्ति णिवडिय मंदोयरि दुस्सहदुक्खमुच्छिया॥

(मपु० ७३।२३।१-२)

शीतलोपचार के पश्चात् जब उसे चेतना आती है, तो वह पूछती है कि अपने ही उदर से उत्पन्न संतान के प्रति कौन सी माता अवत्सल हो सकती है। वह अश्रु-धारा बहाती हुई मधुर शब्दों में कहती है, हा सीते, तू मेरी संतान है। हा, दुष्ट विधाता ने मुझे यह किस जन्म के दुष्कर्म का फल दिया है। तुझ पर तेरा ही पिता आसक्त है। हा देव, तूने मुझे कितने दुःख में डाल दिया—

कह कह व देवि सज्जीव जाय, मणु कासु अवच्छल होइ माय।
मुहकुहरहु वियलिय महुर वाय, हा सीय पुत्ति तुहुँ महुँ जि जाय।

हा विलसिउं किं विहिणा खलेण, वोलीणु जम्मु दुक्कियफलेण।
तुज्झुप्परि रत्तउ तायचित्तु, हा दइवें विहुरंतरि णिहित्तु ।
(मपु० ७३।२३।५-८)

पुनः सीता को विषादमना तथा विधवा की भाँति स्थित देखकर मंदोदरी का मातृप्रेम अपनी चरम सीमा को पहुँच गया और उसके स्तनों से दुग्ध की धारा निकल कर सीता के ऊपर पड़ने लगी—

पेच्छिवि सोयाइ सदुक्ख रुण्ण, मंदोयरियणणीसरिउ थण्ण।
घत्ता—आसण्णइ थिइ विहवत्तणइ एंतउं सीयइ जोइउं ।
थण मेल्लिवि रामणगेहिणिहि हारु व खीरु पधाइउं ॥
(मपु० ७३।२३।१०-१२)

पुत्र-प्रेम की अत्यन्त उत्कृष्ट व्यंजना कृष्ण के कालीदह में प्रवेश करते समय नंद तथा यशोदा के विरहोद्गारों में हुई है। णायकुमार चरिउ में भी नाग कुमार के कूप में गिर जाने पर उसकी माता के शोक में वात्सल्य का विशद चित्रण है। इसका परीक्षण ऊपर करुण रस के अंतर्गत किया जा चुका है।[1]

इसके अतिरिक्त कवि के काव्य में भ्रातृ-प्रेम के भी कुछ भव्य उदाहरण प्राप्त होते हैं। लक्ष्मण के लिए राम का तथा रावण के लिये विभीषण के करुण विलाप इस कोटि में रखे जा सकते हैं। कृष्ण के लिये बलराम का शोक भी इस प्रसंग में उल्लेखनीय है। इन सब प्रसंगों के संबंध में हम पूर्व ही विचार कर चुके है, अतः यहाँ उन पर पुनर्विचार आवश्यक नहीं है।[2]

कवि के रस संबंधी इस समस्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि की रचनाएं मानव समुदाय के भावों एवं मनोवेगों के भव्य चित्रों से पूर्ण हैं। यही कारण है कि समग्र अपभ्रंश साहित्य में कवि का नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है।

---

(१) देखिए ऊपर—पृ० २१४-२१६
(२) देखिए ऊपर—पृ० २१३ तथा २१५

अध्याय

९

कवि का कला-पक्ष

किसी कवि का भाव-पक्ष यदि उसके काव्य का आत्मा है तो कला-पक्ष उसका शरीर है। शरीर ही आत्मा का आधार होता है। इसी प्रकार काव्य का कला-पक्ष, जिसका प्रधान अंग भाषा है, कवि के मनोभावों तथा कल्पनाओं को साकार करके आस्वाद्य बनाता है।

कला-पक्ष के अंतर्गत वाणी का समस्त चातुर्य निहित है। दूसरे शब्दों में काव्य के अलंकार, लोकोक्तियां-मुहावरे, प्रबंध-सौष्ठव, उक्ति-वैचित्र्य, छंद आदि कला-पक्ष के उपकरण कहे जा सकते हैं।

इस अध्याय में हम कवि की रचनाओं के कला-पक्ष के इन्हीं उपकरणों का अध्ययन करते हुए देखेंगे कि इस क्षेत्र में कवि को कहां तक सफलता प्राप्त हुई है।

अलंकार-विधान—

काव्य के रसों तथा भावों के उत्कर्ष की वृद्धि करने में अलंकारों का महत्व प्राचीन काल से ही माना जाता रहा है। कवि-गण कहीं किसी भाव अथवा दृश्य का सादृश्य दिखलाने के लिये, कहीं किसी गुण को संवेदनीय बनाने के लिये, कहीं संभावनाएं प्रदर्शित करने के लिये और कहीं केवल चमत्कार की सृष्टि करने एवं अपने पाण्डित्य का परिचय देने के लिये अलंकारों का प्रयोग करते हैं।

कवि ने अपनी अभिव्यक्ति को सबल तथा सुन्दर बनाने के उद्देश्य से अलंकारों के प्रयोग में विशेष रुचि दिखलाई है। वह अलंकार को सुकवि के काव्य का आवश्यक अंग मानता है तथा निरलंकार काव्य को कुकवि की कथा कहता है।[1] एक अन्य स्थल पर उसका कथन है कि वर-कविजनों का काव्य-विवेक अलंकारों की कान्ति से युक्त होता है।[2]

---

(१) सालंकारउ...... कव्वु व सुकइहि केरउ। मपु० १४।६।११-१२
निरलंकार कुकइकह जेही। णाय० ३।११।१२

(२) सालंकारु कंतिइ सहिउ कव्वविवेउ णाइ वरकइयणि। मपु० ६८।५।१३

कवि की अप्रस्तुत-योजना में परंपरागत एवं कवि-प्रसिद्ध उपमानों का आधिक्य अवश्य है, परन्तु उसमें सामान्य जीवन से ग्रहण किये गये उपमानों को भी स्थान दिया गया है। कहीं-कहीं विराट कल्पनाएँ भी प्राप्त होती हैं। ये कल्पनाएँ वस्तु-वर्णन (रूप, गुण-स्वभाव आदि), कार्य-व्यापार, घटना तथा भाव-चित्रण के प्रसंगों में विशेष रूप से प्रयुक्त हुई हैं। अतः सुविधा की दृष्टि से हम उन्हें इन्हीं शीर्षकों के अंतर्गत रखकर, कवि की कल्पना-शक्ति पर विचार करेंगे।

प्रस्तुत विवेचन का उद्देश्य विभिन्न अलंकारों के उदाहरण एकत्र करना नहीं है, वरन् देखना यह है कि कवि की कल्पनाएँ अलंकारों के रूप में किस प्रकार प्रकट हुई हैं।

वस्तु-वर्णन—

(अ) रूप—कवि अपने आराध्य तीर्थंकरों की अलौकिक शोभा का वर्णन करने में विशेष रुचि दिखलाता है। ऋषभ के जीव के माता मरुदेवी के उदर में आने के प्रसंग में कवि उसकी उपमा शरद्-मेघ के मध्य में महादीप्यमान चन्द्र तथा कमलिनी के पत्र में जल-बिंदु से देता है—

सरयब्भमज्झम्मि रुइरु दइंदु व्व, सयवत्तिणीपत्तए तोयबिंदुव्व।

(मपु० ३।७।१०)

उपमाओं के अंतर्गत एक नवीन कल्पना कवि वहाँ करता है जहाँ वह बाहुबलि के शरीर की कान्ति को अपक्व वंश के समान बतलाता है—

सिसु अविपिक्कवंसपुच्छायउ, बालउ बाहुबलि वि तहि जायउ।

(मपु० ५।१४।७)

इसी प्रसंग में बाहुबलि के वक्षःस्थल की प्रविपुलता के लिए पुर-कपाट तथा उनके नील केशों के लिए हाथी के गले में पड़ी हुई शृंखला जैसी सामान्य जीवन से ली गई उपमाएँ प्राप्त होती हैं। इनका उल्लेख हम अन्यत्र कर चुके हैं।[1]

जिन-दर्शन-हेतु जाती हुई कुंकुम-पिण्ड लिये किसी नारी के प्रति एक सुन्दर उपमा देता हुआ कवि कहता है कि वह पूर्व दिशा में उदित होते हुए शिशु मार्तण्ड के समान है—

सोहइ अवर वि कुंकुमपिंडें, पुव्वदिसा इव सिसुमत्तंडें।

(मपु० ६।२०।४)

उपमा द्वारा एक अन्य स्थल पर कवि जननी की दुग्ध-धार से सिक्त कृष्ण को चन्द्र-किरणों में विलिप्त नव मेघ के समान अंकित करता है—

---

१. देखिए पृ० १८६।

दीसइ णंदणंदु णारायणु जणणीछुद्धसित्तओ ।
णाइं तमालणीलु णवजलहरु ससहरकर विलित्तओ ॥
(मपु० ८५।१५।१-२)

कवि ने अपने कल्पना-चित्रों के सृजन में सबसे अधिक सहायता उत्प्रेक्षा से ली है। उसकी इस प्रवृत्ति का परिचय हमें उसकी सभी रचनाओं से प्राप्त होता है। इस संबंध में यहाँ कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं।

वस्तूत्प्रेक्षा के रूप में कवि कल्पना करता है कि चेलना देवी से मंडित राजा श्रेणिक ऐसे शोभित होते हैं मानों वल्लरी सुरतरु का आलिंगन कर रही हो—

णवरेक्कहिं दिणि राणउ सो आसीणउ सिंहासणि दीहरकरु।
चेल्लिणिदेविइ मंडिउ णं अवरुंडिउ वल्लरीइ सुरतरुवरु ॥
(मपु० ११७।१२-१३)

अन्य वस्तूत्प्रेक्षा में वह कहता है कि मद-पान के इच्छुक भ्रमरों से घिरे हुए मत्त हाथी पर बैठे श्रेणिकराज ऐसे प्रतीत होते हैं मानों पवन द्वारा आन्दोलित पर्वतीय तमाल-वन में केशरी हो—

आरुढउ महिवइ मत्तगइ मयजलघुलियचलालिगणे ।
णं महिहरि केसरि खरणहरु पवणुल्ललियतमालवणे ॥
(मपु०२।१।१८-१९)

वस्तूत्प्रेक्षा के एक अन्य प्रयोग में वर्धमान की लंबी जटाओं के लिये चंदन के वृक्ष में लिपटे हुए सर्पों की संभावना की गई है—

वड्ढंतकेसजडमालियउ, णं चंदणु फणिउलमालियउ ।
(मपु० ९७।२।२)

ऐसा ही एक स्थल वहाँ है जहाँ मनुष्यों से घिरे तथा रथारूढ़ चक्रवर्ती भरत ऐसे प्रतीत होते हैं मानों मानसरोवर के पंक में राजहंस हो—

कइवयणरेहिं सह सूरसंसु, णं माणसपंकइ रायहंसु ।
(मपु० १२।१३।४)

वस्तूत्प्रेक्षा के रूप में एक और भी सुन्दर कल्पना वहाँ है जहाँ कवि स्वर्ग के देवी तथा देवता के विषय में कहता है कि वे ऐसे शोभित होते हैं मानों मेघ, में सौदामिनी हो—

सुरु मणिमालि देवि चूडामणि, णं मेहहु सोहइ सोदामिणि ।
(मपु० ३०।२०।६)

अथवा जब वह एक यक्षिणी का सौंदर्य वर्णन करते हुए विभ्रम-विलासवती सुरसरि की कल्पना करता है—

हूई काणणि जक्खसुरेसरि, बहुविब्भमविलास णं सुरसरि ।
(मपु० ३५।१६।४)

सांग रूपक के द्वारा कवि ने जिन को कल्पवृक्ष के रूप में अंकित किया है। यहाँ शम- दम उसके मूल हैं, समस्त जीव-निकाय उसकी शाखाएँ हैं, सुकृत फल-पुष्प हैं, देवतादि माली उसका सिंचन करते हैं और पुण्यरूपी जल के द्वारा वह वृद्धिगत होता है—

समदममूलउ जमसाहालउ
सुकयहलुग्गमो जिणकप्पद्दुमो ।
अमरामएहिं सिंचिज्जमाणु, सोहइ पुण्णेण पवड्ढमाणु ।
(मपु० ४।२।१-३)

व्यतिरेक का प्रयोग करते हुए कवि कहता है कि ऋषभ की कन्या सुन्दरी के चढ़ते हुए यौवन को देख कर चन्द्रमा अपने कलंक के कारण लज्जित हो जाता है—

णवजोव्वणि चडंति सा छज्जइ, चंदु कलंकें वयणहु लज्जइ ।
(मपु० ५।१७।५)

अपनी कल्पना की उड़ान में कवि कभी-कभी ऐसे उपमान रख देता है जो परिमाण अधिकता के कारण अनुचितार्थ दोष के अन्तर्गत आ जाते हैं। व्यतिरेक के रूप में ऐसा ही एक स्थल वहाँ है जहाँ वह श्रीमती के नितम्बों की गुरुता के सम्मुख त्रिभुवन को भी लघु देखता है—

वण्णमि काइं णियंबगुरुत्तणु, जहिं पत्तउ तिहुयणु जि लहुत्तणु ।
(मपु० २८।१३।१)

प्रतीप के रूप में कल्पना करता हुआ कवि श्रीमती की नाभि की समता में सलिलावर्त्त (जल की भंवर) को अयोग्य कहता है—

भमउ भमउ सो भूएं भुत्तउ, णाहिहि सरिसु ण सलिलावत्तउ ।
(मपु० २८।१३।२)

संदेह अलंकार के दर्शन वहाँ होते हैं जहाँ विवाहोपरान्त महाराज यशोधर तथा चन्द्रमती को देखकर पुर-नारियाँ उन्हें कामदेव तथा रति होने का अनुमान करती हैं—

णयरीतवंगि थिउ हरिसजुत्तु, णारीयणु पेक्खइ एयचित्तु ।
सलहइ किं रइ किं मयणु एहु, जसहरु संपत्तउ मायगेहु ।
(जस० १।२७।१७-१८)

(आ) गुण-स्वभाव चित्रण

इस ओर सर्वप्रथम हमारी दृष्टि जिन-स्तवन के अन्तर्गत अभंग श्लेष की ओर जाती है। निम्नलिखित उदाहरण में श्लेष द्वारा जिन तथा शिव दोनों की स्तुति का अर्थ निकलता है—

जय भूयणाह विरइयविवाह ।
जय गोरिरमण जय सुविरगमण ।
जय तिउरडहण जय मयणमहण ।

(मपु० ३८।२२।४-६)

(भूयणाह : जिन-पक्ष में सकल प्राणियों के स्वामी तथा शिव-पक्ष में पिशाच नाथ। विरइयविवाह : जिन-पक्ष में बाधा-विनाशक तथा शिव-पक्ष में विवाहित। गोरिरमण : जिन-पक्ष में सरस्वती-प्रिय, शिव-पक्ष में गौरी-रमण। तिउरडहण : जिन-पक्ष में जाति, जरा एवं मरण के विध्वंसक, शिव-पक्ष में त्रिपुर दानव विनाशक।)

व्यतिरेक के आश्रय से कवि चन्द्र, सूर्य तथा मेरु की अपेक्षा जिन को श्रेष्ठ सिद्ध करता है—

जो ससहरु सो तह कंतिविट्ठु, चिंतंतु व हुउ सकलंकु खंटु ।
दिणयरु तहु तेएं जित्तु णाइं, णहयलि भमेवि अत्थवणु जाइ ।
जो सुरगिरि सो तहु ण्हवणवोढु, जं महिमंडलु तं तेण गीढु ।

(मपु० ४।३।३-५)

द्वितीय तुल्योगिता के रूप में हित-अनहित दोनों में जिन की सम भावना का उल्लेख किया गया है—

जो पइं सेवइ तहु होइ सोक्खु, तुह पडिकूलहु संभवइ दुक्खु ।
तुहुं पुणु दोहिं मि मज्झत्थभाउ, इह एहउ फुडु वत्थुहि सहाउ ।
णिदिज्जइ रवि पित्ताहिएहिं, चंदु वि वाएण णिवाइएहिं ।
ते दोण्णि वि एयहं किं करंति, ससहावें णहयलि संचरंति ।

(मपु० १०।१।६-९)

रूपक के द्वारा श्रेणिक राज के पराक्रम का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि वे कृपाण रूपी जल से शत्रुओं की प्रताप रूपी अग्नि को शान्त करते हैं—

असिवरजलेण पसरंतु दमिउ, णियरिउपयावसिहि जेण समिउ ।

(णाय० १।८।१)

अनन्वय के रूप में एक कल्पना करता हुआ कवि भरत चक्रवर्ती को बल, विक्रम आदि में उन्हीं के समान चित्रित करता है—

घत्ता— रूवें विक्कमेण गोत्तें वलेण णयजुयत्तें ।
तुज्झु समाणु तुहुं किं अण्णें माणुसमेत्तें ॥

(मपु० १५।७।१७-१८)

इसी प्रकार एक अन्य कल्पना-चित्र में कवि भरत की अनन्यता का वर्णन असम अलंकार के द्वारा करता है—

भणु जलणहु उप्परि को जलइ, भणु पवणहु उप्परि को चलइ।
भणु मोक्खहु उप्परि कवण गइ, भणु भरहहु उप्परि को नृवइ।

(मपु० १५।१६।५-६)

अतिशयोक्ति के रूप में कुछ अद्भुत कल्पनाएं हमें वहाँ प्राप्त होती हैं जहाँ कवि वलराम के मुख से नेमि की शक्ति का वर्णन कराता है—

जसु तेएं कंपइ रविमंडलु, पायहि जासु पडइ आहंडलु।
सगिरि ससायर महि उच्चल्लइ, जो सत्त वि सायर उत्थल्लइ।

(मपु० ८८ २१।११-१२)

विरोधाभास के रूप में एक सुन्दर कल्पना करता हुआ कवि कहता है कि महाराज दशरथ कुवलय-वन्धु होते हुए भी दोषाकर (चन्द्र) न थे अथवा वे भूमंडल के वन्धु होते हुए भी दोषों के आकर न थे—

कुवलयवंधु वि णाहु णउ दोसायरु जायउ।

(मपु० ६९।११।११)

एक स्थल पर राजा की प्रजा-वत्सलता के गुण का परिचय देने में कवि उदाहरण तथा यमक का प्रयोग करता है—

जिह गोवउ पालइ गोमंडलु, तिह पालउ गोवइ गोमंडलु।

(मपु० २८।८।३)

(गोवउ : गोप। गोवइ : राजा। गोमंडलु : गो-समूह, भूमि)

इसी प्रसंग में अन्यत्र लाटानुप्रास की मनोहर छटा भी उपलब्ध होती है—

इय पंच पयारपयासियउ णिवचरित्तु जो पालइ।
कमलासण कमला कमलमुहि तहु मुहकमलु णिहालइ॥

(मपु० २८।८।१४-१५)

(इ) प्रकृति-चित्रण।

प्रकृति-चित्रण के क्षेत्र में कवि की उत्कृष्ट कल्पनाएं उत्प्रेक्षा द्वारा व्यक्त हुई हैं। अतः प्रथम हम उन्हीं के कुछ उदाहरण प्रस्तुत करेंगे।

सूर्योदय के वर्णन में अत्यन्त भव्य कल्पनाएं करता हुआ कवि कहता है कि अरुणाकर ऐसा शोभित है मानों अशोक-वृक्ष का नवीन पल्लव हो, मानों सिंदूर-पुंज हो, मानों नभ-श्री का अरुण छत्र हो मानों उदयगिरि का चूड़ारत्न हो—

इय महु चिंतंत हो अरुणयरु, णवपल्लव णं कंकेल्लितरु।
उग्गमिउ दुमणि जणु रंजियउ, सिंदूर-पुंजु णं पुंजियउ।
अरुणायवत्तु णं णहसिरिहि, णं चूडारयणु उदयगिरिहि।

(जस० २।१।३-५)

उत्प्रेक्षा के अन्तर्गत कुछ मनोरम कल्पनाएं चन्द्रोदय-वर्णन में प्राप्त होती हैं—चन्द्रमा मानों अंधकार को काटने वाला चक्र है, मानों ऐरावत का मण्डित मुख है, मानों स्वयं कीर्ति का दर्शित मुख ही है, मानों जन-सुखकारी अमृत-भवन है, मानों परमेश्वर जिन का यश-पुंज है, मानों इंद्र का पाण्डुर छत्र है, मानों रजनी-वधू के ललाट का तिलक है—

णं चक्कु तमोहविहंडणउ, णं सुरकरिसियमुहमंडणउ ।
णं कित्तिए दाविउ णिययमुहु, णं अमयभवणु जणदिण्णमुहु ।
णं जसु पुंजिउ परमेसरहो, णं पंडुर छत्तु सुरेसरहो ।
णं रयणी वहुहि णिलाडतिलउ। (जस० २।२।७-१०)

यहां मूर्त्त उपमेय के लिये अमूर्त्त उपमानों की योजना द्रष्टव्य है । इसी प्रकार वह चित्रकूट के नंदनवन को महि रूपी कामिनी का यौवन होने की सुन्दर कल्पना करता है—

जोयउ चित्तकूडु णंदणवणु, णं महिमहिलहि केरउ जोव्वणु ।
(मपु० ७१।११।१०)

भ्रान्तिमान के रूप में कुछ अत्यन्त सुन्दर कल्पनाएं प्रस्तुत करने का अवसर कवि को रात्रि-वर्णन में प्राप्त होता है । वहां छिद्रों से प्रवेश करती हुई ज्योत्स्ना द्वारा धवल हुए अंधकार को देख कर मार्जार (बिल्ली) को दुग्ध का भ्रम होता है । इसी प्रकार रति-श्रम से उत्पन्न स्वेद-बिंदुओं में भुजंग को मुक्ता का भ्रम होता है तथा किसी गृह में प्रवेश करती हुई चन्द्र-किरणों को श्वेत सर्प समझ कर मयूर बारम्बार पकड़ने की चेष्टा करता है—

रंधायारु थियउ अंधारइ, दुद्धसंक पयणइ मज्जारइ ।
रइ पासेयबिंदु तेणुज्जलु, दिट्ठु भुयंगहिं णं मुत्ताहलु ।
दिट्ठउ करथइ दीहायारउ घरि पइसंतउ किरणुक्केरउ ।
मोरें पंडुरु सप्पु वियप्पिवि, मुद्धें कह व ण गहिउ झडप्पिवि ।
(मपु० १६।२४।६-१२)

(ई) विविध वस्तु-वर्णन

वस्तु-वर्णन के क्षेत्र में कवि के अनेक सफल कल्पना-चित्र उत्प्रेक्षा के रूप में हमारे सम्मुख आते हैं ।

रूपक गर्भित उत्प्रेक्षा के रूप में कैलाश पर्वत के प्रति कल्पना करता हुआ कवि कहता है कि उत्तुंग पर्वत ऐसा प्रतीत होता है मानों स्वर्ग की ओर दर्शित महि रूपी कामिनी की भुजा हो—

घत्ता—सो महिहरपवरु दीसइ गयणंगणि लग्गउ ।
णं महिकामिणिहि भुयदंडु पदंसियसग्गउ ।। (मपु० १५।१६।६-१०)

अन्यत्र एक चारु कल्पना में वह कहता है कि रत्न-जटित राजप्रासाद ऐसा शोभित है मानों गगनच्युत देव-विमान हो—

जहिं राउलु रेहइ रयणजडिउ, णं अमरविमाणु णहाउ पडिउ ।
(मपु० ११।६।६)

एक अन्य वस्तूत्प्रेक्षा के रूप में विराट कल्पना करता हुआ कवि कहता है कि घन-मण्डित गिरि-मेखला ऐसी दिखाई देती है मानों धरिणी का एक स्तन हो—

दीसइ गिरिमेहलघुलियघणु, णं धरणिहि केरउ एक्कु थणु ।
(मपु० १५।५।४)

भ्रान्तिमान के रूप में एक सुन्दर कल्पना हमें वहाँ प्राप्त होती है जहाँ मणि-खचित भित्तियों में अपना ही प्रतिबिम्ब देखकर नारियों को सपत्नी का भ्रम होता है—

अवियाणियकरदप्पण विसेसि, माणिक्कखइयभित्ती पएसि ।
दीसइ सविंबु महुमत्तियाहिं, मण्णिवि सवत्ति हम्मइ तियाहिं ।
(मपु० ११।५।३-४)

इसी प्रकार एक अन्य कल्पना में राजगृह नगर के गृहों से उठने वाले धूम को जलधर समझ कर मयूर नृत्य करने लगते हैं ।

जहिं धूवधूमकयमणवियार, जलहरभंतिएं णच्चंति मोर । (मपु० ११।६।७)

उदाहरण अलंकार के रूप में व्यावहारिक जगत् से ग्रहण की गई एक कल्पना के दर्शन हमें वहाँ होते हैं जहाँ कवि कहता है कि भरत चक्रवर्ती का चक्र नगर में प्रवेश नहीं करता जैसे धूर्त्त मनुष्य के हृदय में वेश्या प्रवेश नहीं करती—

घत्ता—तं चक्कु ण णयरिहि पइसरइ वेसहि जणियवियारउ ।
हियउल्लउ कवडसयहं भरिउ णावइ धुत्तहं केरउ ॥
(मपु० १६।२।११-१२)

व्यतिरेक के आश्रय से कवि जन-संकुल वाणारसी (वाराणसी) के सम्मुख अलकापुरी की श्री को तुच्छ बतलाता है—

ओहामिय अलयाउरिसिरिहि, जणभरियहि वाणारसि पुरिहि ।
(मपु० ६६।११।६)

अपह्नुति के रूप में कुछ उत्कृष्ट कल्पनाएं करते हुए कवि ने गर्भवती देवकी के शरीर का वर्णन किया है—

किं गब्भभावि पंडुरिउं वयणु, णं णं जसेण धवलियउं भुवणु ।
किं एयउ सइतिवलिउ गयाउ, णं णं रिउजयलीहउ हयाउ ।
(मपु० ८५।१८।१-२)

अथवा जब वह द्यूतशाला की कौड़ियों तथा पासों का वर्णन करता है—

किं कडित्त, णं णं गयणंगणु, किं कित्तउ णं णं नयलंछणु ।
(णाय० ३।१२।५)

उन्मीलित के रूप में सुन्दर कल्पना करते हुए कवि, उज्जयिनी नगरी के किसी नीलम के गृह में श्यामा वधू को केवल हंसते हुए ही पहचाने जाने का वर्णन करता है—

जहिं इंदणीलघरि कसणकंति, वहु णज्जइ सियदंतहिं हसंति।

(जस० १।२२।३)

कार्य-व्यापार चित्रण

इस क्षेत्र में जब हम कवि की कल्पनाओं पर विचार करते हैं, तब हमारे सामने प्रधानतः उत्प्रेक्षा तथा उदाहरण अलंकार आते हैं। इनमें भी कवि को उत्प्रेक्षा अधिक प्रिय प्रतीत होती है।

वस्तूत्प्रेक्षा के रूप में एक अति भव्य कल्पना कवि उस समय करता है जब वह जल-युद्ध में भरत द्वारा बाहुबलि के ऊपर जल उछालने का दृश्य अंकित करता हुआ कहता है कि बाहुबलि के शरीर पर पड़ते हुए जल-बिन्दु ऐसे प्रतीत होते हैं मानों मरकत के पर्वत पर चन्द्रमा की कान्ति पड़ रही है, अथवा नीलम के पर्वत पर हंस-पंक्ति उड़ रही है—

णं मरगयमहिहरि चंदकंति, णं णीलमहीहरि हंस पंति।

(मपु० १७।१३।३)

अथवा जब वह सरोवर में क्रीड़ा करते हुए हाथी के विषय में कल्पना करते हुए कहता है कि वह हाथी ऐसा प्रतीत होता है जैसे क्षीर-समुद्र में मेरु गिर पड़ा हो हो—(उदाहरण)

करि सरवरि कोलंतु तेण णिहालिउ मत्तउ।
णावइ मेरुगिरिंदु खीरसमुद्दि णिहित्तउ॥

(मपु० ८३।१०।८-९)

उदाहरण के रूप में एक अन्य कल्पना में उसका कथन है कि समुद्र में उतराती हुई सेना ऐसी लगती है जैसे अरविंद के गर्भ में अलि-कुल रति कर रहा हो—

रयणायरे साहणं जाम संचरइ, अरविंदगब्भम्मि अलिउलु व रइ करइ।

(मपु० १४।११।६)

हेतूत्प्रेक्षा के रूप में एक सुन्दर कल्पना कवि वहाँ प्रस्तुत करता है जहाँ वह वायु द्वारा आंदोलित जल को सूर्य द्वारा शोषित किये जाने के भय से कंपित होने की संभावना करता है—

जहिं सलिलइं मारुयपेल्लियाइं, रविसोसभएण व हल्लियाइं।

(मपु० १।१२।५)

फलोत्प्रेक्षा के रूप में एक अन्य मनोरम कल्पना व्यक्त करते हुए कवि कहता है कि माता द्वारा पुत्र को आलिंगन करने में ऐसे स्नेह का प्रकाशन हुआ मानों भूमि पर पावस छा गया हो—

दिट्ठु पुत्तु आलिंगिउ मायइ, भूमिभाउ णं पाउसछायइ।
(मपु० ६०।१६।२)

भाव-चित्रण

उदाहरण के रूप में हर्ष की व्यंजना उस स्थल पर प्राप्त होती है जहाँ कवि कहता है कि अपने उदर से जिन-जन्म होने का सुसमाचार ज्ञात कर सुषेणा हर्ष से वैसे ही पुलकित एवं रोमांचित होती है जैसे मधुमास के आगमन को ज्ञात कर कोकिला हर्षित होती है—

घत्ता—तं णिसुणिवि सुंदरि सरमहिहरदरि रोमंचिय पुलएण किह।
महुसमयह वत्तइ पोसियसोत्तइ पणइणि पियमाहविय जिह।
(मपु० ४०।४।१५-१६)

मंत्री के वचनों द्वारा मगधराज के दर्प-परिमुक्त होने का भाव उदाहरण के रूप में दर्शित करते हुए कवि कहता है कि वह वैसे ही शान्त हो गया जैसे मंत्र के प्रभाव से सर्प—

तं वयणें सो परिमुक्कदप्पु, थिउ मंतपहावें णाइं सप्पु।
(मपु० १२।१६।१०)

पराजित भरत की विषादपूर्ण मुद्रा को कवि दो कल्पना-चित्रों द्वारा उत्प्रेक्षा के रूप में प्रस्तुत करता है—

णं कमलसरु हिमाहयकायउ, दवदड्ढउ रुक्खु व विच्छायउ।
(मपु० १८।१।३)

पर्यायोक्ति तथा लोकोक्ति के रूप में मगधराज के रोष का चित्रण करते हुए कवि कहता है—

भणु केणुप्पाडिय जमहु जीह, भणु केण लुहिय खयकाललीह।
णायउलवलयविलुलंतु गीढु, भणु के ण णिमुंभिउ धरणिवीढु।
भणु केण कलिउ मंदरु करेण, उट्ठाविउ सुत्तउ सीहु केण।
(मपु० १२।१७।४-६)

विनोक्ति तथा असम के आश्रय से जसोह के शोक का चित्रण कवि इन शब्दों में करता है—

उम्मुच्छिउ धाहावंतु राउ, हा पइं विणु जगु अंधारु जाउ।
सोयणहं लग्गु हा ताय ताय, पइं विणु मइं भग्गी छत्तछाय।
पइं विणु सुण्णउं धरवीढु जाउ, एवहिं को सामि भवंति राउ।
विणु ताएं रज्जहो पडउ वज्जु, विणु ताएं महु ण सुहाइ रज्जु।
(जस० २।२५।४-७)

विरोधाभास के रूप में विरह का वर्णन करने में कवि कुछ और सुंदर कल्पनाएं करता है—

जलसिंचन पवुड्ढि धुउसासहो, चंदणु इंधणु विरहहुयास हो।
आहारु वि हारु वि ण वि भावइ, कमलु कमलबंधु व संतावइ।
चंदजोण्ह सिहिसिह णं ढुक्की, घित्तजलद्द जलंति व मुक्की।

(णाय० ३।६।६-११)

घटना-चित्रण

रूपक तथा उत्प्रेक्षा के रूप में कवि मगध राज के प्रासाद में भरत द्वारा वाण फेंके जाने की घटना पर एक भव्य कल्पना करता है। प्रासाद के नीलम-जटित आंगन में कनक-वर्ण का वाण गिरा मानों यमुना के श्याम जल में शतदल प्रफुल्लित हो—

मागहहु णिहेलणि हरिणीलंगणि खुत्तु कणयपुंखुज्जलु।
रइणिज्जियकज्जलि जउंणाणइजलि णं पप्फुल्लिउ सयदलु॥

(मपु० १२।१६।११-१२)

उदाहरण तथा उत्प्रेक्षा के रूप में भरत के चक्र के नगर में प्रवेश न करने के वर्णन में कवि और भी सुन्दर कल्पनाएं करता है—

थक्कउ चक्कु ण पुरि परिसक्कइ, कुकइहि कव्वु व णउ णिम्मक्कइ।
णं कोवाणलजालामंडलु, णं पुरलच्छिइ परिहिउ कुंडलु।

(मपु० १६।२।३-४)

नर्तकी नीलंजसा की अकस्मात् मृत्यु की घटना को उत्प्रेक्षा-माला के रूप में प्रस्तुत करते हुए, कवि उसका प्रभाव सोधे हृदय पर डालने की चेष्टा करता है। वह कहता है मानों रति की नगरी क्षण में विध्वंस हो गई, मानों जन-नयन-निवास-श्री हृत हो गई, मानों रंगभूमि रूपी सरोवर की पद्मिनी कर्म-वश काल द्वारा काट दी गई, मानों चन्द्र रेखा नभ में अस्त हो गई, मानों इन्द्रधनुष की शोभा वायु के कारण लुप्त हो गई, मानों रम्य सुख देने वाली तथा रस-वाहिनी सुकवि की कथा किसी पिशुन द्वारा नष्ट कर दी गई—

णं खणि विद्धंसिय रइहि पुरि, णं हय जणणयणणिवाससिरि।
णं रंगसरोवरि पउमिणिय, कम्मेणकालरुवें लुणिय।
णं चंदरेह णहि अत्थमिय, णं सुरधणुसिरि मरुणा समिय।
रसवाहिणि दिण्ण रवण्णसुह, णं णासिय पिसुणें सुकइकह।

(मपु० ६।६।५-८)

दाम यमक अथवा श्रृंखला यमक के दर्शन हमें कवि द्वारा प्रस्तुत धरणेन्द्र-आगमन के वर्णन में होते हैं—

....
फारफणाकडप्पफुक्कारुल्लालियसमहिमहिहरं ।
महिहररुंदकंदरायंपणणिग्गयकूरहरिवरं ।
हरिओरालिरोलवित्तासियणासियमत्तकुंजरं । आदि

(मपु० ८।७।६-८)

कवि के अलंकार-विधान पर विचार करते हुए हमारा ध्यान कतिपय उन स्थलों की ओर जाता है जहाँ उसने दो वस्तुओं अथवा दृश्यों को लेकर उपमेय तथा उपमान के भिन्न-भिन्न अंगों का पारस्परिक साम्य दिखलाते हुए उनके पृथक्-पृथक् दो पूर्ण चित्र उपस्थित किये हैं। यह साम्य कभी श्लेष द्वारा, कभी साधारण धर्म-कथन द्वारा अथवा कभी उपमेय-उपमानगत क्रियाओं द्वारा दर्शित किया गया है। यद्यपि अलंकार के ग्रन्थों में इसका स्पष्ट लक्षण नहीं प्राप्त होता, परन्तु अपभ्रंश के कवियों में इसकी लोक-प्रियता होने में कोई सन्देह नहीं है। डॉ० हरिवंश कोछड़ ने इस पर विचार करते हुए इसे ध्वनित रूपक कहने का सुझाव दिया है।[1]

नीचे हम इसके कुछ अंश प्रस्तुत कर रहे हैं—

नदी तथा सेना का साम्य—

सरि छज्जइ उग्गय पंकयहिं, वलु छज्जइ चित्त छत्त सयहिं।
सरि छज्जइ हंसहिं जलयरहिं, वलु छज्जइ धवलहिं चामरहिं।
सरि छज्जइ संचरंत झसहिं, वलु छज्जइ करवालहिं झसहिं। आदि

(मपु० १५।१२।५-७)

अथवा

गंगा तथा सुलोचना का साम्य—

जोयवि गंगहि सारसहं जुयलु, जोयइ कंतहि थणकलसजुयलु।
जोयवि गंगहि सुललियतरंग, जोयइ कंतहि तिवली तरंग।
जोयवि गंगहि आवत्तभवंणु, जोयइ कंतहि यरणाहिरमणु।

(मपु० २६।७।४-६)

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि के कल्पना-चित्र कितने विविध रूपों में उसकी रचनाओं में अंकित हुए हैं। साथ ही हम यह भी देखते हैं कि उसने उन चित्रों में अपनी रुचि के कितने मनोरम रंगों को भर कर उन्हें आकर्षक बनाने का पूर्ण प्रयत्न किया है। कवि का सर्वाधिक प्रिय अलंकार उत्प्रेक्षा है, जो उसकी सभी रचनाओं में प्रधान रूप से विद्यमान है। इसके पश्चात् उदाहरण तथा रूपक के नाम लिये जा सकते हैं। इनके अतिरिक्त और

---

१. अपभ्रंश साहित्य पृ० ९०-९२।

भी अनेक अलंकारों के रूप में कवि की रम्य कल्पनाएं हमारे सम्मुख आती हैं। इनके द्वारा हमें केवल कवि के उर्वर हृदय का ही परिचय नहीं मिलता, वरन् उसके विस्तृत अनुभव, सूक्ष्म निरीक्षण, सौन्दर्य-प्रियता, असामान्य प्रतिभा आदि गुणों के भी दर्शन होते हैं। वे सभी विशेषताएं उसे महान् कवि का आसन प्रदान करने के लिये पर्याप्त हैं।

लोकोक्तियाँ तथा मुहावरे

काव्य के अंतर्गत शब्दों का चमत्कार तथा अर्थ-गाम्भीर्य प्रकट करने के अभिप्राय से कवि-गण प्रायः लाक्षणिक तथा व्यंग्य प्रयोगों का आश्रय लेते हैं। ये प्रयोग जब लोक के किसी अनुभव को प्रकट करने के लिये पूर्ण वाक्य के रूप में आते हैं तो लोकोक्ति कहलाते हैं और जब किसी विशेष संदर्भ में वाक्यांशों के रूप में प्रयुक्त होते हैं तो मुहावरे। इनमें वाच्यार्थ का बोध हो कर लक्षणा अथवा व्यंजना द्वारा तात्पर्य पूर्ण होता है।

कवि ने अनेकानेक लोकोक्तियों तथा मुहावरों को अपनी रचनाओं में स्थान देकर उनके अर्थ-गौरव का विस्तार किया है। उनमें से अनेक आज तक भाषा के सौन्दर्य को बढ़ाते चले आ रहे हैं। यद्यपि लोकोक्ति स्वयं एक अलंकार माना जाता है, परन्तु कवि के अलंकार-विधान के अंतर्गत उसका उल्लेख न करने का कारण यह है कि उसमें हम कल्पना की अपेक्षा भाषा का चमत्कार ही अधिक देखते हैं। दूसरे लोकानुभव का संकलित रूप होने के कारण उसका परिचय कुछ विस्तार से देना भी उचित प्रतीत होता है। नीचे हम कवि के काव्य से कतिपय महत्वपूर्ण उदाहरण उपस्थित कर रहे हैं—

लोकोक्तियाँ

कि सुक्कें रुक्खें सिंचिएण (सूखे वृक्ष को सींचने से क्या लाभ)
(जस० १।२०।२)

ण सुहाइ उलूयहो उइउ भाणु (उलूक को सूर्योदय नहीं सुहाता)
(मपु० १।८।५)

सुंदर पएसि कि रमउ काउ (सुंदर प्रदेश में कहीं काक रमता है)
(मपु० १।८।३)

जो रसंतु वरिसइ सो णवघणु (जो बरसे वही बादल
(मपु० २।१४।७)

जो जं करइ सोज्जि तं पावइ (जो जैसा करता है, वैसा पाता है)
(मपु० ७।७।१०)

धोयंते दुद्धउ पक्खालउ, होइ कहिमि इंगालु ण धवलउ।
(दूध से भी धोने से कोयला कहीं उजला होता है।)
(मपु० ७।८।२२)

उट्ठाविउ सुत्तउ सीहु केण (सोते सिंह को कौन जगावे) (मपु० १२।१७।६)

भणु को कयंत दंतंति वसिउ (यम के दांतों के बीच कौन रह सकता है)
(मपु० १२।१७।८)

जो वलवंत चोरु सो राणउ वलवान चोर ही राजा होता है)
(मपु० १६।२१।४)

सोहउ केरउ वंदु ण दिट्ठउ (सिंह का वृंद नहीं देखा जाता)
(मपु० १६।२०।७)

माण भंगि वरु मरणु ण जीविउ (मान-भंग होने पर जीवन से मरण श्रेष्ठ है)
(मपु० १६।२०।८)

खम भूसणु गुणवंतहं (क्षमा गुणवान का भूषण है)
(मपु० १८।२।११)

किं तेल्लु विणिग्गइ वालुयहि (वालू से कहीं तेल निकलता है)[१]
(मपु० २३।७।१३)

फणि दिण्णउ दुद्धु वि होइ विसु (सर्प को दूध देने से विष ही होता है)
(मपु० २०।१३।१०)

लूयासुत्तें वज्झउमसउ ण हत्थि णिरुज्झइ (मकड़ी के जाल में मशक फंसता है, हाथी नहीं)
(मपु० ३१।१०।६)

को तं पुसइ णिडालइ लिहियउ (कपाल पर लिखा कौन मिटा सकता है)[२]
(मपु० २४।८।८)

भरियउं पुणु रित्तउ होइ (जो भरता है वह खाली भी होता है)[३]
(मपु० ३६।८।५)

णात्थि सहवाहु ओसहु । (स्वभाव की कोई औषधि नहीं)[४]
(मपु० १२।१४।१२)

करगय कणय वलय पविलोयणि हो कि णियइ दप्पणं ।
हाथ कंगन को आरसी क्या)
(मपु० ५२।८।२)

रणु वोलंतउ चंगउ । (युद्ध की कथा मनोहर होती है)[५]
(मपु० ५२।८।११)

---

(१) मिलाइए-वारि मथे घृत होइ वरु, सिकता तें वरु तेल । तुलसी

(२) मिलाइए-विधि का लिखा को मेंटनहारा । तुलसी

(३) मिलाइए-यो भृतः स रिक्तो भवति ।

(४) मिलाइए मराठी में-स्वभावास औषध नाहीं ।

(५) मिलाइए-युद्धस्य कथा रम्यः ।

अविहेय विहंडणि कवणु दोसु । (अविनीत को मारने में क्या दोष)
(मपु० ५२।९।१०)

सयलु वि गज्जइ णियय घरि । (अपने घर पर सभी गरजते हैं)[1]
(मपु० ५६।७।१३)

सवरुल्लउ कि मोत्तिय बुज्झइ । (सभी क्या मोती पहचान सकते हैं)
(मपु० ५७।३।६)

हंसहं वि खीर जल विहु करणु । (हंस का नीर-क्षीर विवेक)
(मपु० ६९।२७।६)

संतइ सीहि·······कि रम्मइ सियाल हो । (सिंह के होते शृगाल को कौन पूछे)
(मपु० ७३।२१।२)

को रंड कहाणियाउ सुणइ । (रांड की कथा कौन सुनता है)
(मपु० ७४।१२।८)

करयल कंतिहरु पंकेण पंकु कि धुप्पइ । (कीचड़ भरे हाथ से कहीं कीचड़ धुल सकता है)
(मपु० ७९।७।१४)[2]

किं दीव जिणंति दिणेसतेउ । (क्या सूर्य के आगे दीपक जल सकता है)
(मपु० ७५।४।८)

तल्लर जलि कक्कलासु वि जलयरु । अद्दुम गामि एरंडु वि तरुवरु । (तलैया के जल में केकड़ा भी जलचर कहलाता है और वृक्ष-रहित ग्राम में एरंड ही वृक्ष कहा जाता है)
(मपु० ७८।१४।८)[3]

कहिं वसंति णिय जीविउ लेप्पिणु, वणि सियाल सीहहु लिहक्केप्पिणु । (सिंह से अपना जीवन बचाकर शृगाल जंगल में कब तक रह सकता है)
(मपु० ८८।३।५)

णउ दाइज्जथोत्ति कासु वि सुहं । (अपने गोत्र की प्रशंसा से किसे सुख नहीं होता)
(मपु० ८८।२१।९)

मुहावरे

कुलिसे घाइउ—वज्रपात होना । (णाय० ३।१४।१२)

अडइ रुण्णु—अरण्य रोदन । (णाय० ४।३।१३)

पय दुद्धइ सप्पहो—सर्प को दूध पिलाना । (जस० १।१९।१०)

---

(१) मिलाइए हिन्दी में-अपने दरवाजे कुत्ता भी शेर होता है ।

(२) मिलाइए-छूटहि मल कि मलहि के धोए । तुलसी

(३) निरस्त पादपे देशे एरण्डोपि द्रुमायते ।

भुक्कउ छणयंदहु सारमेउ—श्वान का चन्द्रमा पर भूंकना।
(मपु० १।८।७)

को हुयवहु इंधणेण घवइ—आग में ईंधन डालना। (मपु० ६।३।८)

जाहु मसाणहु—श्मशान भेजना। (मपु० ७।१०।८)

पडिही सीसे णं तडी—सिर पर बिजली गिरना। (मपु० ७।१४।२)

सिरु धुणंति—सिर धुनना। (मपु० १२।११।१३)

सूरहु अग्गइ दीवउ वोहमि—सूर्य को दीपक दिखाना। (मपु० १६।१६।६)

किं णहहु ण ल्हसियउ—आसमान फटना। (मपु० २८।२८।१२)

मत्थइ सिंगइं—माथे पर सींग होना। (मपु ३२।११।१)

हुयवह मुहि पइसरिय—आग में कूदना। (मपु० ३७।११।१३)

वायरण वियारणु जडहुं जिह—मूर्ख का व्याकरण पढ़ना।
(मपु० ६२।११।४)

कट्ठ कणएं जडिउ—काठ में सोना जड़ना। (मपु० ७४।११।४)

उक्ति-वैचित्र्य

कवि के काव्य के अनेक स्थलों पर हम देखते हैं कि अपने किसी दृढ़ विश्वास के कारण अथवा किसी विषय की स्थापना के प्रयत्न में अथवा किसी पात्र विशेष के प्रति अपनी उत्कट सहानुभूति या घृणा प्रदर्शित करने में, वह एक के पश्चात् दूसरी कल्पना करता हुआ अपने कथन को प्रभावशाली बनाता है। कवि की यह विशेषता उसकी रचनाओं में अत्यधिक मात्रा में विद्यमान है, किन्तु हम कुछ उदाहरण उपस्थित करके उसे स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे।

इन्द्र द्वारा शिशु जिन को देखने के प्रसंग में कवि वदनक छंद के सात चरणों में छः सुन्दर कल्पनाएं करता है—

सहसक्खें दिट्ठउ परमपरु, कमलसरे णं णवदिवसयरु।
छज्जइ अण्णाणतमोहहरु, णं अंकुरत्ति थिउ धम्मतरु।
णं वद्धउ सिवसुहकणयरसु, णं पुरिसरूवि संठियउ जसु।
णं सयलकलायरु उग्गमिउ, णं एक्कहिं लक्खणपुंजु किउ।
(मपु० ३।११।४-७)

परोपकार ही मनुष्य का मंडन है, इस पर बल देने के लिये कवि अठारह विभिन्न वस्तुओं के मंडन की कल्पना करता है। उदाहरण के लिये निम्नलिखित पंक्तियां पर्याप्त होंगी—

भुवणहु मंडणु अरहंतु देउ, माणिणिमुहमंडणु मयरकेउ।
वेसहि मंडणु वइसिउ णिरुत्तु, ववहारहु मंडणु णायवित्तु।
....

किंकरमंडणु पहुकज्जकरणु, णरवइ मंडणुपाइक्कभरणु ।
सिरिमंडणु पंडियणु णिरुत्तु, पंडियमंडणु णिम्मच्छरत्तु ।
पुरिसहु मंडणउ परोवयारु, धरणिहें पालिउ णिव्वियारु ।

(मपु० ८।१५।५-१४)

भरत की अधीनता स्वीकार करने के प्रसंग में उनके भ्राताओं द्वारा कवि, मानव-जीवन में अनिवार्यतः घटित होने वाली ग्यारह बातों का उल्लेख कराते हुए उनके प्रभाव से मुक्त व्यक्ति को प्रणाम करने का वर्णन करता है—

तं णिसुणेवि कुमारगणु घोसइ, तो पणवहुं जइ वाहि ण दीसइ ।
तो पणवहु जइ सुसुइ कलेवरु, तो पणवहु जइ जीविउ सुन्दरु ।
तो पणवहु जइ जरइ ण भिज्जइ, तो पणवहु जइ पुट्ठि ण भज्जइ ।
तो पणवहु जइ बलु णोहट्टइ, तो पणवहु जइ मुइ ण विहट्टइ ।
तो पणवहु जइ मयणु ण तुट्टइ, तो पणवहु जइ कालु ण लुट्टइ ।
कंठि कयंतवासु ण चहुट्टइ, तो पणवहु जइ रिद्धि ण तुट्टइ ।

(मपु० १६।७।६-१०)

धन का लोभी कैसे शोभा पा सकता है, भरत की इस चिन्ता का अंकन कवि चौदह काल्पनिक चित्रों द्वारा करता है । (मपु० १६।१।४-१०)

पुनः इसी प्रसंग में वह दीन को दिये जाने वाले धन की उपयोगिता छः काल्पनिक वस्तुओं को समकक्ष रखते हुए बतलाता है—

सा राई जा सासिविप्फुरिय, सा कंता जा हियवय भरिय ।
सा विज्जा जा सयरु वि णिवइ, तं रज्जु जम्मिबुहयणु जियइ ।
ते बुह जे बुहहं ण मच्छरिय, ते मित्त ण जे विहुरंतरिय ।

(मपु० १६।३।५-७)

अन्यत्र जिन-भक्ति का महत्व प्रदर्शित करते हुए कवि उनके नाम-स्मरण के प्रभाव द्वारा चौदह कठिन कार्यों के सहज ही सम्पन्न होने का उल्लेख करता है—

तुह णामें णउ भक्खइ अहि वि ।
तुह णामें णासइ मत्तकरि, कउं दंतु वि थक्कइ णरहु हरि ।
तुह णामें हुयवहु णउ डहइ, परबलु गयपहरणु भउ वहइ ।
तुह णामें संतोसियखलउ, तुट्टेवि जंति पयसंखलउ ।
तुह णामें सायरि तरइ णरु, ओसरइ कोहकंदप्पजरु ।
घत्ता—ण फलइ दुस्सिविणउं जणि अवसवणउं तिहुवणभवणुक्किट्ठइ ।
पूरंतिमणोरह गह साणुग्गह होंति देव पइं दिट्ठइ ॥

(मपु० १६।८।७-१४)

इसी प्रकार, धर्म के विना जीवन व्यर्थ है— अपनी इस मान्यता के प्रति विश्वास प्रकट करने के लिये कवि इक्कीस कल्पनाएं उसके समकक्ष रखता है।

(मपु० २०।१५।९-११)

अपनी कल्पना की उड़ान में राजा अतिवल की रानी मनोहरा का रूप-चित्रण वह वारह भाव-चित्रों द्वारा करता है, जिनको यथाक्रम छः अर्द्धालियों में इस प्रकार व्यक्त किया गया है :—

णं पेम्मसलिलकल्लोलमाल, णं मयणहु केरी परमलोल।
णं चिंतामणि सदिण्णकाम, णं तिजगतरुणिसोहग्गसीम।
णं रूवरयणसंवायखाणि, णं हिययहारि लायण्णजोणि।
णं घरसरहंसिणि रइसुहेल्लि, णं घरमहिरुहमंडणियवेल्लि।
णं घरवणदेवय दुरियसंति, णं वरछणससहरविवकंति।
णं घरगिरिवासिणि जक्खपत्ति, णं लोयवसंकरि मंतसत्ति।

(मपु० २०।६।१-६)

जो राजा अपनी प्रजा की पीड़ा हरण करने का प्रयत्न नहीं करता, वह स्वयं नष्ट हो जाता है। कवि ने पांच कल्पित वस्तुओं के दृष्टान्त द्वारा इस वात को राजा प्रजापति के मुख से स्पष्ट कराया है—

जो गोवालु गाइ णउ पालइ, सो जीवंतु दुद्धु ण णिहालइ।
इट्ठ महेली जो णउ रक्खइ, सुरयसोक्खु सो कहिं किर चक्खइ।
जो मालारु वेल्लि णउ पोसइ, सो सुफुल्लु फलु केंव लहेसइ।
जो कइ ण करइ मणहारिणि कह, सो चिंतंतु करइ अप्पह वह।
जो जइ संजमजत्त ण याणइ, सो णग्गउ णग्गत्तणु माणइ।

(मपु० ५१।२।१-५)

पुनः जव कवि त्रिपृष्ठ वासुदेव की दुर्दमनीय शक्ति का परिचय देना चाहता है, तो वह चार अर्द्धालियों में आठ असंभावनाएं गिना कर उसकी पुष्टि करता है—

को हालाहलु जीहाइ कलइ, को करयलेण हरिकुलिसु दलइ।
को कालु कयंतहु माणु मलइ, को जलणि णिहित्तु वि णाहिं जलइ।
को गयणि जंतु अहिमयरु खलइ, को णियबलेण धरणियलि तुलइ।
को फणिवइफणमणिणियरु हरइ, को पडिय विज्जु सीसेण धरइ।

(मपु० ५२।२।६-९)

और पुनः दुर्व्यसन में लिप्त पुत्र को जव वह कुल का दूषण वतलाना चाहता है तो उसी प्रकार की तेरह अन्य वस्तुओं के दूषणों का वह सात अर्द्धालियों में प्रस्तुत करता है—

गुणदूसणु अप्पपसंसणउं, तवदूसणु मिच्छादंसणउं ।
णउदूसणु णीरसणेवखणउं, कइदूसणु कव्वु अलक्खणउं ।
घणदूसणु सढखलयणभरणु, वयदूसणु असमंजसमरणु ।
रइदूसणु खरभासिणि जुवइ, सुहिदूसणु पिसुणु विभिण्णमइ ।
सिरिदूसणु जडु मालसु णिवइ, जणदूसणु पाउ पत्तकुगइ ।
गुरुदूसणु णिक्कारणहसणु, मुणिदूसणु कुसुइसमब्भसणु ।
ससिदूसणु मिगमलु मसिकसणु, कुलदूसणु णंदणु दुव्वसणु ।

(मपु० ६९।७।२-८)

परन्तु इस प्रवृत्ति का सबसे सुन्दर उदाहरण उस स्थल पर प्राप्त होता है, जब कवि नृत्य करती हुई नीलंजसा की मृत्यु का वर्णन कल्पना के उन्नीस भाव-चित्रों द्वारा प्रस्तुत करता है। इसका कुछ अंश अलंकार-विधान के अन्तर्गत उद्धृत किया जा चुका है, अतः पुनरावृत्ति अनावश्यक होगी। (मपु० ६।६।३-११)

कवि की इस विशेषता पर विचार करते हुए कहीं-कहीं हमें ऐसे स्थल भी प्राप्त होते हैं जहां भावावेश में आकर उसने कल्पित वस्तुओं के समान-धर्मी होने की ओर उचित ध्यान नहीं दिया। इस कारण उक्ति के अपेक्षित प्रभाव में कुछ न्यूनता सी आई प्रतीत होती है। उदाहरण के लिये एक प्रसंग में जिन की उत्कृष्टता सिद्ध करने के लिये कवि ने तेरह कल्पित वस्तुओं का उल्लेख किया है। यहां जिन को सूर्य, चन्द्र, मेरु, सिंह आदि से श्रेष्ठ बतलाने के पश्चात् हाथी तथा व्याघ्र से श्रेष्ठ कहना बहुत उचित नहीं प्रतीत होता।[1] इसी प्रकार भरत के बाण के लिये जहां काल-दंड, प्रलयाग्नि, गुण-च्युत कुशील मनुष्य आदि कल्पनाएं एक प्रसंग में रखी गई हैं, वहां उसके लिये सुजन का अंतरंग, परमज्ञान, शुक्ल-ध्यान जैसी उज्ज्वल कल्पनाएं खटकती सी हैं।[2] परन्तु ऐसे स्थल इतने कम हैं कि उसके समग्र काव्य को देखते हुए उन्हें नगण्य ही कहा जायेगा।

कवि की छंद योजना

काव्य के कला-पक्ष में जहां अलंकार-विधान द्वारा अर्थ तथा शब्दों का चमत्कार उपस्थित करके उसके गौरव की वृद्धि की जाती है, वहां छंद द्वारा कविता को नाद एवं लय की गति में बद्ध करके उसे अधिक भावग्राही तथा संवेदनामूलक बनाया जाता है। अनुकूल छंद पाकर कवि की कल्पना अत्यन्त आकर्षक रूप धारण कर लेती है।

अपभ्रंश काव्य में संस्कृत-प्राकृत की परम्परागत काव्य-रूढ़ियों का नितान्त अभाव तो नहीं है, परन्तु उसके कवियों ने उन रूढ़ियों का अंधानुकरण भी

---

१. मपु० ४।३।३-१० २. मपु० १२।१६

नहीं किया। विशेषरूप से छन्दों की दिशा में अपभ्रंश में क्रान्तिकारी परिवर्तन प्राप्त होते हैं।

परिवर्तन की यह धारा आगे चलकर बहुत कुछ उसी रूप में आधुनिक भाषाओं में दृष्टिगत होती है। संस्कृत में वर्णवृत्तों की प्रचुरता रही है। प्राकृत में वर्णवृत्तों के साथ मात्रिक छन्दों की ओर कवियों का ध्यान गया। प्राकृत का गाथा छन्द मात्रिक ही है। अपभ्रंश में मात्रिक छन्दों की ओर कवियों का विशेष आग्रह दिखाई देता है। अपभ्रंश छन्दों की एक महत्वपूर्ण विशेषता अंत्यानुप्रास (तुकान्त) है। संस्कृत तथा प्राकृत में इसका अभाव है। इस सम्बन्ध में डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी का कथन है कि छठवीं-सातवीं शताब्दी में उत्तर-पश्चिम से अनेक विदेशी जातियाँ भारत में आईं। संभवतः यह तुकान्त पद्धति उन्हीं की देन है। ईरानी साहित्य में यह प्रथा पूर्व ही वर्तमान थी।[1]

अपभ्रंश काव्य में दोहा छन्द का अत्यधिक प्रचार हुआ, परन्तु वह प्राकृत के गाथा की भाँति मुक्तक काव्य के ही उपयुक्त है। अतः प्रबन्ध काव्यों में उसका उपयोग नहीं किया गया। तो भी अपभ्रंश के घत्ता छंदों के अन्तर्गत उसका कुछ न कुछ अंश अवश्य विद्यमान है। आगे चलकर हिन्दी में अपभ्रंश की यह देन प्रबंध तथा मुक्तक काव्यों में समान रूप से अपनाई हुई देखी जाती है।

अपभ्रंश के प्रबन्ध-काव्यों में प्रयुक्त संधि-कड़वक शैली का उल्लेख हम पूर्व ही कर चुके हैं।[2] कवि ने अपने काव्य-निर्माण में उसी शैली का अनुगमन किया है। संधि कड़वक का संग्रह मात्र है, अतः कवि के छन्द-विधान का विवेचन करने के पूर्व उस पर कुछ विचार करना उचित होगा।

कड़वक की रचना में उसका आदि, मध्य तथा अंत स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। उसमें तीन विभिन्न छंदों का प्रयोग किया जाता है। कवि ने कड़वक के आदि में दुवई, हेला जैसे छंद रखे हैं, परन्तु अधिकांश कड़वकों में आदि के छंद नहीं प्राप्त होते। कड़वक का मध्य भाग ही उसका मुख्य अंग है। इनमें कथा-प्रवाह के लिये उपयुक्त छंदों का प्रयोग किया जाता है। आल्सडार्फ, याकोबी आदि विद्वानों ने पद्धड़िया (पद्धडिका), अडिल्ला, पादाकुलक तथा पारणक—इन चार छन्दों को अपभ्रंश प्रबन्ध काव्यों के मुख्य छन्द माने हैं।[3] इनमें पद्धड़िया ही अपभ्रंश का सबसे प्रिय छन्द बना। संस्कृत में जैसा मान अनुष्टुप् का है, अपभ्रंश में वैसा ही पद्धडिया का। चतुर्मुख द्वारा स्वयंभू को पद्धड़िया प्राप्त होने

---

१. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० ६३।

२. देखिए ऊपर पृ० ८५

३. भारतीय विद्या, अप्रैल १९४६ में डॉ० भायाणी का लेख।

का उल्लेख भी हम ऊपर कर चुके हैं ।[1] वस्तुतः इस छन्द के प्रयोग में स्वयंभू अत्यन्त प्रसिद्ध थे ।

स्वयंभू छन्दस् के अनुसार कड़वक की रचना पद्धड़िया के आठ यमकों अथवा सोलह पदों (चरणों) में होनी चाहिए । स्वयंभू ने अपने काव्य में सामान्यतः इसी नियम का पालन किया है, परन्तु उनके पश्चात् यह नियम शिथिल सा हो गया। पुष्पदंत आदि परवर्ती कवियों ने स्वेच्छानुसार लंबे-लंबे कड़वक रचे हैं ।

कड़वक के अन्त में घत्ता रखने की पद्धति प्रायः सभी अपभ्रंश कवियों में परिलक्षित होती है । इसके द्वारा कड़वक के वर्णनीय विषय की परिसमाप्ति की सूचना मिलती है । घत्ता में अनेक प्रकार के छन्द प्रयुक्त होते हैं । हिन्दी के प्रबंध काव्यों में कुछ चौपाइयों के पश्चात् दोहे का घत्ता रखा जाता है । यह पद्धति अपभ्रंश से ही वहां पहुँची है ।

कड़वक में इस प्रकार प्रयुक्त होने वाले तीन प्रकार के छंदों के अनुसार हम कवि की समस्त छंद-योजना को निम्नलिखित भागों में विभाजित करके उनका विवेचन करेंगे—

१—कड़वक के आदि के छंद
२ — कड़वक के मध्य भाग के छंद
३—कड़वक के अंत के घत्ता छंद

१—कड़वक के आदि के छंद

कवि की रचनाओं में इस प्रकार के छंदों की नियमित योजना नहीं है । महापुराण की १०२ संधियों में से केवल २४ संधियों में, णायकुमार चरिउ की ६ में से २ में तथा जसहर चरिउ की ४ संधियों में से २ संधियों में ऐसे छंद प्राप्त होते हैं । ये छंद संधि विशेष के प्रत्येक कड़वक के आदि में प्राप्त होते हैं ।

(१) जंभेट्टिया (मात्रिक)—

इस छंद का प्रयोग मपु० की संधि ४ में किया गया है । इसमें ९ मात्राएं तथा ४ पद होते हैं । अंत प्रायः रगण से होता है, परन्तु जगण वर्जित है । तुकान्त का क्रम इस प्रकार है—क । ख ग । घ

यह छंद स्वयंभू के पउमचरिउ (संधि ४८) में भी प्राप्त होता है, परन्तु वहां इसके ८ चरण रखे गये हैं तथा प्रथम ४ चरणों के पश्चात संगीतात्मक शब्दावली भी प्राप्त होती है । पुष्पदंत ने केवल १९ वें कड़वक में ८ चरण रखे हैं ।

उदाहरण— ता कुलकारिणा णायवियारिणा ।
सुहहलसाहिणा भणियं णाहिणा ।। (मपु० ४।८।१-२)

---

१. देखिए ऊपर पृ० २१

(२) रचिता (मात्रिक)—

यह छंद मपु० की संधि ५ में प्राप्त होता है। इसमें दो पद होते हैं तथा प्रत्येक पद में सामान्यत: ७, ६, १२ मात्राओं पर यति होती है। इस प्रकार कुल २८ मात्राएं होती हैं। अंत प्रायः रगण से होता है, परन्तु कड़वक १६ तथा २० के अंत में सगण आया है। तुकान्त क। ख है।

उदाहरण —घणथणणयणवयणकरकमयलसयलावयवसोहिया।
समियसविसयविरसविसवेइणि सीलसिरीपसाहिया। मपु० ५।१४।१-२

(३) मलयविलसिया (मात्रिक)—

कवि ने मपु० संधि ६ मे इस छंद का प्रयोग किया है। यह ४ पद का छंद है तथा प्रत्येक पद में ८ मात्राएं होती हैं। अंत में यगण, नगण, सगण सभी मिलते हैं। तुकान्त—क। ख, ग। घ

उदाहरण—कंचणघडियइ मणिगणजडियइ।
हरिवरधरियइ पहविप्फुरियइ ॥ मपु० ६।१।३-४

(४) खंडयं (खंडकं) मात्रिक—

यह छंद मपु० संधि ७ में प्रयुक्त हुआ है। ४ पदों वाले इस छंद के प्रति पद में १३ मात्राएं होतो हैं। अंत में रगण तथा सगण दोनों ही प्राप्त होते हैं। तुकान्त—क। ख, ग। घ

उदाहरण—मणमेत्ते वावारए एसों कीस ण कीरए।
सासयसुहओ संवरो होहं होमि दियंवरो ॥ मपु० ७।१५।१-२

(५) आवली (मात्रिक)—

इसका प्रयोग मपु० संधि ८ में प्राप्त होता है। इसमें ४ पद तथा प्रति पद में २० मात्राएं होती हैं। अंत में रगण आता है। तुकान्त—क। ख, ग। घ

उदाहरण —कंकणहारदोरकडिसुत्तभूसिया
णिच्चं गंधधूनमल्लोहवासिया।
लच्छि भुंजिउं णरा देवयाणियं
सोक्खं जं लहंति तं केण भाणियं ॥ मपु० ८।१३।१-४

(६) हेला (मात्रिक)—

मपु० की ६, ७४ तथा ७७ संधियों में यह छंद प्रयोग किया गया है। इसके दो पद होते हैं तथा प्रति पद में २२ मात्राएं होती है। अंत में यगण आता है। तुकान्त—क। ख

पउम चरिउ की १७ तथा २५ संधियों में इस छंद का प्रयोग हुआ है, परन्तु वहां इसका नाम हेला दुवई है। हेमचंद्र ने छंदोनुशासन के संजक प्रकरण में इसे चार पदों का छंद कहा है। स्वयंभू तथा पुष्पदंत ने इसे दो ही पदों के रूप में उपस्थित किया है।

उदाहरण—ता दुंदुहिरवेण भरियं दिसावसाणं ।
भणियं गुरवरेहिं भो साहु साहु दाणं ॥ मपु० ६।११।१-२

(७) दुवई अथवा द्विपदी (मात्रिक)—

प्रयोग—मपु० संधि १०, १४, २३, ५२, ५४, ५६, ७३, ७८,
८५, ८७, ८८, ८६, ६० तथा ६६
णाय० संधि ३ तथा ४
जस० संधि ३ तथा ४

इसके नाम से ही प्रकट होता है कि यह दो पदों का छंद है । प्रति पद में २८ मात्राएं होती हैं । कवि ने कड़वक के आदि के छंदों में सबसे अधिक इसी का प्रयोग किया है । पउम चरिउ की १३, ४० तथा ५१ संधियों में यही प्रयुक्त हुआ है । इसके अंत में अधिकतर रगण हो आता है । परन्तु कहीं-कहीं सगण तथा नगण भी प्राप्त होते हैं । संधि ७८ (३) में यगण मिलता है । तुकान्त—क । ख

उदाहरण—जय जय सिद्ध बुद्ध बुद्धोयणि सुगय कुमग्गणासणा ।
जय वइकुंठ विट्ठु दामोयर हयपरवाइवासणा ॥ मपु० १०।६।१-२

(८) आरणालं (मात्रिक)—

इस छन्द का प्रयोग मपु० संधि १६ में हुआ है । इसमें दो पद होते हैं तथा प्रति पद ३० मात्राएं । यति प्रायः १२, ८, १० मात्राओं पर प्राप्त होती है । इसका आन्तरिक तुकान्त इस प्रकार है—क । ख, घ । ङ, ग । च

पउम चरिउ की संधि ५३ में भी यह छंद मिलता है ।

उदाहरण—वरकेदारदारए सालिसारए कसणधवलपिच्छा ।
अणुभण भणियघणकणं कणिसमणुदिणं जहिं चुणंति रिछा । मपु० १६।१३।१-२

(९) मलयमंजरी (मात्रिक)—

मपु० संधि ७६ में इस छंद का प्रयोग हुआ है । इसमें नियमित रूप से दो पद मिलते हैं तथा प्रत्येक पद में ३० मात्राएं (१०, १०, १० की यति से) होती हैं । आरणालं की भांति इसका भी अंत यगण से होता है । परन्तु दोनों में भेद यह है कि इसमें प्रत्येक यति के अंत मे यगण है और आरणालं में रगण । केवल कड़वक ६ का अंत सगण से हुआ है । तुकान्त—क । ख, घ । ङ, ग । च

उदाहरण—अट्ठिओ रुद्दो विविहतूरसद्दो भग्गवइरिधीरो ।
चलियसाहणाणं तुरयवाहणाणं कलयलो गहीरो ॥ मपु० ७६।१।३-४

२—कड़वक के मध्य भाग के छंद

प्रसंग तथा रुचि के अनुसार कवि ने इस वर्ग में मात्रिक एवं वर्णवृत्तों के प्रयोग किये हैं, परन्तु इनमें तीन ही प्रधान हैं । वे हैं—पद्धड़िया, वदनक तथा पारणक । सर्व प्रथम हम इन्हीं का विवेचन करेंगे ।

(१०) पद्धड़िया (मात्रिक)—

प्रयोग—मपु० संधि १ (कड़वक १-६, ११, १२-१८), ४ (१-६, ८-१६), ८ (१, ३, ५-६,६, ११-१३, १६), १० (१-१२, १४),१२ (१-२, ६-८, १०-११,१३-२०), १७ (१-२, ४-११, १३-१४, १६), २० (१-४, ६-६, ११-२५), २५ (१-७, ६-२२) २७ (१-७, ६-१३), २६ (१-२२), ३३ (१-१३), ३७ (१-२५), ३६ (१-१७, १६) ४६ (१-२, ५, ८-६, ११-१२), ४८ (२-५, ६-२०), ५० (१-३, ५-१२), ५२ (१-२, ४-१५, १७, १६, २१, २४, २६-२८), ५६ (१-७, १०), ५८ (१-४, ६-२३), ६१ (३-२४), ६४ (१-३, ५-८, १०-११), ६६ (१-४, ६, ८-१०), ६८ (१-३,५-६, ८-११), ७० (१-१४, १६-२१), ७३ (१-८, १०-११, १३-३०), ७५ (१-७, ६-१३), ७७ (१-३, ५-७, ६, ११, १३). ७६ (१-१४), ८१ (२-१६), ८४ (१-१८), ८६ (२-५, ६-११), ८६ (१-४,६-२०), ६१ (१-११, १३-२२), ६३ (२-११, १३-१५), ६४ (२१-२२, २४-२५). ६६ (१-७, १०-११). ६६ (१-२०) तथा १०१ (१-१६)।

णाय० संधि १ (१-१०, १२-१८), ४ (१-६, ११-१५), तथा ८ (१-१६)।

जस० संधि १ (१-६, ११, २०-२६), २ (१३,२५ पंक्ति ३-१७, २६-२७)

तथा ४ (१-१६, १८-१२, २५-२६, २८-३०)।

यह छंद अपभ्रंश का आदर्श छंद है। इसके पद्धरि, पद्धरी, पज्झटिका आदि नाम भी हैं। स्वयंभू छंदस् के आठवें अध्याय से विदित होता है कि अपभ्रंश प्रबंध काव्यों में प्रयुक्त होने वाले समस्त छंदों को पद्धड़िया कहा जाता था, परन्तु इसमें केवल १६ मात्राओं वाले छद ही सम्मिलित थे। इसके प्रत्येक चरण में ४ चतुष्कल गणों का नियम है, परन्तु अंतिम गण का जगण होना आवश्यक है।

कवि ने अपने प्रत्येक ग्रंथ का प्रारम्भ इसी छंद से किया है। पउम चरिउ की प्रथम संधि में भी यही छंद है।

उदाहरण—दं दं दं दं टिविलाइ उत्तु, जिणु भणइ हउं मि दंदेण मुत्तु।
अणुहुंजिउ जं भवसइ भमंतु, णं भासइ तं तं तं भणंतु।
(मपु० ४।११।३-४)

(११) वदनक (मात्रिक)—

प्रयोग— मपु० संधि २ (१-२, ४-१२, १४-२१), ३ (६), ७ (१-२४, २६), ६ (१, ४, ५, ७-८, १०-१६, १८-१६), ११ (१-२३, २५-३२, ३४-३५), १४ (१, ५, ८-१०, १२), १६ (१-२६), १८ (१-१६), २२ (१-५, ७-१५, १७-२१), २४ (१-११, १४), २६ (२, ७, १०-१२, १४ १६-१८), २८ (१-१६, १८-२१, २३-२६), ४१ (३, ५-७, १०-१७), २८ (२८-३५, ३७-३८), ३० (१-२३), ३२ (१-२७), ३५ (१, ३-१८), ३८ (२-११, १३-१५, १७-२१, २३-२६), ४४ (२-११),

४७ (२-६, १०-१३, १५-१६ , ४६ (१-१४), ५१ (१-२, ४-१७), ५४ (१-४, ६-६, ११-१८), ५७ (१-३२), ६० (१-३२), ६३ (१-६, ६-११), ६५ (२-२४), ७१ (१-११, १४-२१), ७६ (१-६ ८-१०), ७८ (१-५, ७-८, १०-११, १३-१४, १६, २०-२६), ८० (२-६, ८-१७). ८३ (१-४, ६-६, ११-२३), ८५ (१-८, १२-१५, १७-२५), ८७ (१-२, ४-१७), ८८ (१-१०, १२, १५-२४), ९० (१-१६) ६२ (१-२१), ६४ (१-१२), ६५ (२-१४), ६८ (१-२०), १०० (१-१०) तथा १०२ (१-१४)।

णाय० संधि ३ (१-१७), ५ (१-३, ६-१३), ७ (१-४, ६-१२, १४-१५), ९ (१-१५, १६, २२-२५)।

जरा० संधि २ (४), ३ (४-१२, १४, १७-२६, २८-४१), तथा ४ (२३-२४, २७, ३१)।

कवि की छंद-योजना में पद्धड़िया के पश्चात् वदनक का ही सबसे अधिक प्रयोग हुआ है। १६ मात्राओं वाले इस छंद की गण-योजना ६,४,४,२ है। अंत में अधिकतर दो ह्रस्व रखे गये हैं।

अडिल्ला इसका एक विशेष रूप ही है, परन्तु याकोबी तथा आल्सडार्फ इसे अडिल्ला ही कहते है। हेमचन्द्र ने अवश्य ही इसका नाम वदनक दिया है।[1] स्वयंभू छंदस (४।३२ तथा प्रो० वेलणकर द्वारा संपादित कवि दर्पण (२।२१) से भी इसके वदनक नाम की पुष्टि होती है। डॉ० हीरालाल जैन ने णायकुमार चरिउ में प्रयुक्त इस छंद को अलिल्लह बतलाया है।[2]

कवि की सभी रचनाओं का अंत इसी छंद से हुआ है। तुलसी ने कुछ अन्तर के साथ चौपाई के रूप में इसका प्रयोग किया है।

उदाहरण—

णिविडसंधिबंधइं णं कव्वइं, देविहि जण्हुयाइं अइभव्वइं।
ऊरुयखंभ णराहिवदमणहु, तोरणखंभाइं व रइभवणहु।
जेण सपुरणरु तिहुयणु जित्तउ, कामतच्चु जं देवहिं वुत्तउ।
दिण्ण थत्ति तहु सोणीबिंबहु, किं वण्णमि गरुयत्तु णियंबहु।(मपु० २१।५।९-१२)

(१२) पारणक (मात्रिक)—

प्रयोग—मपु० संधि ३ (१-२, ३-४, ६, ८, ११-१३, १५-१८, २१), ६ (१-६), १३ (२-८, ११), १५ (१-३, ५-८, ११-२४), १६ (१-१३), २१ (१-५, ७-१५), २३ (४-२०), ३१ (२-२६), ३४ (१-५, ७-९, ११-१२), ३६ (१-१६), ४० (३, ६-११, १३-१५), ४५ (३-८, १२-१३), ५३ (१०), ५५ (२-११), ५६

१. पउम चरिउ, डॉ० भायाणी, भूमिका, पृ० ६६
२. णायकुमार चरिउ भूमिका पृ० ६०-६१

(७,१८), ६२ (१-२३), ६७ (१६), ६६ (१-४, ६-१६, २१-३१, ३३-३५), ७२ (२, ४, ७-१२), ७४ (२-१६), ८२ (१-१२, १४-१८) तथा ६७ (१-६, ८)।

णाय० संधि २ (१, ४, ६-१०, १२-१४), ६ (१-५, ७-१२, १४-१५, १७)।

जस० संधि २ (२, ५-१२, १४-१५, १८-२४, २५ पंक्ति १-२, २८-३७)।

कवि के प्रधान छंदों में पारणक का तृतीय स्थान है। इस छंद में १५ मात्राएं होती हैं। इसके संबंध में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। इसका कारण यह है कि अपभ्रंश छंदों में अंतिम गण के अंतिम वर्ण को हस्तलिखित ग्रंथों की अस्पष्टता के कारण कहीं लघु और कहीं दीर्घ पढ़ा जाता है। पद्धड़िया तथा पारणक में अंतर इतना कम है कि पद्धड़िया के अंतिम गण का प्रथम लघु हटा लेने तथा मध्य में गुरु के स्थान पर दो लघु रख देने से पारणक बन जाता है। इसकी गण योजना इस प्रकार ४, ४, ४, ३ होती है।

डॉ० हीरालाल जैन ने णायकुमार चरिउ में प्रयुक्त इस छंद को १६ मात्राओं का ही कह कर पादाकुलक नाम दिया है।[1]

उदाहरण—क वि अलयतिलय देविहि करइ, क वि आदंसणु अग्गइ धरइ।
क वि अप्पइ वररयणाहरणु, क वि लिप्पइ कुंकुमेण चरणु।
क वि णच्चइ गायइ महुरसरु, क वि पारंभइ विणोउ अवरु।
(मपु० ३।४।१-३)

(१३) करिमकर भुजा (पद्धडिकार्द्ध)—

प्रयोग—मपु० संधि २२ (१६), २६ (३, ६), ३८ (२२), ५४ (५, १०), ५६ (१३), ७८ (६, १६। ८० (७), ८६ (१, ७), तथा ६६ (६)।

८ मात्राओं का यह छंद पद्धड़िया का अंतिम अर्द्ध भाग है। पउम चरिउ की संधि २७ ६, ५१ (१४) तथा ४० (७) में भी यह छंद मिलता है।

उदाहरण—ता कट्ठभारु णं दुक्खभारु।
महियलि थिवेवि णरु मइ णवेवि। (मपु० २२।१६।१-२)

इसका अन्य नाम मधुभार भी है।[2]

(१४) करिमकर भुजा (वदनकार्द्ध)—

प्रयोग—मपु० संधि ४ (७), ८ (४), १५ (६,१०), २० (१०), २३ (३), २८ (२२), ३१ (१), ३५ (२), ३८ (१), ३६ (१८), ४१ (४), ४२ (१), ५२ (३, १६, २०), ५३ (७), ५५ (१), ५६ (६, ११, १२), ६१ (१), ६३ (७), ६७ (१४), ६८ (४), ७४ (१), ७८ (१२), तथा ८५ (६, ११)।

णाय० संधि ५ (४) तथा ६ (६)।

---

१. णाय० भूमिका पृ० ५६
२. छंद प्रभाकर पृ० ४३

यह छंद भी ८ मात्राओं का है। इसका निर्माण वदनक के अंतिम अर्द्ध भाग से होता है। डॉ० हीरालाल जैन ने इसे मधुभार ही कहा है।[1]

उदाहरण— ससिरयणमए परिभमियमए।
उववणगहिरे घणविहुरहरे।
खगणियरहरे सुरसरिसिहरे। (मपु० १५।६।१-३)

(१५) दीपक (मात्रिक)—

प्रयोग—मपु० संधि ३ (२०), ८ (८), ६ (२), ११ (२४, ३३), १२ (३, ५), १३ (१), १५ (४), २४ (१२), २६ (६, १५, १३), २८ (३६), ४० (२), ४२ (३, ५, १०), ४५ (२), ४६ (१३), ४७ (१४), ४८ (७), ५२ (२३), ५६ (८), ६१ (२), ६६ (३२), ७८ (१८), ८२ (१३) तथा ६४ (१३, १६, २०)।

णाय संधि २ (२), ५ (५) तथा ७ (५)।

जस० संधि २ (१६)।

यह दस मात्राओं का छन्द है। छन्द प्रभाकर (पृ० ४४) में दैशिक जाति के दीप नामक छन्द का लक्षण इससे मिलता-जुलता है। वहाँ इसके अंत में लघु होने का निर्देश किया गया है। कवि के काव्य में कहीं-कहीं दीर्घ अंत भी प्राप्त होता है।

उदाहरण—तालेहिं संरोहिं अण्णहिं असंसेहिं।
वहिरियदसासेहिं जयतूरघोसेहिं।
वहुवयणु वहुणयणु करपिहियपिहुगयणु। (मपु० ३।२०।६-८)

(१६) शिव (मात्रिक)—

प्रयोग—मपु० संधि ४२ (६) तथा जस० संधि १ (१०)।

इस छन्द में ११ मात्राएं होती हैं। छन्द प्रभाकर (पृ० ४४) में इसका लक्षण बतलाते हुए कहा गया है कि इसकी तीसरी, छठी तथा नवीं मात्रा लघु रहती है। अंत में सगण, रगण अथवा नगण में से कोई भी आ सकता है। कवि ने इस छंद के अंत में रगण ही रखा है।

उदाहरण—पाविऊण पट्टणं देवि तिप्पयाहिणं।
णंपि रायमंदिरं णिम्मिऊण णिब्भरं। (मपु० ४२।६।१-२)

(१७) उल्लाला (मात्रिक)—

प्रयोग—मपु० संधि २६ (५), ४० (१), ४२ (१२), ४८ (१), ५३ (१, ६) ५८ (५), ५६ (१७), ६७ (१-१०), ७२ (६), ८० (१), ८१ (१) तथा ६३ (१)।

---

1. णाय० पृ० ६०

यह १३ मात्राओं का छंद है। छंद प्रभाकर में दिये हुए इस छंद के लक्षण के अनुसार (पृ० ४६), इसके अंत में लघु-गुरु का कोई नियम नहीं है, तथापि ग्यारहवीं मात्रा लघु ही रहती है।

उदाहरण—तहिं जि पईहरथोरकर सद्दूलाइय जाय णर।
पत्तभोयभूमीभवेण वज्जजंघरायज्जवेण।
समहिलेण अच्छंतएण सुरतरुसिरि पेच्छंतएण। (मपु० २६।५।१-३)

(१८) हाकलि—

प्रयोग—मपु० संधि ४० (४)

यह छंद १४ मात्रा का है। छंद प्रभाकर के अनुसार इसमें तीन चतुष्कल के पश्चात् एक गुरु आना आवश्यक है। कवि के छन्द इस नियम के अनुरूप ही है।

उदाहरण—करिणं वसहं केसरिणं लच्छि दामं चंदमिणं।
झसजुय कुंभजुयं च वरं सरवरममलिणमयरहरं। (मपु० ४०।४।१-२)

(१९) विलासिनी—

इस छंद में १६ मात्राएं होती हैं। इसकी गण-योजना इस प्रकार है—३, ३, ४, ३, लघु-गुरु। ८ मात्राओं के पश्चात् सामान्यतः एक चतुष्कल रखा जाता है। पउम चरिउ में यह छंद दो स्थानों पर प्रयुक्त हुआ है (१७।१२, ४६।२)।

प्रयोग—मपु० संध ८ (१०), २३ (१), २८ (२७), ३४ (१०), ४१ (२), ४६ (७), ४७ (७), ५१ (३), ५३ (६), ५६ (८, १६), ६४ (४), ६५ (१), ६७ (१३, १५), ७० (१५), ७१ (१२, १३), ७२ (५), ७७ (८), ८६ (८), ८८ (११), तथा ९४ (१९)।

णाय० संधि ४ (१०) तथा ९ (१८)।

जस० संधि १ (१२-१४, १६) तथा २ (१, ३)।

उदाहरण—पवणुद्धुयधयमालाचवलं, हिमकुंदसमाणमुहाधवलं।
गायणगणगाइयजिणधवलं, सिद्धंतपढणकलयलमुहलं। (मपु० २३।१।५-६)

(२०) मदनावतार—

प्रयोग—मपु० संधि ३ (७), ३ (१६), ९ (६, १७), १४ (११), १५ (३), २७ (८), ४० (५), ४२ (२, ७, ८), ४८ (२१), ५२ (२२), ५३ (८), ६७ (१२), ६९ (५), ७५ (८), ७७ (१२), ७८ (१७), तथा ९४ (१७, २३)।

णाय० संधि ७ (१३) तथा ९ (२०)।

जस० संधि १ (१६), २ (१७), तथा ३ (१३, २७)।

यह २० मात्राओं का छंद है। इसकी गण-योजना ५, ५, ५, ५ है। कवि ने इसे दो रूपों में प्रयुक्त किया है। प्रथम रूप में दीर्घ-लघु-दीर्घ गण की चार

वार आवृत्ति मिलती है। दूसरे रूप में चारों गण दीर्घ-दीर्घ-लघु रहते हैं। दोनों में प्रथम तीन गणों के दीर्घ वर्णों के स्थान पर दो ह्रस्व भी प्राप्त होते हैं।

पउम चरिउ की संधि ३ (१), ६ (१२), २४ (२), ४६ (४, ६, १०) में इस छंद का प्रयोग हुआ है।

उदाहरण— (१) हारणीहारगुरसरितुसारप्पहो, अद्धयंदाहविद्द मविहाणिह्णहो।
गलियकरउयलनयकराणगंडत्थलो, अमरगिरिसिहरसंकासकुंभत्थलो।
(मपु० ६।१७।३-४)

(२) गुडघोयदेवंगणिवसणणियत्थेण, जलभरियदलपिहियभिंगारहत्थेण।
परिदिण्णवाराजलुद्धूअतावेण, सद्धम्मसब्भावसुप्पण्णभावेण।
(मपु० ६।६।३-४)

(२१) अज्ञात—

प्रयोग—मपु० संधि ५६ (६) तथा ६८ (७)।

इस छंद में दो पद हैं। प्रथम में १३ तथा द्वितीय में ७ मात्राएं हैं। इस प्रकार कुल २० मात्राएं हैं। प्रथम पद उल्लाला के समान है। अंत का गण अनिवार्यतः लघु ही रहता है।

उदाहरण— जहिं णरणाह वि होंति गय कालेण हय।
तहिं किं किज्जइ सिरिवरणु जिणतवचरणु।
किज्जइ काणणि पइसरिवि थिरु मणु धरिवि।
(मपु० ६८।७।१-३)

(२२) प्लवंगम—

प्रयोग—मपु० संधि ४६ (३)।

इस छंद में ८, १३ की यति से कुल २१ मात्राएं हैं। छंद प्रभाकर (पृ० ५७) में वर्णित इस छंद के लक्षण के अनुसार इसके आदि में गुरु तथा अंत में जगण के साथ गुरु होना चाहिए, यथा—"।ऽ।ऽ" परन्तु कवि ने कहीं-कहीं आदि में लघु मात्रा रख दी है। संभव है ग्रंथ के प्राचीन प्रतिलिपिकारों की असावधानी से यह मात्रा-भेद हो गया हो।

उदाहरण—गलियदाणचलजललवलोलिरभिंगयं,
पेच्छइ विसालच्छि पमत्तमयंगयं।
इट्ठगिट्ठतणुफंसणकंटइयंगयं,
वसहममलथलकमलपसाहियसिंगयं। (मपु० ४६।३।१-४)

(२३) अज्ञात—

प्रयोग—मपु० संधि ५३ (८, ६, १२) तथा ५६ (१०, १४-१५), ६७ (११)।

यह २१ मात्राओं का छंद है। इसमें १२, ६ की यति प्राप्त होती है। अंतिम गण की सभी मात्राएं लघु (नगण) रहती हैं।

उदाहरण—पुज्जिवि वंदिवि तिजगगुरुणिवराणियहि
खेयर विसहर सुररमणिसंमाणियहि ।
तणयालोयणतुट्ठियहि तुच्छोयरिहि
आणिवि देउ समप्पियउ करि मायरिहि । (मपु० ५३।८।१-२)

(२४) रास—

प्रयोग—मपु० संधि ४६ (१०) ।

यह छंद २२ मात्राओं का है । इसमें ८, ८, ६ पर यति होती है । अंत में गुरु अवश्य ही रहता है । यद्यपि कवि ने छंद का नाम नहीं दिया, परन्तु छंद प्रभाकर (पृ० ५६) में दिये हुए रास के लक्षण इस छंद से मिलते-जुलते हैं । अतः इस छन्द का रास नाम उपयुक्त होगा ।

उदाहरण— लोयालोयविलोयणणाणं सिरिणाहं
थुणइ मियंको अक्को सक्को मुणिणाहं ।
ससहरकंतं पयडियदंतं कंकालं
हत्थे नूलं खंडकवालं करवालं । (मपु० ४६।१०।१-२)

(१५) जग—

प्रयोग—मपु० संधि १३ (६) तथा ५६ (४) । जस० १ (१५)

इस छंद में १०, ८, ५ की यति से २३ मात्राएँ प्राप्त होती हैं । इनके अंत में क्रम से भगण, भगण तथा नगण हैं । इस प्रकार इसके दोनों पदों का तुक क । ख, घ । ङ तथा ग । च है ।

यद्यपि कवि ने इसके नाम का निर्देश नहीं किया है, परन्तु छंद प्रभाकर (पृ० ६२ में रौद्राक समूह के छंदों में जग छंद के लक्षण इसके अनुरूप हैं । केवल अंतर इतना है कि जग में अंत में नन्द (दीर्घ-गुरु) रखने का विधान है और कवि ने उसके स्थान पर तीन ह्रस्व रखे हैं । अन्य नाम के अभाव में इसे जग कहना ही उपयुक्त लगता है ।

उदाहरण—अवर वि सिरिदामइं दिट्ठहि सोम्मइं होइयइं
णहि पंडुरतंबइं ससिरविबिंबइं जोइयइं ।
दुइ मीण रईणइ दुइ मंगलघड सरयसरु
जलणिहि जलभीसणु सेही रासणु सक्कघरु । (मपु० ५९।४।१-४)

(२६) रोला—

प्रयोग—संधि ४१ (२), ४८ (६)

इस छंद के प्रथम चरण में ११ तथा द्वितीय में १३ मात्राएं हैं । इस प्रकार यह छंद रोला के लक्षणों की पूर्ति करता है । इसके साथ ही यह वर्णवृत्त भी जान पड़ता है, क्योंकि इसमें नियमित रूप से प्रथम चरण में ८ तथा द्वितीय में ९ वर्ण

प्राप्त होते हैं। इसकी गणयोजना इस प्रकार है—ज स ज स य ल ग। छंद प्रभाकर (पृ० १८३) में पृथ्वी नामक वर्णवृत्त का भी यही लक्षण है।
उदाहरण—तहिं विजयणंदिरे णिवणिहेलणे सुंदरे।
णयंगि सियणेत्तिया रयणमंचए सुत्तिया।
णिएइ छउओएरी सिविणए इमे सुंदरी। (मपु० ४८।६।१-३)

(२७) अज्ञात—
प्रयोग—मपु० संधि ५९ (२)
इस छंद में दो पद मिलते हैं। प्रत्येक पद में ८, ८, ८ की यति के अनुसार कुल २४ मात्राएँ हैं। अंत में भगण नियम से प्राप्त होता है।
उदाहरण—
धादइसंडइ पुव्वदिसायलि पुव्वविदेहइ अंकुरपल्लवसोहियपायवि माहवगेहइ।
सीयातीरिणिदाहिणतीरइ वच्छयदेसइ पुरिहिसुसीमहि दसरहुराणउजयसिरि सेसइ।
(मपु० ५९।२।१-२)

(२८) अज्ञात—
प्रयोग—मपु० संधि १३ (१०)
इस छंद के प्रथम चरण में १६ तथा द्वितीय में ८ मात्राएँ प्राप्त होती हैं। इसके विषय में विशेष बात यह है कि कवि ने इसकी रचना पद्धड़िया (क्रम सं० १०) की सहायता से की है। छंद का प्रथम चरण पद्धड़िया का है तथा द्वितीय उसका अर्द्ध भाग है।
पउम चरिउ (१७।८) में भी ऐसा ही छंद है, परन्तु उसके पदों का क्रम हमारे कवि के छंद से विपरीत है:
उदाहरण— पुव्वावरेसु परिसंठियाइं वइरट्ठियाइं।
वेयड्ढगिरिहि ओइल्लयाइं सुयणिल्लयाइं।
चंडाइ मेच्छखंडाइं ताइं दोसाहियाइं।
(मपु० १३।१०।२-४)

(२९) अज्ञात—
प्रयोग—मपु० संधि ५९ (१)।
इस छंद के दोनों चरणों में क्रमशः १६ तथा १० मात्राएँ हैं। अंत में दीर्घ है। छंद प्रभाकर (पृ० ६६) में महावतारी समूह के विष्णुपद छंद के लक्षण प्रस्तुत छंद के अनुरूप जान पड़ते हैं।
उदाहरण— लच्छीरामालिंगियवच्छं उण्णयसिरिवच्छं।
दिव्वझुणि छत्तत्तयवंतं कंतं भयवंतं।
(मपु० ५९।१।३-४)

(३०) अज्ञात—

प्रयोग—मपु० २ (१३), ५६ (१६) तथा ७६ (७)।

इस छंद में दो पद हैं। प्रत्येक पद में ७, ६, १२ की यति से कुल २८ मात्राएं हैं। अंत में अधिकतर रगण ही प्राप्त होता है।

उदाहरण—ता जरमरणसद्द आयण्णिवि मण्णिवि तणु व महियलं।
देवकुमारणामे सुइ अप्पिवि सतुरंगं समयगलं। (मपु० ५६।१६।१-२)

(३१) शोकहर—

प्रयोग—मपु० ४१ (६) तथा ५२ (२५)।

इस छंद में ८, ८, ८, ६ पर यति है। इस प्रकार कुल ३० मात्राएँ हैं। अंत में दीर्घ मिलता है। इसका लक्षण छंद प्रभाकर (पृ० ७३) में महातैथिक समूह के अंतर्गत वर्णित है।

उदाहरण—असहंतेणं रिउणा दिण्णं ससवणसूलं दुव्वयणं।
काउं वयणं डसियाहरणं भूभंगुरतविरणयणं। (मपु० ५२।२५।३-४)

(३२) अज्ञात—

प्रयोग—मपु० २३ (२)

इस छंद में दो पद होते हैं, परन्तु पूरे कड़वक में मात्राओं का क्रम छंद प्रति छंद परिवर्तित हो जाता है। जैसे प्रथम छंद के दोनों चरणों में पृथक्-पृथक् १६, ८, ८ के विराम से ३२ मात्राएँ प्राप्त होती हैं, किन्तु दूसरे छंद में १४, ८, ८ के विराम से ३० ही मात्राएँ हैं। इसी प्रकार आगे के छंदों में भी कुछ न कुछ अन्तर है। प्रत्येक विराम के अंत में सगण अथवा नगण है। इस प्रकार आन्तरिक तुक का क्रम यह बनता है—क। ख। ग, घ। ङ। च

उदाहरण -(१) सेयत्तं णिज्जियसियसरयं णिवसियविरयं वारियणरयं।
पत्ता राया तं जिणहरयं दुक्कियहरयं सुभवियवरयं।
(२) दिट्ठो लिहिओ तेहिं पडो झसइंघणडो मणि पच्चियओ।
तं पेच्छिवि अहिलसियसिवो भणु को ण णिवो रोमंचियओ।
(मपु० २३।२।३-६)

(३३) सुधी—

प्रयोग—मपु० ४० (१२) तथा ४५ (६)।

यह वर्णवृत्त है। इसमें एक जगण के साथ गुरु मिलता है। छंद प्रभाकर (पृ० ११६) में प्रतिष्ठा समूह के अंतर्गत सुधी छंद का लक्षण भी यही है। अतः छंद का यही नाम दिया जाता है।

उदाहरण—सुहावहं गईवहं।
रविप्पहं गुणप्पहं।
पिरं थिरं सुयं सुयं। (मपु० ४५।८।१-३)

(३४) अज्ञात—

प्रयोग—मपु० ८५ (१६)

यह ५ मात्राओं का छंद है। अन्त में लघु रहता है।

उदाहरण—(१) जलु गलइ झलझलइ।
दरिभरइ सरिसरइ। (मपु० ८५।१६।३-४)
(२) तट्टाइं णट्टाइं।
कायरइं वणयरइं। (मपु० ८५।१६।२३-२४)

(३५) यम—

प्रयोग—मपु० २ (३)

छंद प्रभाकर (पृ० १२१) के अनुसार प्रस्तुत छंद के लक्षण सुप्रतिष्ठा समूह के यम नामक छंद के अनुरूप हैं। इसमें नगण के साथ दो लघु रखने का नियम है। कवि ने इसी कड़वक की २६ पंक्तियों के पश्चात् इस छंद का दुगुना कर दिया है।

उदाहरण—जय सुमण जय गयण—
चुयसुगण— पहगमण।
जय चलियचमररुह जय ललियसुरकुरुह। (मपु० २।३।२८-३०)

(३६) मालती—

प्रयोग—मपु० संधि ८६ (६) तथा णाय० ६ (२१)।

षट्वर्ण के इस छंद में दो जगण का क्रम होता है। गणना करने से इसमें नियमित रूप से ८ मात्राएं प्राप्त होती हैं। अतः यह मात्रिक भी है। छंद प्रभाकर (पृ० १२२) में गायत्री समूह के मालती छंद का लक्षण ठीक इसके अनुरूप है, इस कारण यही नाम उपयुक्त प्रतीत होता है।

उदाहरण—मउल्लियगंडु पसारियसुंडु।
सरासणवंसु सयापियपंसु। (मपु० ८६।६।१-२)

(३७) समानिका—

प्रयोग—मपु० संधि ४८ (८) तथा ६४ (१८)

इसके प्रत्येक पद में ७ वर्ण होते हैं। प्रति चरण रगण, जगण तथा एक गुरु के द्वारा रचा जाता है।

उदाहरण—सव्वदोसवज्जिओ सव्वदेवपुज्जिओ।
सव्ववाइदूसणो सव्वलोयभूसणो।
सव्वकम्मणासणो सव्वदिट्ठिसासणो। (मपु० ६४।१८।१-३)

(३८) सोमराजी—

प्रयोग—मपु० ६ (६), २१ (६), २२ (६), २६ (८), ३८ (१२), ४५ (११), ४७(१,८), ५२ (१८), ६३ (८), ७३ (६), ६१ (१२), ६४ (१४) तथा ६५ (१)।
णाय० २ (३), ६ (१३) तथा ६ (१७)।

इस छंद की रचना दो यगण द्वारा होती है। इसका अन्य नाम छंजनारो भी है।

उदाहरण—अणिंदो गइंदो विसिदो मइंदो।
महासोक्खखाणी सई माहवाणी।
भमंतालिसामं णवं पुप्फदामं। (मपु० ६४।१४।१-२)

(३६) अज्ञात—

प्रयोग—मपु० १४ (३)।

इस छंद के प्रत्येक चरण में ६ वर्ण तथा रगण और यगण है।

उदाहरण—छड्डियावलेवो इच्छियंघिसेवो।
रिद्धिवुद्धिवंतो आगओ तुरंतो।
भूयभत्तिकामो तग्गिरिंदणामो। (मपु० १४।३।३-५)

(४०) प्रमाणिका—

प्रयोग - मपु० ६ (३), २३ (२१), २५ (८), २८ (१७), ४४ (१), ४५ (१०) तथा ५६ (३)
णाय० २ (५)।

इस छंद के प्रत्येक चरण में ८ वर्ण होते हैं। इसमें जगण तथा रगण के पश्चात् लघु और गुरु रहता है।

पउम चरिउ में यह छंद अनेक वार प्रयुक्त हुआ है। रासो में यही छंद नाराचा तथा अर्द्ध नराच के नाम से है।[1]

उदाहरण—ससिप्पहाणुजम्मिणा भवाणुबद्धघम्मिणा।
णिसायरो दिवाकरो करीसरो सरोवरो। (मपु० ६।३।३-४)

(४१) मल्लिका—

प्रयोग—मपु० ५३ (३, ४), ६६ (२०) तथा ७८ (१५)।

इसमें ८ वर्ण होते हैं। इसके गणों का क्रम इस प्रकार है- रगण, जगण, गुरु तथा लघु। मल्लिका के लक्षण छंद प्रभाकर (पृ० १२५) में प्राप्त होते हैं। इसका अन्य नाम समानी भी है।

उदाहरण—माणसे असक्कयाइं पंच पंच एक्कयाइं।
वुज्झिउं सुयंगयाइं ताविउं णियंगयाइं।
इंदियाइं पीडिऊण दुव्विकयाइं साडिऊण। (मपु० ५३।३।१-३)

(४२) अज्ञात—

प्रयोग—मपु० ६४ (६)।

इसके प्रति चरण में ८ वर्ण तथा जगण, नगण, लघु तथा गुरु होते हैं।

---

(१) चंद बरदायी, विपिन विहारी त्रिवेदी, पृ० २७१ तथा २७३

उदाहरण—परं रिसहचरियं महोपसमभरियं।
जिणाकिमवि गहियं गणे अहव महियं।
ण सो पवड़ गहिरि णरो णरयविवरि। (मपु० ६४।६।१४-१६)

(४३) रतिपद—

प्रयोग—मपु० ७८ (६)

इस छंद के प्रत्येक चरण में दो नगण तथा एक सगण होता है। इस प्रकार इसमें ९ वर्ण होते हैं। छंद प्रभाकर (पृ० १३१) में इसका लक्षण प्राप्त होता है। इसके अन्य नाम कमला और कुमुद भी हैं।

उदाहरण—थरहरियहियलो धयपिहियणहयलो।
करकलियपहरणो पवरबलजियरणो।
दढकढिणथिरकरो पडिगुहउभयहरो। (मपु० ७८।६।९-११)

(४४) उपेन्द्रवज्रा—

प्रयोग—मपु० ४५ (१)।

यह ११ वर्णों का छंद है। इसकी गण-योजना इस प्रकार है-जगण, तगण, जगण, दो गुरु। संस्कृत के प्रसिद्ध वर्णवृत्तों में इसकी गणना की जाती है। कवि ने इस छंद का केवल एक स्थान पर प्रयोग किया है।

उदाहरण—खगिंददेविंदमुणिंदधेयं णमामि चंदप्पहणामधेयं।
भणामि तस्सेव पुरो पुराणं गणेसगीयं पवरं पुरा णं।
(मपु० ४५।१।१५-१६)

(४५) अज्ञात—

प्रयोग—मपु० ३ (५)।

इस छंद के दो चरणों में से प्रथम में केवल रगण तथा द्वितीय में जगण, रगण, लघु तथा गुरु है। इस प्रकार ३ तथा ८ के योग से कुल ११ वर्ण प्राप्त होते हैं। यदि इस छंद के दोनों चरण मिला दिये जायें तो वह श्येनिका बन जायेगा। श्येनिका के लक्षण छन्द प्रभाकर (पृ० १३७) में प्राप्त होते हैं। कवि ने इसका केवल एक ही स्थान पर प्रयोग किया है।

उदाहरण पत्तिया सणाहणेहरत्तिया।
सुत्तिया णिमीलियच्छिवत्तिया। (मपु० ३।५।१-२)

(४६) अज्ञात—

प्रयोग—मपु० ८७ (३)।

इस छन्द में भी दो चरण हैं। प्रथम में रगण, जगण तथा गुरु मिलता है। द्वितीय में जगण के साथ केवल एक गुरु है। इस प्रकार दोनों चरणों में ११ वर्ण होते हैं।

उदाहरण—पेसिया सणंदणा ससंदणा।
धाविया सवाहणा ससाहणा। (मपु० ८७।३।३-४)

(४७) मोत्तियदाम—

प्रयोग—मपु० १७ (१५), २६ (४), ४३ (१-१४)।
णाय० ६ (१६)।

छन्द प्रभाकर (पृ० १५२) के अनुसार इसमें ४ जगण होते हैं।

उदाहरण—असंक खगंक भसंक विपंक जसंसुपसाहियपुण्णससंक।
मिलंति मिलेप्पिणु हत्थि धरंति धरेप्पिणु देह धडेवि पडंति।
(मपु० १७।१५।६-७)

(४८) भुजंगप्रयात—

प्रयोग—मपु० ८ (२), १२ (४, ६), १४ (६), १७ (१२), २७ (१४), ४२ (११), ४६ (४, ६), ४७ (६), ५३ (४), ७३ (१२), ७१ (१०), ८३ (५), ६४ (१५), ६६ (८) तथा ६७ (७)।

णाय० २ (११)।
जस० १ (१८) तथा ४ (१७)।

इस छन्द ४ में यगण होते हैं। कवि ने अपनी तीनो रचनाओं में इस छंद का प्रयोग किया है।

उदाहरण—अणब्भत्यसत्या महामंदमेहा पयंपंति एवं समोरुद्धदेहा।
ण ण्हाणं ण फुल्लं ण भूसा ण वासं पहू पाणिपंलेइणाहार गासं।
(मपु० ८।२।५-६)

(४९) स्रग्विणी—

प्रयोग—मपु० १ (१०), ८ (१४), २४ (१३), २६ (१), तथा ५६ (५)।
जस० ३ (३)।

इस छन्द के प्रत्येक चरण में ४ रगण होते हैं। इस प्रकार इसमें १२ वर्ण होते हैं। मपु० के आरम्भ में ही कवि ने इस छन्द का प्रयोग गोमुख यक्ष तथा पद्मावती यक्षिणी के आवाहन के लिये किया है। कुछ पंक्तियां देखिये—

चारणावासकेलाससेलासिओ किण्णरीवेणुवीणाझुणीतोसिओ।
सामवण्णो सउण्णो पसण्णो मुहो आइदेवाण देवाहिभत्तो वुहो।
गोम्मुहो संमुहो होउ जक्खो महं चिंतयंतस्स एयं अमेयं महं।
(मपु० १।१०।१-२)

(५०) अज्ञात—

प्रयोग— मपु० ३८ (१६) तथा जस० ३ (१६)।

इस छन्द की परीक्षा करने पर ज्ञात होता है कि इसमें १२ वर्ण अथवा ४ गण इस क्रम से हैं—

जगण, रगण, जगण, रगण।

उदाहरण—

णमो जिणा कयंतपासणासणा णमो विसुद्ध बुद्ध सिद्धसासणा।
णमो कसायसोयरोयवज्जिया णमो फणिदचंदविंदपुज्जिया।

(मपु० ३८।१६।१-२)

(५१) चन्द्ररेखा—

प्रयोग—मपु० ५ (१)।

इस छन्द में १३ वर्ण हैं। इसकी गण-योजना इस प्रकार है—नगण, सगण, दो रगण तथा एक गुरु। इस मनोहर छन्द की कुछ पंक्तियाँ देखिए—

जसवइ जसेणाहियं सोहमाणा णवणलिणहंसी व णिद्दाय्माणा।
गुरवहुपयालत्तयालित्ततीरं णिवडियदरीरंधगंभीरणीरं।

(मपु० ५।१।५-६)

(५२) अज्ञात—

प्रयोग—मपु० ८३ (१०)।

इस छंद की परीक्षा करने पर ज्ञात होता है कि इसमें प्रति चरण १८ मात्राएँ हैं। अधिकांश चरण १४ वर्ण वाले हैं।

उदाहरण—सीयलसगाहगयथाहसलिलानि कंजरसलालसचलालिकुलकालि।
मत्तजलिहत्थिकरभीयभसमालि वारिपेरंतसोहंतणवणालि।

(मपु० ८३।१०।१-२)

(५३) चामर—

प्रयोग—मपु० ३४ (६), ५३ (५) तथा ८८ (१४)।

यह १५ वर्ण का प्रसिद्ध छंद है। इसकी गण-योजना इस प्रकार है—रगण जगण, रगण, जगण, रगण। कुछ पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं—

तेण दुंछियो हरी नृपिडमुंडखंडणे किं वहूहि किकरेहि मारिएहि भंडणे।
होइ भू हए णिवे णवुज्झसे किमेरिसं एहि कट्ठ घिट्ठ दुट्ठपेच्छमज्झपोरिसं।

(मपु० ८८।१४।३-४)

(५४) मालिनी—

प्रयोग— मपु० ४१ (८)।

इसकी परीक्षा करने पर ज्ञात होता है कि इसमें १५ वर्ण, २२ मात्राएं हैं।

इसकी गण-योजना इस प्रकार है—दो नगण, मगण तथा दो यगण। रासो (स० ४५।११८, १२०) में भी यह छंद प्रयुक्त हुआ है। इसका अन्य नाम मंजुमालिनी भी है। कवि की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

कयविहिपरियम्मं छिण्णदुक्कम्मजम्मं   सइं सिरिजरहंतं तम्मि आरोहिउं तं।
घिवइ दसदिसासुं सेयभिंगारणीरं   कुणइ सुरवरिंदो सिद्धमंताहियारं।
(मपु० ४१।८।१-२)

(५५) अज्ञात—
प्रयोग—मपु० ४२ (९)।
इस छंद में १५ वर्ण तथा ५ रगण प्राप्त होते हैं। देखिए—
आसणाणं पयंपेण पायालए पण्णया, कंपिया देवलोयम्मि देवा वि णिद्दण्णया।
माणवा माणवाणं णिवासाउ संचल्लिया, वाहणोहेहिं खं ढंकियं मेइणीडोल्लिया।
(मपु० ४२।९।८-९)

(५६) चंचला—
प्रयोग—जस० ३ (२, १५)।
इस छंद में १६ वर्ण तथा र, ज, र, ज, र, ल की गण-योजना है।
इसमें कवि के सरिता वर्णन का कुछ अंश प्रस्तुत है—
उज्जलम्मि कोमलम्मि तत्थ सच्छविच्छुलम्मि
संचरंतु हं तरंतु मीणमंडलं गिलंतु।
ताउ माउपण्णएण दंतपंतिभिण्णएण
पुव्वयालि मे हएण तम्मि रण्णए मएण।   (जस० ३।२।३-४)

(५७) अज्ञात—
प्रयोग—मपु० ७२ (१)।

इस छंद में १८ वर्ण तथा ६ रगण हैं। इसमें कवि ने सीताहरण के लिये जाते हुए रावण का वर्णन किया है। कुछ पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं—

कामबाणोहविद्धेण मुद्धेण णो किं पि आलोइयं
ता विमाणं विमाणे णहे राइणा तेण संचोइयं।
तारयाऊरियायासंकासवद्धुज्जलुल्लोवयं
हेमघंटाविसट्टंतटंकारसंतासियासागयं।   (मपु० ७२।१।३-६)

(५८) अज्ञात—
प्रयोग—मपु० ३ (१४)।
इस छंद में २४ वर्ण हैं तथा रगण-जगण के क्रम की ४ बार आवृत्ति की गई है। इसमें जिन-जन्म के उल्लास का वर्णन कवि इस प्रकार करता है—
ता हयाइं भेरिझल्लरीमुइंगसंखतालकाहलाइं वज्जयाइं।
खिंखिसेहिं पाणिपायकुंचियाइं णच्चियाइं वामणाइं खुज्जयाइं।
(मपु० ३।१४।१-२)

(५६) दंडक—

प्रयोग—मपु० १४ (२, ७), २० (५), ८८ (१३) तथा ८६ (५)

मपु० के पाँच दंडक छंदों के अतिरिक्त कवि के किसी अन्य ग्रंथ में दंडक छंद नहीं हैं। प्रत्येक छंद की रचना-पद्धति स्वतंत्र है, अतः उनका पृथक्-पृथक् परिचय देना उचित होगा।

१—कवि ने मपु० १४ (२) में पर्वत-गुहा के कपाट खुलने का वर्णन किया है। इस छंद में गणों का निश्चित नियम नहीं है। संपूर्ण छंद में चार चरण हैं, जिनमें ४७ से ५८ तक वर्ण हैं। एक पंक्ति देखिए—

हारवमुयंतसवरीपुलिंदसित्तुदीसमाणकेसरिकिसोरणहकुलिसकोडिदारियकुरंगरुहि-
रंभवाहदुग्गं जायं गुहादुवारं। (मपु० १४।८।६)

२—मप० १४ (७) के दंडक छंद में कवि सेना के प्रयाण का वर्णन करता है। इसमे ८ चरण हैं। इन चरणों में ३६ से ४५ तक वर्ण हैं। प्रथम चार चरणों के प्रारम्भ में भगण तथा जगण की दो वार आवृत्ति मिलती है। शेप गणों में समानता नहीं है। छंद की एक पंक्ति प्रस्तुत है—

जं हारदोरकेऊरकडयकंचीकलावमउडावलंबिमंदारदामसोमंतजक्खजक्खीविमाणछण्णं।
(मपु० १४।७।५)

३—मपु० २० (५) में गंधिल विषय का वर्णन है। इस दंडक छंद में १० चरण हैं, जिनमें ४७ से ७० वर्ण हैं। अधिकांश चरणों में प्रारंभिक गण तगण, जगण तथा नगण हैं, अन्य गणों की व्यवस्था पृथक् है।

उदाहरण—जो पारियायचंपयकलंब मुन्नकुंदकुंदमंदारसारसेरिधगंध गुमुगुमिय-महुयरालीमिलंत वयमोरकीरकलहंसकुररकारंडकोइलारावरम्मो। (मपु० २०।५।१)

४—मपु० ८८ (१३) में २ नगण तथा १०-११ रगण प्राप्त होते हैं। पउम चरिउ (४०।१७ तथा ५१।२) में भी यही दंडक है। छंदप्रभाकर (पृ० २१०) के अनुसार इसमें व्याल एवं जीमूत दोनों दंडक छंदों के लक्षण प्राप्त होते हैं।

उदाहरण—पलयघरवारणी संगया खग्गिणी पासिणी चक्किणी सूलिणी हूलणी मुंडमालाहरी कालकावालिणी। (मपु० ८८।१३।४)

५—मपु० ८६ (५) के दंडक छन्द में १२ चरण हैं। इसके ६ चरणों तक २ नगण, १० से १३ तक तगण तथा अंत में २ गुरु मिलते हैं। १० वीं पंक्ति में २ नगण तथा १५ रगण हैं तथा अन्त में २ नगण के साथ विभिन्न गण हैं। संभवतः कवि ने छन्द के अंतर्गत जीमूत शब्द रखकर इस दंडक के नाम की ओर संकेत किया है।

उदाहरण—विणयपणयसीसो सुरेसो गओ वंदिउं देवदेवो अतावो असाओ महाणीलजीमूयवण्णो पसण्णो। (मपु० ८६।५।३)

१—कड़वक के अंत के घत्ता छंद

अपभ्रंश काव्यों में सामान्यतः कड़वक के अंत में एक घत्ता होता है। प्रत्येक संधि के आरम्भ में जो ध्रुवक होता है, उसी छन्द में संपूर्ण संधि के घत्ता रचे जाते हैं। इस प्रकार ध्रुवक संधि विशेष के घत्ता का आदर्श छन्द होता है।

पिंगल के नियमों के अनुसार घत्ता छन्दों का निर्णय करना कठिन है। इसका कारण यह है कि उसके पाद की अंतिम मात्राएं कहीं लघु और कहीं दीर्घ मानी जाती जाती हैं। इस प्रकार उनमें एक मात्रा का अंतर भी छन्द में परिवर्तन उपस्थित कर देता है। डॉ० भायाणी ने पउम चरिउ के घत्ता छन्दों की समीक्षा करते हुए इस प्रश्न पर विस्तार से विचार किया है।[1]

कवि ने घत्ता के लिये चतुष्पदी तथा षट्पदी छन्दों का प्रयोग किया है। चतुष्पदी के अंतर्गत उसके सर्वसमा, अंतरसमा आदि भेद भी प्राप्त होते हैं।

कवि की रचनाओं में निम्नलिखित प्रकार के घत्ता छन्द प्राप्त होते हैं। नाम के अभाव में उनकी मात्रा गणना का यथास्थान निर्देश किया गया है।

(६०) पाद-योजना ८+१४

प्रयोग-मपु० संधि ५३

यह अंतरसमा चतुष्पदी है। पउम चरिउ की २५,२६ तथा ५३ संधियों में भी यही घत्ता है।

उदाहरण—तिह हउं भासमि सुणि सेणिय किं सिरिगावें।
जिणगुणचिंतइ चंडालु वि मुच्चइ पावें॥
(मपु० ५३।१।१८-१९)

(६१) पाद-योजना ९+९

प्रयोग-मपु० संधि ६७,८९

यह सर्वसमा चतुष्पदी है। स्वयंभू छन्दस् (८।६) में इसका नाम धुवअ बतलाया गया है। यह घत्ता पउम चरिउ संधि ३३ में भी प्राप्त होता है।

उदाहरण—जियकूरारिणा वसुमइहारिणा।
णेमी सीरिणा णविवि मुरारिणा। (मपु० ८९।६)

(६२) पाद-योजना ९+१२

प्रयोग—मपु० संधि ५१,९३,९४,९६ तथा १०१

यह अंतरसमा चतुष्पदी है।

उदाहरण—तहिं पोयणणामु णयरु अत्थि विश्थिण्णउं।
सुरलोएं णाइ धरिणिहि पाहुडु दिण्णउं। (मपु० ९३।२)

---

(१) पउम चरिउ, पृ० ७८-९२

(६३) पाद-योजना ६+१३

प्रयोग-मपु० संधि ११,४८ तथा ६१

यह घत्ता अंतरसमा चतुष्पदी है।

उदाहरण—आसीणणिवासु उग्घोसियमंगलरवहु।
णवजोव्वणि जंति बाल सयंवरमंडवहु। (मपु० ६१।४)

(६४) पाद-योजना ६+१४

प्रयोग-मपु० संधि १५,४२, ६६, ७२, ७४, ७६, ७६, ८१ तथा ८५।
णाय० संधि ३

यह अंतरसमा चतुष्पदी है। स्वयंभू छन्दस् (८।२५) में इसे प्रथम घत्ता कहा गया है।

उदाहरण—एवं भणंत गय ते हरिसें कहिं मि ण माइय।
णयरहु णीसरिवि जउणाणइ झत्ति पराइय। (मपु० ८५।१)

(६५) पाद-योजना ११+१२

प्रयोग-मपु० संधि ६, ३३, ५०, ६६, ८३, ८७, ६८।
णाय० संधि ७

उदाहरण—हा समुद्दविजयंक हा धारण हा पूरण।
थिमियमहोयहिराय हा हा अचल अकंपण। (मपु० ८७।६)

यह अंतरसमा चतुष्पदी है।

(६६) पाद-योजना ११+१४

प्रयोग—मपु० संधि ८६

यह घत्ता अंतरसमा चतुष्पदी है। इसके प्रथम और तृतीय पाद का अंत गुरु+लघु से तथा द्वितीय और चतुर्थ का गुरु+दो लघु से होता है। छन्द के विषम चरण, दोहे के सम चरणों की भाँति होते हैं।

उदाहरण – जाणिवि जायवणाहु णियगोत्तहु मंगलगारउ।
वन्दिउ नृवणियरेहिं दामोयरु वइरिवियारउ। (मपु० ८६।६)

(६७) पाद-योजना १२+६

प्रयोग—मपु० सन्धि ६५

इस अंतरसमा चतुष्पदी घत्ता का उदाहरण देखिए—
देविइ सुत्तविउद्धिइ अक्खिउ णरवइहि।
तेण वि फलु विहसेप्पिणु भासिउ तहि सइहि। (मपु० ६५।३)

(६८) पाद-योजना १२+१२

प्रयोग—मपु० सन्धि ३१, ३५, ६२, ८२ तथा ६७।
णाय० सन्धि ६।

इस सर्वसमा चतुष्पदी को, छन्द प्रभाकर (पृ० ६४) के आधार पर, डॉ० हीरालाल जैन ने दिग्पाल नाम दिया है। (देखिए-णाय० भूमिका पृ० ६२)

उदाहरण—एहु भरहु अवलोयहि इहु हिमवन्तु विवेयहि।
एह दिव्व गंगाणइ एह सिंधु मंथरगइ। (मपु० ६२।७)

(६९) पाद-योजना १३+१२

प्रयोग—मपु० संधि ६४

उदाहरण—दीविपहिल्लइ पविउलइ भरहि देसु कुरुजंगलु।
गयउरि महिवइ तहिं वसइ सूरसेणु जगमंगलु। (मपु० ६४।२)

(७०) पाद-योजना १३+१३

प्रयोग—मपु० सन्धि ४७

इस सर्वसमा चतुष्पदी घत्ता के प्रत्येक चरण का अंत रगण से होता है।

उदाहरण—ता धयवीईराइयं विउलपत्तपच्छाइयं।
पुंडरीयमालाधरं सोहइ गयणंगणसरं। (मपु० ४७।११)

(७१) पाद-योजना १३+१५

प्रयोग—मपु० सन्धि ४९

यह अंतरसमा चतुष्पदी घत्ता है।

उदाहरण—भयभीयइं महिणिवडियइं जीय देव सविणउ जंपंति।
जासु पयावें तावियइं परणरणाहसयइं कंपंति। (मपु० ४९।२)

(७२) पाद-योजना १३+१६

प्रयोग—मपु० सन्धि १३, १७, २०, २२, २६ तथा ६८।
णाय० सन्धि ९।

यह घत्ता दोहा के विषम तथा वदनक के सम चरणों के योग से बनता है। छन्द प्रभाकर के अनुसार इस छन्द का नाम चुलियाला है।

उदाहरण—जो महिमाहरु पुरिसहरि महिमावन्तु भुवणि विक्खायउ।
जो अहिमाणवन्तु सुयणु जो रिउमाणवन्तु संजायउ।
(मपु० २०।८)

(७३) पाद-योजना १५+१२

प्रयोग—मपु० सन्धि ९, १६ १८, २३, २८, ३०, ३५, ३७, ३८, ४१, ४३, ४६, ५४, ७०, ७३, ९०, ९२, १००, १०२।

इस घत्ता के विषम चरण पारणक छन्द के अनुरूप होते हैं।

उदाहरण—जहिं चंदसाल चंदकुहय चंदकंतिजलु मेल्लइ।
कामिणिपयहउ असोयतरु उव्वणि वियसइ फुल्लइ। (मपु० ७०।३)

(७४) पाद-योजना १५ + १३

प्रयोग—मपु० सन्धि २, ४, १०, ५७, ६१, ७५ तथा ८० ।

णाय० सन्धि १ । जस० सन्धि ३ ।

उदाहरण—इय पुरणारीयणु णीसरिउ पयमंजीररावमुहलु ।

परिभमइ रमइ पहि चिक्कमइ महुणीसासगमियभसलु ।

(णाय० १।१०)

(७५) पाद-योजना १५+१५

प्रयोग—मपु० संधि ३२ तथा ८८ ।

णाय० संधि ५ ।

यह पारणक छंद का सर्वसमा चपुष्पदी घत्ता है। यह पउम चरिउ की ६, १८, २७, ४८ तथा ७४ संधियों में भी प्राप्त होता है।

उदाहरण—अवलोइवि सुंदरि सुंदरिउ वणि णट्ठउ खणि छ वि कुंयरिउ ।

णं मुणिवरवित्तिहि दुग्गइउ णं सुकइमइहि जडकइमइउ ।

(मपु० ३२।१३)

(७६) पाद-योजना १५+१९

प्रयोग—मपु० संधि ७७

यह घत्ता अंतरसमा चतुष्पदी है।

उदाहरण—वणु भंजिवि पुरवरु णिद्दहिवि हणुइ णियत्तइ जयसिरिवामें ।

अज्ज वि किं णावइ खयरवइ पुच्छिउ एम विहीसणु रामें ।

(मपु० ७७।१)

षट्पदी घत्ता—

(तुकान्त क ख, घ ङ, ग च ।

(७७) पाद-योजना ६ + ६ + १२

प्रयोग--मपु० संधि ५ तथा २७ ।

जस० संधि २

उदाहरण—आलोयणु संभासणु दाणु संगु वीसामु वि ।

पियमेलणु रइकीलणु जं महु तं णउ कासु वि ।

(जस० २।५)

(७८) पाद-योजना ६+८+१२

प्रयोग—मपु० संधि २६, ३९, ५६, ५८, ६३ तथा ८४ ।

उदाहरण—णियगेहिणि वम्महवाहिणि देवि सुलोयण जेही ।

मंदाइणि जणसुहदाइणि दीसइ राएं तेही ।

(मपु० २६।७)

(७९) पाद-योजना ६+८+१३

प्रयोग—मपु० संधि २१

उदाहरण—जंपाणहि विविहविमाणहि णिहिलु णहंगणु छाइयउ ।
वेंभइए णवपावइए महु णिव्वायवि जोइयउ ।
(मपु० २१।७)

(८०) पाद-योजना ८+७+१२

प्रयोग—मपु० संधि २४

उदाहरण—भवसंचरिउ पडिउद्धरिउ वहुपयारु परउंकिउ ।
णरवइसुयइ सुललियभुयइ कोस सहियवउ वंकिउ ।
(मपु० २४।३)

(८१) पाद-योजना ९+७+११

प्रयोग—मपु० संधि ३

उदाहरण—जय मंथरगामि तिहुयणसामि एत्तिउ मग्गिउ देहि ।
जहिं जम्मु ण कम्मु पाउ ण धम्मु तहु देसहु मइं णेहि ।
(मपु० ३।१६)

(८२) पाद-योजना ९+७+१२

प्रयोग—मपु० संधि २५, ५२, ५५ ।

उदाहरण—चवलरहल्लिचलु फुल्लियकमलु तहिं सरवरु अवलोइउ ।
णं रायहु महिए आयइ सहिए अग्घवत्तु उच्चाइउ ।
(मपु० २५।११)

(८३) पाद-योजना १०+८+१२

प्रयोग—मपु० ७, १२, १६, ३४, ३६, ८६, ९५, तथा ९९
णाय० संधि ४

इस घत्ता छंद के लक्षण छंद प्रभाकर (पृ० ७२) में दिये हुए चवपैया के लक्षणों के अनुरूप ही हैं, केवल अंतर इतना है कि चवपैया के अन्त में गुरु का होना अनिवार्य है। कवि ने इन छंदों में उस नियम का पालन नहीं किया है।

उदाहरण—करिखंभविहत्थउ हणणसमत्थउ पहरइ वालसहोयरु ।
णं तुलियगयासणि भडचूडामणि कुरुवलि भमइ विओयरु ।
(णाय० ४।१०)

(८४) पाद-योजना १०+८+१३

प्रयोग—मपु० संधि ४०, ४४, ७१ तथा ७८
णाय० संधि ८ तथा जस० संधि १,४ ।

उदाहरण—मज्झिमगेवज्जहि संभवसेज्जहि चंदकुंदसणिहरुहरु ।
भद्दामरमंदिरि णयणाणंदिरि संजायउ अहमिंदु सुरु ।
(मपु० ४४।२)

(८५) पाद-योजना १०+८+१४

प्रयोग—मपु० संधि १४

उदाहरण—बोल्लिउ उरगइणा विसहरवइणा कि पाडमि गहणक्खत्तइं ।
कीलियसुरवरहो गाणससरहो णिल्लूरमि कि सयवत्तइं ।
(मपु० १४।८)

(८६) पाद-योजना १२+८+१२

प्रयोग - मपु० संधि १

उदाहरण—जणमणतिमिरोसारण मयतरुवारण णियकुलगयणदिवायर ।
भो भो केसवतणुरुह णवसररुहमुह कव्वरयणरयणायर ।
(मपु० १।४)

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि कवि का छंद-विधान उसके काव्य के अनुरूप ही विशाल है। उसने अपने समय में प्रचलित लगभग हर प्रकार के छंदों का प्रयोग किया है, इसका अनुमान स्वयंभू की छंद-रचना को देखकर किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त कवि ने विभिन्न छंदों की सहायता से कितने ही नवीन छंदों का निर्माण करके अपने काव्य को और अधिक कलापूर्ण एवं आकर्षक बनाये का यत्न किया है।

कवि की एक उल्लेखनीय विशेषता यह भी है कि उसने विभिन्न स्थलों पर प्रयुक्त होने वाले एक ही विषय को अनेक रूपों में रखकर, वर्णन की एकरूपता का बहुत कुछ परिहार कर दिया है। इसके प्रमाण में चौबीस तीर्थंकरों के स्तवन तथा उनकी माताओं द्वारा देखे जाने वाले स्वप्नों के वर्णन द्रष्टव्य हैं। यही नहीं उसने वर्णनीय विषय के भाव के अनुरूप ही छंद का चयन करके उसे पूर्ण रसात्मक बना दिया है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि पुष्पदंत की इन विशेषताओं ने भी उन्हें अपभ्रंश का श्रेष्ठ कवि बनाने में पर्याप्त सहायता दी है।

कवि की भाषा की कतिपय विशेषताएँ

अपभ्रंश भाषा की जिन विशेषताओं का उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं,[1] प्रायः वे सभी स्वयंभू, पुष्पदंत आदि कवियों की भाषा में प्राप्त होती हैं। अतः यहां हम उनकी पुनरावृत्ति न करके केवल अपने आलोच्य कवि की भाषा की विशिष्ट प्रवृत्तियों का ही विवेचन करेंगे।

साहित्यदर्पण के अनुसार रस को उत्कृष्ट बनाने वाले गुण, रीति तथा अलंकार हैं।[2] इनमें गुण ही रस के धर्म माने जाते हैं। अतः उनका स्थान अलंकार से

---

(१) देखिए ऊपर पृ० १५-१८

(२) काव्य-दर्पण पृ० ३९९

श्रेष्ठ है। भोज, दण्डी, वामन आदि आचार्य गुण-युक्त काव्य को ही उत्तम मानते हैं।[1] माधुर्य, ओज तथा प्रसाद—ये तीन ही मुख्य गुण हैं। माधुर्य की स्थिति शृंगार, करुण तथा शान्त रसों में होती है। वीर, रौद्र एवं वीभत्स में ओज गुण प्रधान होता है। इसके द्वारा चित्त उद्दीप्त होता है। द्वित्ववर्ण, टवर्ग, दीर्घ समासादि इसके व्यंजक माने जाते हैं। प्रसाद गुण प्रायः सभी रसों में हो सकता है। कवि की रचनाओं में, रसात्मक प्रसंगों के अनुकूल उक्त तीनों गुण प्रचुर मात्रा में देखे जा सकते हैं। यहाँ उनका एक-एक उदाहरण देना पर्याप्त होगा।

माधुर्य— णं पेम्मसलिलकल्लोलमाल, णं मयणहु केरी परमलील।
णं चिंतामणि संदिण्णकाम, णं तिजगतरुणिसोहग्गसीम।
णं रूवरयणसंघायखाणि, णं हिययहारि लायण्णजोणि।
(मपु० २०।६।१-३)

ओज—तेण दुंछिओ हरो णृविडमुंडखंडणे, किं वहूहिं किंकरेहिं मारिएहिं भंडणे।
होइ भू हए णिवे ण बुज्झसे किमेरिसं, एहिकट्ठधिट्ठदुट्ठपेच्छमज्झ पोरिसं।
केसरिव्व दुद्धरो करग्गणक्खराइओ, सो वि तस्ससंमुहो समच्छरो पधाइओ।
(मपू० ८८।१४।३-५)

प्रसाद — ताराहारावलि पविमलेहिं, सतुसारखीरसायरजलेहिं।
कलहोयकलसकविलियकरेहिं, तहु पयजुयलउ सिंचिउ सुरेहिं।
तप्पायधोयसलिलेण सित्त, तहिं हूई सुरवरसरि पवित्त।
हिमवंतपोमसरवरपसूय, अज्जु वि जणु मण्णइ तित्थभूय।
(मपु० ३६।१६।१-४)

काव्य में विषय के अनुरूप शब्दों की योजना आवश्यक होती है। शास्त्रीय भाषा में इसी को रीति कहते हैं। वर्णनीय विषयों की विभिन्नता के कारण रीतियाँ भी अनेक हो सकती हैं। साहित्याचार्यों ने इनका वर्गीकरण देश-विदेश में प्रचलित रचना-प्रणाली के अनुरूप किया है। इस प्रकार वैदर्भी, गौड़ी तथा पांचाली-ये तीन प्रसिद्ध रीतियां मानी गई हैं। इन्हीं को वृत्ति भी कहते हैं, जिनके क्रमशः नाम है— उपनागरिका, परुषा तथा कोमला। स्पष्ट है कि नादाभिव्यंजक वर्णों की विशिष्टता के आधार पर ही वृत्तियां निश्चित की गई हैं। नीचे हम कवि के काव्य से इनके कुछ उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं।

---

(१) काव्य-दर्पण पृ० ४००

वैदर्भी अथवा उपनागरिका वृत्ति—

मधुर वर्णों की ललित पद रचनाएँ इसके अन्तर्गत आती हैं। ऋषभ के केवल ज्ञान उत्पन्न होने के अवसर पर कवि का वर्णन देखिए—

दंति दंति सर सरि सरि पोमिणि, पोमिणि जा तुसाविरगोमिणि।
पोमिणियहि पोमिणियहि पोमइं, तोस दोण्णि छहयणरवरम्मइं।
णलिणि णलिणि तेत्तियइं जि पत्तइं, णावइ जिणवरलच्छिहिणेत्तइं।
पत्ति पत्ति एक्केक्की अच्छर, णच्चइ हावभावरसकोच्छर।
(मपु० ६।१८।३-६)

गौड़ी अथवा परुषा वृत्ति—

ओज प्रकाशक वर्णों से पूर्ण रचना को गौड़ी रीति अथवा परुषा वृत्ति कहते है। राम-रावण युद्ध के निम्नलिखित दृश्य में ओज-पूर्ण शब्दावली प्राप्त होती है—

तहिं रणवमालि	गुरुदंतरालि।
णिट्ठवियदुट्ठु	इंदइ पइट्ठु।
णं जलियजाल	णं विज्जुमाल।
कयआहवेण	तहु राहवेण।
सरकरपवट्ठु	दट्ठोट्ठु रुट्ठु।
ता कुद्धएण	धूमद्धएण।
चलजलहरेण	वरितियसरेण।
धगधगधगंति	उम्मुक्क सत्ति।

(मपु० ७८।६।६-१६)

पांचाली अथवा कोमला वृत्ति—

इसमें पंचम वर्ण प्रधान होते हैं। एक स्वप्न का वर्णन देखिए—

पेमभेंभला चला णिरंतरं वियारिणो, कीलमाणया महासरंतरे विसारिणो।
वारिवारपूरियं सरोरुहेहिं अंचियं कुंभजुम्मयं पवित्तचंदणेण चच्चियं।
पंकयायरो चलंतलच्छिणेउरारवो, णीरघुम्मिरो तरंगभंगुरो महण्णवो।
सीहमंडियासणं रणंतकिंकिणीसरं, इंदमंदिरं वरं महाफणीसिणो घरं।
(मपु० ५३।५।६-६)

कवि के काव्य-क्षेत्र में पदार्पण करने के समय यद्यपि अपभ्रंश का ही युग था, फिर भी संस्कृत का मान विद्वत्समुदाय में विशेष रूप से था। यही कारण है कि अपभ्रंश काव्यों पर संस्कृत की छाया स्पष्ट दिखाई देती है। स्वयंभू तथा पुष्पदंत दोनों ही कवियों के काव्यों में संस्कृत की समास-युक्त भाषा शैली के प्रचुर स्थल देखे जा सकते हैं।

इस संबंध में पुष्पदंत का एक उदाहरण देना उचित होगा—

वंभंडमंडवारुढकित्ति, अणवरयरइयजिणणाहभत्ति ।
सुहतुंगदेवकम कमलभसलु, णीसेसकलाविण्णाण कुसलु ।
पाययमइकव्वरसावउद्ध, संपीयसरासइसुरहिदुद्ध ।
कमलच्छु अमच्छरु सच्चसंधु, रणभरधुरधरणुग्घुट्ठखंधु ।
सविलासविलासिणिहियथेणु, सुपसिद्धमहाकइकामधेणु ।
(मपु० १।५।१-५)

परन्तु कवि के काव्य में ऐसे स्थल भी कम नहीं हैं, जहां उसकी भाषा आडम्बर-रहित, सरल तथा सुबोध है । मगध-वर्णन का एक अंश देखिए—

जहिं संचरंति वहुगोहणाइं, जव कंगु मुग्ग ण हु पुणु तणाइं ।
गोवालवाल जहिं रसु पियंति, थलसररुह सेज्जायलि सुयंति ।
मायंदकुसुममंजरि सुएण, हयचंचुएण कयमण्णुएण ।
जहिं समयल सोहइ वाहियालि, वाहण पयहय वित्थरइ धूलि ।
(मपु० ११।४।५-८)

कवि की भाषा पर विचार करते हुए हमारा ध्यान उसकी एक अन्य विशेषता की ओर भी जाता है, वह है शब्दों तथा वाक्यांशों की पुनरावृत्ति करके वर्णनीय विषय अथवा दृश्य को अधिक प्रभावोत्पादक बनाना । कवि में यह प्रवृत्ति इतनी अधिक है कि प्रायः प्रत्येक संधि में उसके दर्शन कहीं न कहीं अवश्य होते है । इसके कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं ।

वसुदेव आदि के लिये देवियों के विलाप में हा शब्द की आवृत्ति अनेक बार हुई है—

हा वसुदेव वीर हा हलहर दुम्महदणुयमद्दणा ।
हा हा उग्गसेण गुणगणणिहि हा हा सिसु जणद्दणा ।
हा हा पंडु चंडु किं जायउं, पत्थिववइरु विहुरु संप्रायउ ।
हा हा धम्मपुत्त हा मारुइ, हा हा पत्थ विजयमहिमारुइ ।
(मपु० ८५।७।१-४)

एक अन्य स्थल पर नारी-रूप-वर्णन में काम शब्द की आवृति भी द्रष्टव्य है—

णं कामभल्लि णं कामवेल्लि, णं कामहो केरी रइसुहेल्लि ।
णं कामजुत्ति णं कामवित्ति, णं कामपत्ति णं कामसत्ति ।
(णाय० १।१५।९-१०)

इसी प्रकार अलकापुरी के वर्णन में भी यही विशेषता प्राप्त होती है—

जहिं रिद्धि वि रेहइ पवर का वि जहिं पंगणि पंगणि तोयदावि ।
उग्गयकिंजक्करयंकयाइं, जहिं वावि हि वाविहि पंकयाइं ।

जहिं पंकइ पंकइ हंसु थाइ, जहिं हंसि हंसि कलरव विहाइ ।
जहिं कलरवि कलरवि हयणिमाण, कामेण समप्पिय कामवाण ।
(मपु० २०।७।५-८)

काव्य में अनुरणात्मक तथा ध्वन्यात्मक शब्दों का प्रयोग अपभ्रंश की एक प्रमुख विशेषता है। रासो तथा हिन्दी के वीरगाथा कालीन काव्यों में भी यह प्रवृत्ति प्रचुर मात्रा में प्राप्त होती है। इस प्रकार की शब्दावली द्वारा वर्ण्य विषय की स्वाभाविकता प्रदर्शित करने के साथ ही विभिन्न भावों तथा कार्य-व्यापारों का संश्लिष्ट अर्थावबोध कराने का प्रयत्न किया जाता है।

कवि ने ऐसी शब्द योजना रूप-वर्णन, प्रकृति-चित्रण, युद्ध-वर्णन आदि प्रसंगों में आभूषणों के बजने, पशुओं की बोली तथा वाद्य-यंत्रों एवं अस्त्र-शस्त्रों की ध्वनियों को यथावत् ग्रहण करने के अभिप्राय से रची है। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं—

आभूषण-ध्वनियाँ—

रुणरुंति कडियल किंकिणियउ ।
(णाय० ७।१४ ११)

कणिरणिय सुकिंकिणि णीसणेहिं ।
(मपु० ११।६।४)

ओलंबिय किंकिणि रणझणंतु ।
(मपु० १२।१३।७)

पशुओं की बोलियाँ—

में में में करंतु जिह मेंढउ ।
(मपु० १६।६।१०)

जं गुलुगुलंत चोइय मयंग)
) (मपु० १४।७।३-४)
जं हिलिहिलंत वाहिय तुरंग)

वाद्य-यंत्रों की ध्वनियाँ—

हू हू हुयंताइं वर संखजमलाइं ।
(मपु० १७।३।६)

दककुंदकुंद कयणीसणेण ।
(मपु० ४।१०।६)

दंदंदंदं टिविलाइ उत्तु ।
(मपु० ४।११।३)

णं भासइ तं तं तं भणंतु ।
(मपु० ४।११।४)

कंसालइं तालइं सलसलंति ।
(मपु० ४।११।१०)

मणि घंटा जालहि झणझणहि ।
(मपु० १३।३।५)

अस्त्र-शस्त्रों का संघर्ष तथा युद्ध-वर्णन—

खग्गइं पडिखडियइं खणखणंति, कुंतइं भज्जंतइं कसमसंति ।
अंतइं णिग्गंतइं चलचलंति, लोहियइं झरंतइं सलसलंति ।
चम्मइं लंवंतइं ललललंति, हड्डइं मोडंतइं कडयडंति ।
रुंडइं धावंतइं दडयडंति, मुंडइं णिवडंतइं हुंकरंति ।
डाइणिवेयालइं किलकिलंति ।
(णाय० ४।१५।४-८)

प्रकृति-चित्रण—

तरु कुसुमामोएं महमहंति । (मपु० १२।१।१३)
चहुंदिसु रुणुरुणंति यंदिदिर । (मपु० १६।१२।१४)
अगुझणझणियघणकणं कणिसमगुदिणं जहि चुणंति रिछा ।
(मपु० १६।१३।२)

नगर-वर्णन—

चंद्रपुर के वर्णन में कवि की भाषा विशेष द्रष्टव्य है । यहां एक-एक वस्तु के वर्णन में वोणा को झंकार का अनुभव होता है । देखिए—

जिणवर घर घंटा टणटणंतु, कार्मिणिकर कंकण खणखणंतु ।
माणिक्क करावलि जलजलंतु, सिहरग्गधयावलि ललललंतु ।
ससिमणिणिज्झरजल झलझलंतु, मग्गावलग्गहरि हिलिहिलंतु ।
करिचरण संखला खलखलंतु, रवियंतहुयासण धगधगंतु ।
बहुमंदिरमंडिय जिगिजिगंतु, सद्दलदल तोरण चलचलंतु ।
गंभीर तूर रव समसमंतु, तरुणयवसंतु गिच्चु जि वसंतु ।
(मपु० ४६।२।३-८)

इसी प्रकार कवि की रचनाओं में अन्य स्थल भी प्राप्त होते हैं, जिन्हें विस्तार-भय से यहां उद्धृत करना संभव नहीं है ।

कवि की भाषा पर संस्कृत के प्रभाव की चर्चा हम इसी प्रकरण में अन्यत्र कर चुके हैं । यह प्रभाव केवल समास-शैली तक ही सीमित नहीं है, वरन् कवि की भाषा में हमें शब्दों के तत्सम रूप भी पर्याप्त संख्या में उपलब्ध होते हैं । ये शब्द महापुराण तथा णायकुमार चरिउ में ही अधिकांशतः प्रयुक्त हुए हैं । जसहर चरिउमें उनकी संख्या अत्यल्प है । उस ग्रंथ में तद्भव तथा देशज शब्दों का ही बाहुल्य है । इस प्रकार जसहर चरिउ में जनसामान्य की निकटवर्तिनी भाषा का स्वाभाविक रूप स्पष्ट है ।

कवि की भाषा में प्राप्त होने वाले कुछ तत्सम शब्द इस प्रकार हैं—

भुवन-कमल	(मपु० १।१।१)	गंभीर	(मपु० १।२।४)
चारणावास	(मपु० १।१०।१)	कुंजर	(मपु० ३।१७।५)
वीणारव	(मपु० ७।६।१०)	सलिल	(मपु० ६।२६।५)
गलमराल	(मपु० १५।७।५)	द्रुम	(मपु० १५।२०।३)
दारुण	(मपु० २८।२५।५)	कुंकुम	(मपु० ५२।१४।४)
मृग	(मपु० ५७।२६।४)	उत्तुंग	(मपु० ५६।६।१३)
प्रिय	(मपु० ८२।१।११)	कलरव	(णाय० १।६।१०)
मनहारिणि	(णाय० ५।१३।६)	चरणारविंद	(मपु० ३८।६।१)
सरिसलिल	(जस० २।३०।८)	पवल, समीर	(जस० ३।१)

इसके अतिरिक्त कवि की भाषा में अनेक तद्भव, देशज आदि शब्द ऐसे हैं, जो हिन्दी में आज भी सामान्यतः प्रयोग किये जाते हैं। कुछ शब्द देखिए—

जस (यश)	मपु० १।५।६	भुक्कउ (भूंकना)	मपु० १।८।७
मोर	मपु० १।१६।७	सेल	मपु० ४।१।११
कप्पड (कपड़ा)	मपु० ८।७।६	सेड (सेड़ा)	मपु० ५।२२।३
जेंवइ (जीमना)	मपु० १८।७।११	जोक्खइ (तौलना)	मपु० ४।५।५
टक्कर	मपु० ३१।१६।४	डर (भय)	मपु० २५।८।६
तोंद (पेट)	मपु० २०।२३।३	मेंढअ (मेंढक)	मपु० १६।६।१०
साडी (साड़ी)	मपु० १२।५।३	अम्मा (माता)	मपु० ३।६।१६

णाय० में—

कण्णाउज्ज (कन्नौज)	५।२।११	कोट्टल	२।६।७
खेत्त (खेत)	१।१३।६	णच्च (नृत्य)	१।७।१
णिसेणी (सीढ़ी)	२।३।१०	पल्लंक (पलंग)	२।७।४
वइट्ठ (वैठना)	१।१२।१	वहिणि	७।१५।२
भत्तार (भतार, पति)	५।१२।१	माम (मामा)	७।६।१
माय-वप्प (माँ-बाप)	६।१८।१७	लट्ठि (लाठी)	६।३।४

जस० में—

टोप्पी (टोपी)	१।६।४	अंगुल	१।६।५
खुरुप्प (खुरपा)	३।७।११	एत्थु (पंजाबी-एत्थें)	१।२५।१
पिल्ल (पिल्ला)	३।१३।७	पोट्टलउ (पोटली)	२।२८।७

महापुराण में आये कुछ मराठी भाषा के शब्द भी देखिए—

शब्द	मराठी रूप	
ओरालि (शब्द)	ओरड	५।१।७
कलमलअ (ईर्ष्याजनित खेद)	कलमल, तलमल	३६।२।६
खोल्ल (गंभीर)	खोल	२।१३।८
चंग (उत्तम, पंजाबी-चंगा)	चांग, चांगले	६।४।१४
चिलिव्विल (वीभत्स)	चिडवीड	२०।१०।११
तंडअ (समूह)	तांडा	१६।२२।८
तुप्प (घृत)	तूप	२६।१।५
पोट्ट (उदर, हिन्दी-पेट)	पोट	६।८।१५

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि को भाषा पर पूर्ण अधिकार था। वह अपने विशाल शब्द-भाण्डार से अवसर के अनुकूल शब्दों का चयन करके वर्णनीय विषय को प्रभावशाली बनाने में पूर्ण दक्ष है।

कवि की भाषा-शैली के अनेक रूप हमें उपलब्ध होते हैं। वह जहाँ भी प्राचीन परंपरा की अलंकृत शैली का अनुगमन करता है, वहाँ उसकी भाषा क्लिष्ट तथा समास प्रधान हो जाती है, परन्तु उससे हटकर जहाँ वह कल्पना के उन्मुक्त वातावरण में विचरण करता है, वहाँ भाषा के सहज सौंदर्य के दर्शन होते हैं।

धार्मिक सिद्धान्तों के प्रतिपादन में पारिभाषिक शब्दावली के कारण भाषा में और भी दुरूहता तथा शुष्कता आ जाती है। यदि ऐसे स्थल विस्तारपूर्ण हुए तब तो चित्त ऊबने सा लगता है, परन्तु रूप-चित्रण आदि के प्रसंगों में कवि की भाषा का अनुपम सौंदर्य विकसित हुआ है। वहाँ विभिन्न अलंकारों तथा विविध प्रकार के छन्दों के द्वारा कवि की काल्पनिक अनुभूति का प्रकाशन अत्यन्त सुन्दर रूप में हुआ है। शब्दों के निर्वाचन में पद-मैत्री तथा ध्वनिसाम्य का भी वहाँ विशेष ध्यान रखा गया है। सुसंस्कृत, परिमार्जित तथा मधुर भाषा के सुन्दर उदाहरण भी वहीं प्राप्त होते हैं। इससे भी अधिक भावना तथा कल्पना का मनोहर संयोग हमें वहाँ प्राप्त होता है जहाँ कवि अपने आराध्य तीर्थङ्करों का वर्णन करता है। ये स्थल कवि की सुरुचि, प्रतिभा तथा सजगता का पूर्ण आभास देते हैं।

देश, स्थान तथा घटनाओं के चित्रण में कवि की भाषा प्रवाहमयी एवं व्यावहारिक हो कर सहज रोचकता प्रदान करती है। इसी प्रकार भावात्मक प्रसंगों में उसकी भाषा और भी अधिक ललित तथा संवेदनशील बन जाती है। इस प्रकार विविध शैलियों द्वारा कवि के संपूर्ण व्यक्तित्व का प्रकाशन उसकी रचनाओं में हुआ है।

———

अध्याय

१० | पुष्पदंत तथा अन्य जैन कवि

पुष्पदंत की काव्य-कला का विवेचन करने के उपरान्त, हम प्रस्तुत अध्याय में उनके साथ अन्य जैन कवियों का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए, यह देखने का प्रयास करेंगे कि कवि अपने पूर्ववर्ती कवियों से किस प्रकार प्रभावित हुआ है तथा उसके परवर्ती कवियों ने उसका किन-किन रूपों में अनुसरण किया है।

पुष्पदंत के पूर्ववर्ती अनेक जैन कवि हुए हैं, जिन्होंने संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाओं में अपने ग्रंथ रचे हैं। इनमें विमलसूरि, चतुर्मुख, जिनसेन तथा स्वयंभू के नाम उल्लेखनीय हैं।

इन कवियों में से प्रथम दो कवियों का कोई सीधा प्रभाव कवि पर परिलक्षित नहीं होता। चतुर्मुख का स्मरण अवश्य ही कवि ने महापुराण के दो स्थलों पर स्वयंभू के साथ किया है, जिसका उल्लेख हम अन्यत्र कर चुके हैं।[1] इससे अनुमान होता है कि पुष्पदंत उनके ग्रन्थों, विशेष रूप से उनके पउम चरिउ से किसी न किसी रूप में अवश्य प्रभावित हुए हैं, परन्तु उनके किसी भी ग्रन्थ के उपलब्ध न होने के कारण, इस विषय पर कुछ भी कहना संभव नहीं है।

अब हमारे सम्मुख दो कवि जिनसेन तथा स्वयंभू शेष रह जाते हैं। इन कवियों के महापुराण तथा पउम चरिउ के उल्लेख इस शोध-प्रबन्ध के अंतर्गत अनेक स्थलों पर हुए हैं। पुष्पदंत पर इनका पर्याप्त प्रभाव परिलक्षित होता है। निम्नलिखित पंक्तियों में हम इसका संक्षिप्त विवेचन करेंगे।

पुष्पदंत ने महापुराण के अंत में जिनसेन तथा उनके गुरु वीरसेन के स्पष्ट उल्लेख किये हैं—

जिणसेणेण वीरसेणेण वि   जिणसासणु सेविवि मय ते ण वि

(मपु० १०२।१२।३)

---

(१) देखिए ऊपर पृ० २१

ग्रंथारम्भ में भी अपनी लघुता प्रदर्शित करते हुए उन्होंने धवला तथा जयधवला नामक सिद्धान्त ग्रंथों के नाम लिये हैं—

णउ वुज्झिउ आयमु सद्दधामु, सिद्धंतु धवलु जयधवलु णामु। (१।९।८)

इनमें धवला के रचयिता वीरसेन तथा जयधवला के जिनसेन हैं।[१]

इससे प्रकट होता है कि पुष्पदंत इन दोनों विद्वानों से पूर्णतः परिचित थे। जयधवला के पश्चात् जिनसेन का प्रसिद्ध ग्रंथ महापुराण है। परीक्षण करने पर ज्ञात होता है कि कवि के महापुराण का आधार यही ग्रन्थ है। परन्तु मूल कथानक को ग्रहण करने पर भी कवि घटना-क्रम का नियोजन अपने ही ढंग पर करता है। यही नहीं, कथा-वस्तु के अनेक अंशों को वह या तो अनावश्यक समझकर छोड़ देता है अथवा उनमें आवश्यकतानुसार संकोच या विस्तार कर देता है अथवा भाव-पूर्ण प्रसंगों में कथा को विराम देकर अपनी कल्पना के सुन्दर चित्रों को सम्मिलित कर देता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि जहाँ भी आधार ग्रंथ की रूपरेखा से हटता है, वहाँ वह अपनी कला का प्रदर्शन ही करता है।

कवि द्वारा किये गये परिवर्त्तन इस प्रकार हैं—

जिनसेन के महापुराण में ७६ पर्व तथा १९२०७ अनुष्टुप् श्लोक हैं, जबकि पुष्पदन्त का महापुराण १०२ संधियों तथा २७१०७ अर्द्धालियों में समाप्त हुआ है। इससे प्रकट होता है कि कवि ने संपूर्ण कथानक में इच्छानुसार विस्तार किया है।

पुष्पदंत के आदिपुराण का कथानक कुलकरों की उत्पत्ति (संधि २) तक तो लगभग जिनसेन के आदिपुराण के अनुरूप चलता है, परन्तु उसके पश्चात ही वे, जिनसेन द्वारा वर्णित ऋषभ के पूर्व-जन्मों की कथाओं को छोड़ कर, सीधे उनके वर्त्तमान जन्म की मुख्य कथा का वर्णन करने लगते हैं और इस प्रकार छोड़ी हुई कथा को वे आगे सन्धि २० से २७ तक स्वयं ऋषभ के मुख से कहलाते हैं।

इस प्रकार कथानक के क्रम में परिवर्त्तन करने का कारण संभवतः यह है कि कवि, ऋषभ के पूर्व-जन्मों को अपेक्षाकृत कम रुचिकर कथाओं में श्रोता या पाठक को उलझाये रखने की अपेक्षा, आरम्भ से ही मुख्य कथानक की ओर उनका ध्यान केन्द्रित रखना चाहता है। इससे ग्रंथ की प्रभावकता एवं रोचकता और बढ़ जाती है।

---

(१) धवला, पुष्पदंत तथा भूतवलि मुनि द्वारा रचित षट्खण्डागम के ५ खंडों की व्याख्या है। इसमें ७२००० श्लोक हैं। जयधवला के २०००० श्लोक वीरसेन ने ही रचे थे, परन्तु बीच में ही उनकी मृत्यु हो जाने पर उनके शिष्य जिनसेन ने शेष ४०००० श्लोक रचकर उसे पूर्ण किया। ये दोनों ग्रंथ राष्ट्रकूट अमोघवर्ष (प्रथम) के राज्य-काल में लिखे गये थे। इसी प्रकार जिनसेन के महापुराण को, उनकी मृत्यु के पश्चात् गुणभद्र ने पूर्ण किया।

कवि के वस्तु-विन्यास के अंतर्गत वे स्थल भी द्रष्टव्य हैं जहाँ उसने आवश्य-कतानुसार आधार ग्रंथ के प्रसंग विशेष के वर्णन में संकोच, विस्तार अथवा सर्वथा नवीन वर्णन किये हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि कवि ने उन प्रसंगों पर विशेष दृष्टि रखी है जहाँ उसकी काव्य-प्रतिभा को स्वतंत्र रूप से विकसित होने की कुछ भी संभावना रही है। ऐसे कुछ स्थल इस प्रकार हैं—

धरणेन्द्र द्वारा नमि-विनमि को वैताढ्य पर्वत के प्रदेश दिये जाने के प्रसंग में जिनसेन ने उसके वन, प्रान्त, नगरादि का वर्णन पर्व १८।१४६-२०६ तथा १९।१-१९० के अंतर्गत किया है, परन्तु कवि ने यही वर्णन केवल सन्धि ८ के १० से १४ तक के पाँच कड़वकों में किया है।

भरत के दिग्विजय-प्रयाण की प्रस्तावना में जिनसेन शरद् ऋतु का वर्णन (पर्व २६।४-५६) लगभग ५४ पंक्तियों में करते हैं। पुष्पदंत ने इसी को केवल १४ पंक्तियों (संधि १२।१) में प्रस्तुत किया है। इसी प्रसंग में जिनसेन, भरत द्वारा मार्ग में देखे गये वन, ग्रामादि के वर्णन (पर्व २६।९४-१२७) ३४ पंक्तियों में करते हैं। कवि के ग्रन्थ में वही ७ पंक्तियों में प्राप्त होता है। पुनः दिग्विजय के उपरान्त कैलाश पर जिन-दर्शन के लिये भरत के गमन प्रसंग में जिनसेन, पर्वत, समवसरण, स्तुति आदि का वर्णन १९० पंक्तियों में करते हैं, (पर्व ३३।११-२०१)। पुष्पदंत यही वर्णन अत्यन्त कलात्मक ढंग से ५२ पंक्तियों में करते हैं, (मपु० संधि १५।१६।२-५ से १५।२४ तक)।

इसके अतिरिक्त भरत द्वारा ब्राह्मणों की रचना करने के प्रसंग में जिनसेन ने पर्व ३८।२४-३१३, ३९।१-१११, ४०।१-२२३ में) उनकी क्रियाओं आदि का जो वर्णन ६२४ पंक्तियों में किया है, पुष्पदंत ने इसे अनावश्यक ठहरा कर केवल २३ पंक्तियों में (संधि १६।६-७) उनके लक्षणों का उल्लेख कर दिया है।

इससे प्रकट होता है कि पुष्पदंत ने आधार ग्रंथ के अनावश्यक विस्तार वाले स्थलों को छोड़कर, काव्य के उपयुक्त अथवा सरस स्थलों को ही अपने ग्रंथ में स्थान दिया है। कवि ने आधार ग्रंथ के निम्नलिखित स्थलों को बिलकुल ही छोड़ दिया है—

पर्व २७।८६-१०५ का मध्याह्न-वर्णन।

पर्व २८।१६८-२०२ का समुद्र वर्णन।

पर्व २९।१-१६३ का भरत द्वारा अनेक देश के राजाओं को जीतने का वर्णन।

पर्व ३७।८९-१४२ में वर्णित भरत की रानी सुभद्रा का नख-शिख।

अब हम पुष्पदंत के कतिपय उन प्रसंगों का उल्लेख करेंगे जिनमें उनको अपनी काव्य-कला के प्रदर्शन का समुचित अवसर प्राप्त हुआ है, परन्तु जिन्हें जिनसेन ने या तो अपने ग्रन्थ में स्थान ही नहीं दिया अथवा केवल संकेत मात्र कर दिया है—

ऋषभ-जन्म—जिनसेन द्वारा पर्व १३।२-३ में उल्लेख मात्र। पुष्पदंत का संधि ३।८।४-१० में अलंकृत वर्णन।

नीलंजसा की मृत्यु—जिनसेन ने इसका उल्लेख करके, इन्द्र द्वारा एक अन्य नर्तकी को उपस्थित करके नृत्य पूर्ववत् होते रहने का वर्णन किया है (पर्व १७।७-१०)। पुष्पदंत यहाँ संगीत के अनेक भेदों का वर्णन करते हुए, नर्तकी की मृत्यु का करुण वर्णन करते हैं। (मपु० ६।६)

धरणेन्द्र का भूमि से प्रकट होना—जिनसेन द्वारा संकेत मात्र। पुष्पदंत द्वारा अत्यन्त ओजस्वी वर्णन (मपु० ८।७)।

इसी प्रसंग में निम्नलिखित वर्णन विशेष द्रष्टव्य हैं—

मपु० १३।७ तथा १३।८ में सिन्धु नदी तथा दिवा-रात्रि की संधि का सुन्दर वर्णन है। जिनसेन के ग्रंथ में यह नहीं है।

मपु० १६।१-३ में विजयी भरत के अयोध्या-आगमन पर नर-नारियों के अपार हर्ष तथा उनके चक्र के नगर में प्रवेश न करने के सुन्दर अलंकृत वर्णन है। जिनसेन ने इसका सामान्य रूप से संकेत ही किया है।

मपु० १७।१ में भरत का रौद्र रूप १७।२ में नारियों की वीर-भावना तथा १७।४-६ में बाहुबलि के रोष एवं युद्ध वीरों के कथन हैं। इस सम्पूर्ण प्रकरण में उत्साह का सुन्दर चित्रण हुआ है। जिनसेन के ग्रंथ में इनका पूर्ण अभाव है।

मपु० १८।२-५ के अन्तर्गत भरत-बाहुबलि की आत्म-ग्लानि के उत्कृष्ट वर्णन तथा भ्रातृ-भावना के मार्मिक उद्गार हैं। जिनसेन ने पर्व ३६।७०-१०४ में बाहुबलि के वैराग्य का वर्णन तो किया है, परन्तु पुष्पदंत की भाँति वे इस प्रसंग को रसात्मक न बना सके।

मपु० २२।६ में श्रीमती के विरह का भाव-पूर्ण चित्रण है। जिनसेन ने दो पंक्तियों में इसका उल्लेख मात्र किया है। (पर्व ८।९१-९२)

मपु० ५०।३ में विश्वनंदि की उपवन-क्रीड़ा का चारु चित्रण है। संधि ५१-५२ में त्रिपृष्ठ द्वारा सिंह-वध तथा उसके साथ हुए हयग्रीव के भीषण संग्राम के वर्णन हैं। जिनसेन के ग्रंथ में ये वर्णन नहीं मिलते।

इसी प्रकार मपु० ६५।२० में वर्णित रेणुका के विलाप का वर्णन भी जिनसेन के महापुराण में नहीं है।

उपर्युक्त प्रसंगों के अतिरिक्त पुष्पदंत के ग्रंथ में अनेक अन्य स्थल भी देखे जा सकते हैं, जिनका विस्तार आधार ग्रंथ में न होते हुए भी, कवि द्वारा वे सुन्दर भाव-चित्रों से सजा कर प्रस्तुत किये गये हैं।

इस विवेचन का निष्कर्ष यह है कि कवि, जिनसेन के महापुराण को आधार मानता हुआ भी उसका अंधानुकरण नहीं करता। वह अपनी कल्पना को

अबाध रूप से विचरण करने का पूर्ण अवसर देता है जिसके फलस्वरूप उसकी काव्य-कला के अत्यन्त उत्कृष्ट दर्शन होते हैं। यही उसकी मौलिकता है।

स्वयंभू तथा पुष्पदंत

इन दोनों कवियों को अपभ्रंश के मूर्धन्य कवि होने का गौरव प्राप्त है। दोनों ही बरार प्रान्त के निवासी माने जाते हैं।[1] दोनों की काव्य-कला का विकास कन्नड़ भाषी प्रदेश (राष्ट्रकूट साम्राज्य) में हुआ। परन्तु दोनों के व्यक्तिगत जीवन में आकाश-पाताल का अन्तर है। स्वयंभू एक सुखी तथा सम्पन्न गृहस्थ थे। उनकी पत्नियां भी विदुषी थीं, जो उनके काव्य-लेखन में सहायता देती थीं।[2] उनका पुत्र त्रिभुवन भी विद्वान् कवि था। समाज में वे एक सम्मानित विद्वान् के रूप में प्रसिद्ध थे। इसके विपरीत जीवन-पथ पर एकाकी यात्रा करने वाले पुष्पदंत थे। उनके समान स्वयंभू के जीवन में न तो कटुता थी, और न जीवन के अभाव ही थे। स्वयंभू को उपयुक्त आश्रयदाता की खोज में एक स्थान से दूसरे तक भटकना भी नहीं पड़ा। यही कारण है कि जहां स्वयंभू के काव्य में भोग विलास, क्रीड़ा आदि के विस्तृत वर्णन प्राप्त होते हैं, वहां पुष्पदंत संसार की असारता तथा मानव जीवन की क्षण-भंगुरता पर लम्बी वक्तृता देते हुए एवं स्थल-स्थल पर खल-संकुल समाज की भर्त्सना करते हुए पाये जाते हैं। उनके अभावों का जो मार्मिक चित्रण उनके काव्य द्वारा हमें प्राप्त होता है, स्वयंभू में उसका लेशमात्र भी नहीं है।

इस प्रकार जीवन की दो विभिन्न धाराओं में संतरण करने वाले इन कवियों की भावनाओं में जो अन्तर है, वह उनके काव्य में पूर्णरूप से प्रतिफलित हुआ है। दोनों के धार्मिक विश्वासों में भी अन्तर है। स्वयंभू यापनीय मत के अनुयायी हैं, और पुष्पदंत दिगम्बर मत के। यही कारण है कि पुष्पदंत के सम्मुख अपभ्रंश के अन्य ग्रंथों के साथ स्वयंभू का पउम चरिउ होते हुए भी, उन्होंने जिनसेन का कथानक ग्रहण किया। परन्तु उनकी रचना-शैली तथा काव्य के कला-पक्ष पर स्वयंभू का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है।

अपभ्रंश की संधि-कड़वक शैली के जन्मदाता चतुर्मुख माने जाते हैं।[3] स्वयंभू के काव्य में इसका व्यवस्थित रूप मिलता है। पुष्पदंत ने भी उसी शैली का अनुगमन किया है। परन्तु स्वयंभू जहां कड़वक की पाद-संख्या के लिये आठ यमकों के नियम का पालन करते हैं, वहां पुष्पदंत इस विषय में पूर्ण स्वतन्त्रता से काम लेते हैं। उनके

---

(१) पउम चरिउ, भूमिका पृ० ११
(२) वही, छंद संख्या १३-१४ तथा १५।
(३) देखिए ऊपर पृ० २२

काव्य में लम्बे-लम्बे कड़वक इसके प्रमाण हैं। दूसरी ओर जहाँ स्वयंभू संधि के अन्त में अपना तथा अपने आश्रयदाता का नाम अंकित करने में किसी नियम का पालन नहीं करते, वहाँ पुष्पदंत के समस्त काव्य में इसका पालन हुआ है।

स्वयंभू छंद शास्त्र के आचार्य थे। पुष्पदंत ने उनके लगभग सभी छन्दों को अपने काव्य में प्रयुक्त किया है। उनके पद्धड़िया, वदनक, पारणक आदि प्रधान छंदों को पुष्पदंत के काव्य में भी प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ है। इसके अतिरिक्त कड़वक के अंत के अनेक घत्ता छंद भी पुष्पदंत ने उन्हीं के काव्य से ग्रहण किये हैं। परन्तु इस क्षेत्र में उनसे कुछ आगे बढ़ कर, पुष्पदंत कतिपय नवीन छंदों का प्रयोग करके अपनी प्रतिभा का परिचय भी देते हैं। इसके प्रमाणस्वरूप मपु० संधि ५, ६, १५, ३२, ४७, ५१, ६४, ६५ आदि के घत्ता छन्द देखे जा सकते हैं। इनका प्रयोग पउम चरिउ में नहीं हुआ है।

भाषा के क्षेत्र में भी पुष्पदंत ने स्वयंभू का अनुसरण किया है। डॉ० भायाणी ने पउम चरिउ तथा महापुराण के अनेक स्थलों में शब्द, विषय, तुकान्त आदि के साम्य दिखलाते हुए, उनकी एक विस्तृत सूची उपस्थित की है।[1] इसके अतिरिक्त भाषा-साम्य के अन्य स्थल भी प्राप्त होते हैं। उदाहरण के लिये दो-एक स्थल प्रस्तुत किये जाते हैं—

रिट्ठणेमि चरिउ—	महापुराण—
णंदउ सासणु सम्मइ णाहहो णंदउ भवियण कय-उच्छाहहो। १७ (सं० ११२, अंतिम कड़वक)	णंदउ सासणु वीरजिणेसहु (१०२।१३।२)
पउम चरिउ—	णायकुमार चरिउ—
हा पुत्त पुत्त दक्खवहि मुहु हा पुत्त पुत्त कहि गयउ तुहुं (१९।१५।३)	हा पुत्त पुत्त तामरसमुह हा पुत्त पुत्त कि हुयउ तुह। (२।१३।३)

इसके अतिरिक्त दोनों कवियों के काव्य में कहीं-कहीं वर्णन-साम्य भी प्राप्त होता है। यथा—

आत्म-लघुता के उद्गार-(पउम चरिउ १।३, मपु० १।९)।
जहि शब्द से प्रारम्भ होने वाला मगध देश का वर्णन—
(पउम चरिउ १।४, मपु० १।१२)
देवियों द्वारा मरुदेवी की परिचर्या करने का वर्णन—
(पउम चरिउ १।१४, मपु० ३।४)

१—पउम चरिउ पृ० ३१-३६

भरत के चक्र का नगर में प्रवेश न करने का प्रसंग—
(पउम चरिउ ४।१, मपु० १६।२-३)
रावण का विरह-(पउम चरिउ ४२।१०।४-८, मपु० ७३।१९)

इसी प्रकार पुष्पदंत के ऊपर स्वयंभू के प्रभाव का संकेत करने वाले अन्य स्थल भी प्रस्तुत किये जा सकते हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि कवि ने ग्रंथारम्भ में ही स्वयंभू सहित अन्य पूर्ववर्ती कवियों का स्मरण करके इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि उसने उनके काव्य का गंभीर अध्ययन किया था। संभवतः वही अध्ययन उसके व्यक्तित्व का अंग बन गया होगा, जिसके परिणामस्वरूप समान कथानक अथवा प्रसंगों में साम्य प्रतीत होता है। परन्तु इसमें संदेह नहीं कि कवि की अभिव्यक्ति में सर्वत्र उसकी मौलिकता के दर्शन होते हैं।

पुष्पदंत के परवर्ती कवियों में से अनेक ने अपने ग्रंथों में उनका श्रद्धापूर्वक स्मरण किया है।[1] इससे स्पष्ट होता है कि किसी न किसी रूप में कवि का काव्य उनका आदर्श अवश्य बना होगा। परन्तु अभी तक अधिकांश ग्रंथ अप्रकाशित होने के कारण, उन पर पुष्पदंत के प्रभाव का सम्यक् निरूपण संभव नहीं है। फिर भी, अपभ्रंश साहित्य-संबंधी ग्रंथों में कुछ परवर्ती कवियों के काव्य-अंश उपलब्ध होते हैं, जिन पर कवि का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है।[2] कुछ कवियों के काव्य-अंश नीचे प्रस्तुत किये जाते हैं।

मुनि कनकामर (११ वीं शताब्दी)

इनके करकंडु चरिउ काव्य के निम्नलिखित अंश पुष्पदन्त के काव्य-अंशों की भाषा से साम्य रखते हैं—

करकंडु चरिउ—

जहिं दक्खइं भुंजिवि दुह मुयंति थल कमलहिं पंथिय सुहु सुयंति। (१।३।६)	जहिं दक्खामंडवि दुहु मुयंति थल पोमोवरि पंथिय सुयन्ति। (णाय० १।६।६)
जहिं हालिणि रूवणिबद्धणेह (१।३।७)	जहिं हालिणि रूवणिवद्ध णेह (जस० १।२१।७)
मयरहरु झलझलिउ (३।१८।८)	जलही वि झलझलइ (मपु० ३।२०।१८)
सग्गिणी छंद मग्गेण संपत्तया (३।१४।८)	एरिसो छंदओ भणए सग्गिणी (मपु० ११।१०।१३)

---

(१) देखिए ऊपर पृ० ५१

(२) इस विवेचन में अन्य कवियों के काव्य के उद्धरण डॉ० हरिवंश कोछड़ के अपभ्रंश साहित्य नामक ग्रंथ से लिये गये हैं।

यशःकीर्ति (१५ वीं शताब्दी)

इनके हरिवंशपुराण पर कवि का अधिक प्रभाव परिलक्षित होता है। पुष्पदंत की भाँति ही इन्होंने भी अपने ग्रंथ की प्रत्येक संधि के आरम्भ में अपने आश्रयदाता दिउढा की प्रशंसा अथवा मंगल-कामना करते हुए संस्कृत छंदों की रचना की है। हमारे कवि से साम्य रखने वाले इनके काव्य अंश इस प्रकार हैं—

हरिवंश पुराण—	महापुराण—
अइ दुग्गम इउ कउरव पुराणु	अइ दुग्गम होइ महापुराणु (१।६।१३)
को हत्थें झंपइ गयणे भाणु। (१।२)	लइ हत्थें झंपमि णहु सभाणु (१।११।४)
छणयंदहो भुक्कइ सारमेउ (४।१)	भुक्कउ छणयंदहु सारमेउ (१।८।७)
ववगय विवेउ (४।१)	ववगय विवेउ (१।८।३)
किं चमरें उद्धाविय गुणेण (१२।१५)	चमराणिल उड्डाविय गुणाइ (१।४।१)
	णाय०—
णं कामभल्लि णं कामसत्ति (५.८)	णं कामभल्लि १।१५।२)
	णं कामसत्ति (१।१५।३)

इस समस्त विवेचन द्वारा यह स्पष्ट होता है कि पुष्पदंत एक प्रतिभावान कवि थे। उनके पाण्डित्य तथा काव्य-कला का स्तर असाधारण था। इसी कारण समग्र अपभ्रंश साहित्य में उन्हें श्रेष्ठ स्थान दिया गया है। वे अपभ्रंश के प्रथम कोटि के कवि माने जाते हैं। भले ही उनके जीवन-काल में उन्हें उचित सम्मान न प्राप्त हुआ हो, परन्तु उनका विशाल काव्य सदैव उनके गौरव का स्मरण दिलाता रहेगा।

———

परिशिष्ट

अ

त्रिषष्टि महापुरुषों की नामावली

तीर्थङ्कर—

नाम	माता-पिता	जन्म-स्थान
१—ऋषभ	नाभि-मरुदेवी	अयोध्या
२—अजित	जितशत्रु-विजया	अयोध्या
३—संभव	दृढ़-सुषेणा	श्रावस्ति
४—अभिनन्दन	संवर-सिद्धार्था	साकेत
५—सुमति	मेघरथ-मंगला	साकेत
६—पद्मप्रभ	धरण-सुसीमा	कौशाम्बी
७—सुपार्श्व	सुप्रतिष्ठ-पृथ्वीषेणा	वाराणसी
८—चन्द्रप्रभ	महासेन-लक्ष्मणा	चन्द्रपुर
९—सुविधि (पुष्पदंत)	सुग्रीव-जयरामा	काकन्दी
१०—शीतल	दृढरथ-सुनन्दा	राजभद्र (भद्रिला)
११—श्रेयांस	विष्णु-नन्दा	सिंहपुर
१२—वासुपूज्य	वसुपूज्य-जयावती	चम्पा
१३—विमल	कृतवर्मा-जया (श्यामा)	काम्पिल्य
१४—अनन्त	सिंहसेन-जयश्यामा	साकेत
१५—धर्म	भान-सुप्रभा	रत्नपुर
१६—शान्ति	विश्वसेन-अचिरा	हस्तिनापुर
१७—कुन्थु	शूरसेन-श्रीकान्ता	हस्तिनापुर
१८—अर	सुदर्शन-मित्रसेना	हस्तिनापुर
१९—मल्लि	कुम्भ-प्रभावती	मिथिला
२०—सुव्रत	सुमित्र-सोमादेवी	राजगृह
२१—नमि	विजय-वप्पिला	मिथिला
२२—नेमि	समुद्रविजय-शिवा	शौरिपुर
२३—पार्श्व	विश्वसेन-ब्रह्मादेवी	वाराणसी
२४—महावीर	सिद्धार्थ-प्रियकारिणी	कुण्डग्राम

चक्रवर्ती—

नाम	तीर्थ	माता-पिता	जन्म-स्थान
१—भरत	ऋषभ	ऋषभ-यशोमती	अयोध्या
२—सगर	अजित	समुद्रविजय-विजयादेवी	साकेत
३ - मघवान्	धर्म	सुमित्र-भद्रादेवी	साकेत
४—सनत्कुमार	धर्म	अनन्तवीर्य-महादेवी	विनीतपुर
५—शान्ति	शान्ति	विश्वसेन-अइरादेवी	हस्तिनापुर
६—कुन्थु	कुन्थु	शूरसेन-श्रीकान्ता	हस्तिनापुर
७—अर	अर	सुदर्शन-मित्रसेना	हस्तिनापुर
८—सुभौम	अर	सहस्त्रवाहु-विचित्रमति	साकेत
९—पद्म	मल्लि	पद्मनाभ-श्यामा	वाराणसी
१०—हरिषेण	सुव्रत	पद्मनाभ-अइरादेवी	भोगपुर
११—जयसेन	नमि	विजय-प्रभंकरी	कौशाम्बी
१२—ब्रह्मदेव	नेमि	ब्रह्मराज-चूलादेवी	काम्पिल्य

वलदेव, वासुदेव तथा प्रतिवासुदेव

	नाम	वैर-कारण
वलदेव	विजय	....
वासुदेव	त्रिपृष्ठ	स्वयंप्रभा-विवाह
प्रतिवासुदेव	अश्वग्रीव	....
वलदेव	अचल	....
वासुदेव	द्विपृष्ठ	गन्धहस्ती
प्रतिवासुदेव	तारक	....
वलदेव	धर्म	....
वासुदेव	स्वयंभू	कल्पदान
प्रतिवासुदेव	मधु	....
वलदेव	सुप्रभ	....
वासुदेव	पुरुषोत्तम	कल्पदान
प्रतिवासुदेव	मधुसूदन	....
वलदेव	सुदर्शन	....
वासुदेव	पुरुषसिंह	कल्पदान
प्रतिवासुदेव	मधुक्रीड	....
वलदेव	नन्दिषेण	....

वासुदेव	पुण्डरीक	पद्मावती-विवाह
प्रतिवासुदेव	निशुम्भ	....
वलदेव	नन्दिमित्र	....
वासुदेव	दत्त	क्षीरसागर हस्ती
प्रतिवासुदेव	वलि	....
वलदेव	राम (पद्म)	....
वासुदेव	लक्ष्मण	सीता-हरण
प्रतिवासुदेव	रावण	....
वलदेव	वलभद्र	....
वासुदेव	कृष्ण	कंस-वध
प्रतिवासुदेव	जरासंध	....

योग —२७

तीर्थंकर	....	२४
चक्रवर्ती	....	१२
वलदेव	....	६
वासुदेव	....	६
प्रतिवासुदेव	....	६
		६३

श्री

सहायक ग्रंथ-सूची

अपभ्रंश काव्यत्रयी —श्री लालचन्द भगवानदास गान्धी, बड़ौदा, १९२७ ई०

अपभ्रंश पाठावली —श्री मधुसूदन चिम्मनलाल मोदी, १९३५ ई०

अपभ्रंश साहित्य —डॉ० हरिवंश कोछड़, भारतीय साहित्य मंदिर, दिल्ली, १९५६, ई०

आउट लाइन आफ जैन फिलासफी —श्री मोहनलाल मेहता, जैन मिशन सोसायटी, बंगलौर, १९५४ ई०

ओरिजिन एण्ड डेवलपमेंट आफ बंगाली लैंगवेज —डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, कलकत्ता, १९२६ ई०

इण्डियन फिलासफी —डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन, १९५१ ई०

इंडो आर्यन एण्ड हिन्दी —डॉ० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या, १९४२ ई०

इंसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका भाग १२

एंशेण्ट इण्डिया —श्री आर० सी० मजुमदार, बनारस, १९५२ ई०

ऐतरेयोपनिषद् —गीता प्रेस, गोरखपुर

करकंडु चरिउ —मुनि कनकामर कृत, संपादक डॉ० हीरालाल जैन, कारंजा (बरार), १९३० ई०

कलक्टेड वर्क्स आफ आर० जी० भंडारकर, १९२९ ई०

ऋग्वेद —वैदिक संशोधन मण्डल पूना, १९३३-५१

काव्यालंकार —भामह कृत, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी

काव्यालंकार —रुद्रट कृत, नमिसाधु टीका, काव्यमाला सीरीज बम्बई, १९०९ ई०

काव्य प्रकाश —मम्मट, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सं० २००३ वि०

काव्यादर्श —दण्डिन्, भंडारकर ओरियंटल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, १६३८ ई०

काव्य दर्पण —श्री राम दहिन मिश्र, ग्रंथमाला कार्यालय, बांकीपुर, १६४७ ई०

कीर्तिलता —विद्यापति, संपादक डॉ० बाबूराम सक्सेना, प्रयाग, सं० १६८६ वि०

कुमारपाल चरित (सिद्धहेम-शब्दानुशासन संयुक्त) —हेमचन्द्र, संपादक डॉ० परशुराम लक्ष्मण वैद्य, पूना, १६३६ ई०

कुमारपाल प्रतिबोध —सोमप्रभ कृत, सम्पादक मुनि जिन विजय, बड़ौदा, १६२० ई०

केशव कौमुदी भाग १ — सम्पादक लाला भगवान दीन, प्रयाग, सं० २००४

केशवदास —डॉ० हीरालाल दीक्षित, लखनऊ विश्वविद्यालय, सं० २०११

काव्य मीमांसा —राजशेखर कृत, गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज, बड़ौदा, १६२४ ई०

कैटालाग आफ संस्कृत एण्ड प्राकृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन सी० पी० एण्ड बरार, रायबहादुर हीरालाल, नागपुर, १६२६ ई०

गुजरात की हिन्दी सेवा —डॉ० अम्बा शङ्कर नागर, (अप्रकाशित)

चन्द वरदायी —डॉ० विपिन बिहारी त्रिवेदी, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग, १६५२ ई०

छंद प्रभाकर —श्री जगन्नाथ प्रसाद भानु, बिलासपुर, १६३६ ई०

जसहर चरिउ —पुष्पदंत कृत, सम्पादक डॉ० पी. एल. वैद्य कारंजा (बरार), १६३१ ई०

जैन शासन —श्री सुमेरुचन्द्र दिवाकर, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी १६५० ई०

जैन साहित्य और इतिहास —श्री नाथूराम प्रेमी, हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, १६५६ ई०

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश —श्री जुगुल किशोर मुख्तार, वीर शासन संघ, कलकत्ता, १६५६ ई०

णायकुमार चरिउ —पुष्पदंत कृत, सम्पादक डॉ० हीरालाल जैन, बरार, १६३३ ई०

तत्वार्थ सूत्र —उमास्वामी, वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली

दि एज आफ इम्पीरियल कन्नौज —भारतीय विद्या भवन, बम्बई

दि ग्लोरी आफ मगध —श्री जे० एन० समद्दर

दोहा कोश —श्री राहुल सांकृत्यायन, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, १९५७ ई०

नाट्यशास्त्र —भरत मुनि, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, काशी

पउम चरिउ —स्वयंभू कृत, संपादक डॉ० हरिवल्लभ चुन्नीलाल भायाणी, बम्बई सं० २००९

पद्म चरित —रविषेण कृत, माणिकचन्द ग्रंथमाला, बम्बई, १९२८ ई०

पाहुड़ दोहा —सम्पादक डॉ० हीरालाल जैन, बरार, सं० १९९०

पुरातन प्रबन्ध संग्रह —सम्पादक श्री जिन विजय मुनि, कलकत्ता, सं० १९९२

पुरानी हिन्दी —श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं० २००५

पुरुषार्थ सिद्धोपाय —अमृत चन्द्र कृत, आगरा, १९५८ ई०

प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास —डॉ० रांगेय राघव

प्रबन्ध चिंतामणि —मेरुतुंग कृत, सम्पादक श्री जिन विजय मुनि, शान्ति निकेतन, सं० १९८९

प्राकृत पैंगलम् —सं० चन्द्र मोहन घोष, १९००-२ ई०

प्राकृत लक्षणम् —चंड कृत, सं० हार्नले, १८८० ई०

प्राकृत सर्वस्व —मार्कण्डेय

वाल्मीकि रामायण —गीता प्रेस, गोरखपुर

भविसयत्त कहा —सं० चमनलाल डाह्याभाई दलाल तथा डॉ० पाण्डुरंग दामोदर गुणे, बड़ौदा, १९२३ ई०

भारत की प्राचीन संस्कृति —श्री राम जी उपाध्याय

भारतीय दर्शन —डॉ० बलदेव उपाध्याय, बनारस, १९४५ ई०

भावप्रकाशन —शारदातनय, बड़ौदा, १९३० ई०

मध्यकालीन भारतीय संस्कृति —डॉ० गौरीशंकर हीरा चन्द ओझा, प्रयाग १९२८ ई०

महाभारत —गीता प्रेस, गोरखपुर

महाभाष्य —पतंजलि, सं० कीलहार्न, बम्बई १८८०-८६ ई०

महापुराण (भाग १-३) —पुष्पदंत कृत, संपादक डॉ० पी० एल० वैद्य, बम्बई, १९३७-४१ ई०

महापुराण (भाग १-३)— —जिनसेन-गुणभद्र कृत, सं० पन्नालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९४४ ई०

योगसार —जोइन्दु, सं० डॉ० ए० एन० उपाध्ये, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई, १९२७ ई०

राम कथा —डॉ० कामिल बुल्के, प्रयाग विश्वविद्यालय, १९५० ई०

रामचरित मानस —तुलसीदास, रामनारायण लाल, प्रयाग, १९२५ ई०

राष्ट्रकूट्स एण्ड देअर टाइम्स —डॉ० ए० एस० अल्तेकर, ओरियंटल बुक एजेंसी, पूना, १९३४ ई०

रीति काव्य की भूमिका —डॉ० नगेन्द्र, दिल्ली, १९४९ ई०

लिटरेरी सर्किल आफ महामात्य वस्तुपाल — डॉ० भोगीलाल जे० सांडेसरा, बम्बई, १९५३ ई०

वर्ण रत्नाकर —डॉ० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या, १९४० ई०

वाक्य पदीयम् —भर्तृहरि; चौखम्भा संस्कृत सीरीज, बनारस

शुक्रनीति-सार —सं० जे० आपर्ट, मदरास, १८८२ ई०

श्री मद्भगवद्गीता —गीता प्रेस, गोरखपुर

संक्षिप्त पद्म पुराण —गीता प्रेस, गोरखपुर

संदेश रासक —अब्दुल रहमान कृत, सम्पादक श्री जिनविजय मुनि तथा डॉ० भायाणी, बम्बई सं० २००१

समीचीन धर्मशास्त्र —सं० जुगुल किशोर मुख्तार, दिल्ली

साहित्य दर्पण —विश्वनाथ, मृत्युंजय औषधालय, लखनऊ

सिद्ध हेमशब्दानुशासन —हेमचंद्र

सूर-सौरभ — डॉ० मुंशीराम शर्मा, कानपुर, सं० २००६

स्तुति विद्या —समन्तभद्र कृत, सं० पन्नालाल जैन, सहारनपुर १९५०

स्वयंभू स्तोत्र —समन्तभद्र कृत

स्टडीज इन इपिक्स एण्ड पुरान —डॉ० ए० डी० पुसालकर, बम्बई (भारतीय विद्या भवन सीरीज)

हमारी साहित्यिक समस्याएं —डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी

हिन्दी काव्य-धारा —श्री राहुल सांकृत्यायन, प्रयाग, १९४५ ई०

हिन्दी जैन साहित्य परिशीलन —श्री नेमिचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५६ ई०

हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास —डॉ० उदयनारायण तिवारी, भारती भंडार, प्रयाग सं० २०१२

हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग —डॉ० नामवरसिंह, प्रयाग, १९५४ ई०

हिन्दी साहित्य का आदि काल —डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९५२ ई०

हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास —डॉ० रामकुमार वर्मा, प्रयाग, १९४८ ई०

हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास —सम्पादक डॉ० राजवली पाण्डेय, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं० २०१४ (भाग १)

हिन्दी साहित्य की भूमिका —डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, बम्बई, १९४० ई०

हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता —डॉ० वेनी प्रसाद, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग, १९३१ ई०

हिस्टारिकल ग्रामर आफ अपभ्रंश—डॉ० जी० वी० तगारे

हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर —मारिस विंटरनित्ज़, कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९३० ई० (भाग २)

हिस्ट्री आफ इण्डिया (भाग १) —इलियट

पत्र-पत्रिकाएँ

अनेकान्त

आर्कलाजिकल सर्वे रिपोर्ट १९५०-५६

इलाहाबाद यूनीवर्सिटी स्टडीज, १९२५ ई०

इंडियन एण्टीक्वेरी

एनल्स आफ भंडारकर रिसर्च इंस्टीट्यूट

एपीग्रफिका इंडिका

जैन गजट

जैन दर्शन

जर्नल आफ ओरियंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट, बड़ौदा

जर्नल आफ ओरियंटल रिसर्च, मदरास

जर्नल आफ बाम्बे ब्रांच आफ रायल एशियाटिक सोसायटी

नागरी प्रचारिणी पत्रिका

भारतीय विद्या

सह्याद्रि

———

नामानुक्रमणिका

ग्रंथानुक्रमणिका

: समाप्त :